भारतीय शिक्षा-दार्शनिक

कीर्ति देवी सेठ

एम० ए०, एम० एड०, डी० फ़िल०

शिक्षा-विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय
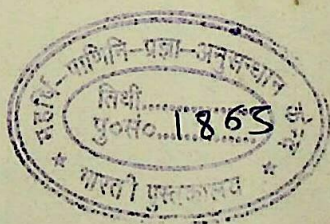
वैदिक प्रकाशन

३४, लूकरगंज :: इलाहाबाद

प्रथम संस्करण

सितम्बर, १९६०

मूल्य ७·००

मुद्रक : द्वारका नाथ भार्गव, भार्गव प्रेस, इलाहाबाद

FOREWORD

I have pleasure in writing a brief foreword to the valuable volume which Dr. (Mrs.) K. D. Seth has brought out. Doctrines of Western Educators have been expounded in clearly written treatises in England, the United States of America and elsewhere; but Great Indian Educators have been neglected so far. Unless we have a thorough understanding of the basic concepts which inspired our great teachers of the past, we shall fail in our endeavours to re-orient our education from the proper Indian view-point. Indian view of life, Indian way of life and Indian culture should be thoroughly understood and assimilated before anyone ventures to put forth plans for Indianising education. A book like Dr. (Mrs.) Seth's, 'Bharatiya Shiksha-Darshanik' comes at the right moment to fill a gap in our educational field. I am confident that this book will be instructive and illuminating not only to the students in the universities but to those who wish to reshape our Educational System.

P. S. Naidu
Head of the Department
Post-Graduate Studies and Research

Vidya Bhavan
Udaipur
July 12, 1960

आमुख

भारत की वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति पाश्चात्य जगत् की देन है। अतः उसमें पाश्चात्य सभ्यता, संस्कृति, जीवन-दर्शन और रीति-नीति का यथेष्ट समावेश होना स्वाभाविक ही है। पाश्चात्य जीवन के मूल में भौतिकतावाद की ही प्रधानता है और प्रत्यक्षरूप से उसके विभिन्न पक्षों के विकास की प्रेरक भावना भौतिकता ही है। ऐहिक सुख समृद्धि की तीव्र लालसा ने पश्चिम को विश्व-विजय की दुर्दयनीय महत्वाकांक्षा को उदीप्त किया और वैज्ञानिक प्रगति ने उसमें और योग दिया। फलस्वरूप पिछले दो महायुद्धों का भयंकर परिणाम यह हुआ कि मानवता की जड़ें हिल गईं। भारत में प्रचलित शिक्षा-पद्धति के मूल में पाश्चात्य जगत् के इसी भौतिकवादी दर्शन की छाप स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। यह पद्धति हमारे देश की आध्यात्मिक संस्कृति के सर्वथा प्रतिकूल है; यह हमें जीवन के उच्च लक्ष्य से विमुख करके घोर पतन की ही ओर ले चलेगी। अतः स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत भारत को ऐसी शिक्षा-पद्धति की आवश्यकता है जिसमें राष्ट्रीय तत्वों की प्रमुखता हो ताकि भारत के प्राचीन गौरव को पुनः प्रतिष्ठित किया जा सके। इतना ही नहीं, वर्त्तमान शिक्षा की नींव एक ठोस जीवन-दर्शन—भारत के आध्यात्मिक दर्शन—के आधार पर खड़ी की जानी चाहिए जिससे कि भारतीय जाति में आत्मविश्वास एवं सुदृढ़ता आ सके और भारत संपूर्ण विश्व को अपनी आध्यात्मिकता का संदेश देकर अपने विशिष्ट एवं निर्दिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति कर सके।

इस उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त यह जानने के लिए कि वे कौन से शिक्षा के तात्विक सिद्धांत हैं जिनको शिक्षा-पद्धति में प्रयोग करने से शिक्षा 'राष्ट्रीय-शिक्षा' कहलायेगी, प्रस्तुत पुस्तक में उन सभी अर्वाचीन शिक्षा-दार्शनिकों के जीवन-दर्शन और शिक्षा-दर्शन का वर्णन किया गया है जिन्होंने भारत के पुनरुत्थान-काल में राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना को उदीप्त करने का अकथनीय प्रयास किया। यह सर्वविदित तथ्य है कि जीवन-दर्शन का शिक्षा-दर्शन से अटूट संबंध है। प्रत्येक दार्शनिक साथ ही साथ शिक्षक भी होता है। यह तथ्य हमारे देश के लिए तो और भी अधिक पूर्ण रूप से चरितार्थ होता है क्योंकि हमारे देश में दर्शन केवल चिन्तन का विषय ही नहीं वरन् जीवन में प्रयोग एवं व्यवहार का विषय भी रहा है। अतः इस पुस्तक में जिन दार्शनिकों का वर्णन किया गया है उनके सिद्धांत कोरे सिद्धांत नहीं हैं वरन् वे व्यवहृत होकर जीवन को उत्कृष्ट बनाने के उपयुक्त साधन हैं।

भारत की दर्शन-परंपरा प्रधानतः आदर्शवादी है। आदर्शवादी सिद्धांतों के परख की

कसौटी है उनकी शाश्वतता और सार्वभौमिकता। अर्वाचीन भारतीय शिक्षा-दार्शनिकों ने यह प्रमाणित किया है कि भारतीय शिक्षा के सिद्धांत आदर्शवादी हैं; वे प्राचीन काल में भी हमारे देश में व्यवहृत रहे हैं और आज भी उसी रूप में व्यवहार्य हैं, केवल युगीन परिस्थितियों के अनुकूल इन सिद्धांतों के पालन के बाह्य साधनों में हेर फेर की जा सकती है; ये सिद्धांत सार्वभौम भी हैं क्योंकि भारतीय होते हुए भी वे प्रत्येक देश व जाति के उत्थान के लिए, यदि उन्हें उपयोग किया जाय, तो सक्षम हैं। इसका कारण है कि भारतीय वेदांत-दर्शन किसी एक विशेष धर्म—हिंदू, मुसलमान, ईसाई आदि—के अनुयायियों को संबोधित नहीं किया गया है। इसका विश्वास उस आत्मा में है जो प्रत्येक मानव में प्रतिबिंबित है। विश्व-शांति और विश्व-एकता आज के युग की पुकार है। भारत की इसी शांतिवादी एवं आदर्शवादी विचारधारा का अनुसरण करने से ही संसार का कल्याण संभव है। इसी भावना से अनुप्रेरित होकर इस पुस्तक की रचना की गयी है।

इस पुस्तक की रचना लेखिका के डी०फ़िल०-थीसिस, 'Idealistic Trends in Indian Philosophies of Education' के आधार पर हुई है। शोधकार्य पूज्य-गुरु, श्री० पी० एस० नायडू की संरक्षता में संपन्न होने के कारण, इस पुस्तक की प्रेरणा का श्रेय उन्हीं को है; पुस्तक की प्रस्तावना लिखकर उन्होंने मुझे अपना आशीर्वाद दिया है। पुस्तक के संबंध में समय-समय पर परामर्श देने के लिए मैं डा० सुबोध अदावाल, अध्यक्ष शिक्षा-विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, तथा अपने साथी-गण कु०—निर्मला हंडू, श्री लक्ष्मी नारायण गुप्ता, कु० शांति जोशी तथा कु० प्रीतिलता अदावाल की हृदय से आभारी हूँ। पाण्डुलिपि के दुहराने में मेरी शिष्या—कु० सुचेत गोयन्दी ने मुझे बहुत सहायता दी है। भाषा-संबंधी सहायता के लिए मैं श्री योगेन्द्र पांडे की अत्यन्त कृतज्ञ हूँ; मुझे अत्यंत खेद है कि इस पुस्तक के प्रकाशन के पूर्व ही अकस्मात् उनका स्वर्गवास हो गया।

मेसर्स गोविंदराम हासानंद, नई सड़क, दिल्ली द्वारा स्वामी दयानंद सरस्वती का चित्र प्राप्त हुआ है, उनकी मैं आभारी हूँ।

कीर्ति देवी सेठ

शिक्षा-विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय
सितम्बर, १९६०

विषय-सूची

स्वामी दयानंद सरस्वती

जीवन और कार्य

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम भाग में भारतीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में पुनरुत्थान और पुनर्जागरण की जो शक्तिशाली लहर आयी, उसने संपूर्ण राष्ट्र को झकझोर कर नये जीवन का संदेश दिया। इस पुनर्जागरण-काल से ही हमारे देश में राष्ट्रीय भावना का प्रसार हुआ, जो उत्तरोत्तर व्यापक और गतिशील होता गया तथा जिसके फलस्वरूप देश में स्वराज्य की स्थापना संभव हो सकी। किंतु यदि इस राष्ट्रीय जागरण के पूर्व के इतिहास का हम अवलोकन करें तो ज्ञात होगा कि इससे पूर्व भी स्वामी दयानंद ने अपने धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक सुधार-आंदोलन द्वारा इस राष्ट्रीय चेतना के विकास का मार्ग प्रशस्त कर दिया था। पाश्चात्य सभ्यता, संस्कृति और जीवन-दर्शन के दुष्प्रभावों से आक्रांत भारतीय जीवन के सम्मुख उन्होंने चिरकाल से विस्तृत वैदिक धर्म एवं संस्कृति का उज्ज्वल आदर्श प्रस्तुत किया, आत्मसम्मान की भावना जागृत की और आधुनिक युग के अनुकूल प्रगति करते हुए भी अतीत से प्रेरणा लेने की चेतना प्रदान की। इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में जब हम स्वामी दयानंद के महान कार्यों का मूल्यांकन करते हैं तो यह कहना पड़ता है कि वह आधुनिक भारत के प्रथम क्रांतिकारी 'ऋषि' थे।

बाल्यकाल और शिक्षा

उन्नीसवीं शताब्दी में गुजरात की भूमि ने दो महापुरुषों—स्वामी दयानंद तथा महात्मा गांधी—को उत्पन्न करने का गौरव प्राप्त किया। इसी प्रांत के मौरवी नामक एक छोटे-से राज्य में एक संपन्न औदीच्य ब्राह्मण-परिवार में सन् १८२४ ई० में स्वामी दयानंद का जन्म हुआ। इनके पिता का नाम कर्षणलाल तिवारी था जो धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। उनका अधिकांश समय शिव की पूजा-आराधना में ही व्यतीत होता था। स्वामी दयानंद का बचपन का नाम मूलजी या मूलशंकर था।

कर्षणजी स्वयं विद्वान ब्राह्मण थे, अतः उन्होंने मूलशंकर की शिक्षा का आरंभ अल्पायु में ही कर दिया। पाँच वर्ष की अवस्था में ही उन्हें संस्कृत के ग्रंथ कंठस्थ कराये गये और वैदिक ग्रंथों का अभ्यास कराया गया। आठ वर्ष की अवस्था में मूलजी का यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। इस समय से मूलजी को पिता के कठोर अनुशासन में रह कर धार्मिक नियमों का पालन करना पड़ा। उनकी माता यह नहीं चाहती थीं कि बालक मूलजी से धार्मिक नियमों और व्रतों का पालन इतनी कठोरता के साथ कराया जाय, अतः इस बात को लेकर कभी-कभी पति-पत्नी में विवाद भी हो जाया करता था। एक सच्चे शिवभक्त होने के कारण कर्षणजी चाहते थे कि उनका पुत्र भी उन्हीं की भाँति भक्त और धार्मिक हो।

चौदह वर्ष की आयु में ही मूलजी ने विधिपूर्वक यजुर्वेद का अध्ययन समाप्त कर लिया और शेष तीन वेदों के कुछ अंशों का भी अध्ययन किया। तदुपरांत उन्होंने संस्कृत-व्याकरण, तर्क आदि की शिक्षा प्राप्त की। मूलजी को उतने अध्ययन से संतोष नहीं हुआ। वह पूर्ण शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे और इसके लिए काशी जाने को इच्छुक थे। मूलजी ने काशी जाकर अध्ययन करने की अपनी इच्छा पिता के सम्मुख प्रगट की। उनके इस विचार से पिता सहमत थे, किंतु ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण माँ का अगाध स्नेह उनके मार्ग में बाधक बना और वह काशी जाने की अनुमति प्राप्त न कर सके। अतः समीप के एक पंडित से उन्होंने शिक्षा प्राप्त की, किंतु अध्ययन का यह क्रम अधिक दिनों तक नहीं चल सका।

ज्ञान-प्राप्ति

व्यावहारिक जीवन के अनुभव के लिए चौदह वर्ष की आयु बहुत कम होती है। सामान्यतः यह किशोरावस्था का काल होता है, किंतु मूलजी के विषय में यह मान्यता सही नहीं है। इतनी अल्पायु में ही सत्य के अन्वेषण की जिज्ञासा उनमें आ गयी थी। उनके मस्तिष्क में मूर्ति-पूजा और जन्म-मरण के विषय में विचार-संघर्ष चलने लगा और इसी विचार-संघर्ष ने उनकी जीवन-धारा को परिवर्त्तित कर दिया। शिवरात्रि हिंदुओं का त्यौहार है। इस दिन सभी हिंदू, विशेषतः शैव, बड़े ही भक्ति-भाव से शिव की पूजा करते हैं। मूलजी के पिता भी शैव थे, अतः मूलजी को भी व्रत रखना पड़ा। शिव की पूजा के लिए मंदिर में जब वह रात्रि-जागरण कर रहे थे तब उन्होंने देखा कि चूहे शिव-मूर्ति पर चढ़ कर, उस पर चढ़ाये गये अक्षत तथा अन्य पदार्थों को खा रहे हैं और मूर्ति पर दौड़ लगा रहे हैं। इस छोटी सी घटना ने बालक मूलजी के मन में मूर्ति-पूजा के विषय में शंका उत्पन्न कर दी। वह सोचने लगे, यदि शिवजी इतने शक्तिमान और समर्थ हैं तो वह अपने ऊपर चूहों को चढ़ते हुए देख कर कैसे मौन रह सकते हैं? उन्होंने अपने पिता को जगा कर कहा, 'मैंने सुना था कि शंकरजी बड़े शक्तिशाली हैं, किंतु वह तो अपने ऊपर से चूहों को भी हटा नहीं सकते।'

अपने पुत्र के इस प्रश्न पर शैव पिता को क्रोध तो आया, फिर भी उन्होंने बताया कि यह मूर्ति वास्तव में शिव नहीं है, वरन् उनकी काल्पनिक मूर्ति है। मूलजी को ज्ञात हो गया कि सर्वशक्तिमान शिव इस पाषाणमूर्ति से पृथक् दूसरी शक्ति हैं, अतः मूर्ति-पूजा व्यर्थ है। वह पिता से अनुमति लेकर मंदिर से घर चले आये और मूर्ति-पूजा के प्रति उनका सारा विश्वास जाता रहा। सत्य की खोज करने के लिए प्रेरित करने वाली यह प्रथम घटना थी जिसने दयानंद की जिज्ञासा को और तीव्र कर दिया।

मूलजी को प्रभावित करने वाली दूसरी घटना थी उनकी बहन तथा चचेरे दादा की मृत्यु। एक दिन वह अपने एक संबंधी के यहाँ किसी उत्सव में गये हुए थे। उनके नौकर ने जाकर बहन की मृत्यु का दुःखद समाचार दिया। यह उनके जीवन की सबसे शोकपूर्ण घटना थी। मृत्यु का समाचार पाकर वह पाषाणवत् स्तब्ध रह गये। उन्होंने सोचा, यह जीवन कितना क्षणिक है। इसी भाँति एक दिन मुझे भी मरना पड़ेगा। क्या मृत्यु के पाश से बचने और मुक्ति पाने का कोई मार्ग नहीं है? उन्होंने उसी स्थान पर यह प्रतिज्ञा की कि मैं मृत्यु पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करूँगा। मूलजी के जीवन की इस घटना से भगवान बुद्ध के जीवन का स्मरण हो आता है, जिनके मन में शव को देखकर संसार से विरक्ति उत्पन्न हो गयी और उन्होंने दुःख के कारण, उसको दूर करने के उपाय तथा मोक्ष की खोज में गृह त्याग दिया।

गृह-त्याग

शिवरात्रि की घटना और जीवन की नश्वरता का बोध—इन दो कारणों से दयानंद सत्य के अन्वेषण में लीन रहने लगे। उनके माता-पिता ने उनकी विरक्ति को मिटाने के लिए उन्हें विवाह-बंधन में डालने का बड़ा प्रयत्न किया, किंतु मूलजी पूर्ण सतर्क थे। माता-पिता का उनके ऊपर कोई वश नहीं चल सका और वह अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए २२ वर्ष की अवस्था में सन् १८४६ ई० में बिना किसी को सूचित किये ही घर से निकल पड़े।

घर छोड़ने के पश्चात् मार्ग में बहुत-से धूर्त और पाखंडी साधु और योगियों से भेंट हुई। उन्होंने अपने सारे आभूषणों को उन्हें दे दिया और अंत में शैला नामक स्थान पर लालभक्त नामक एक साधु के पास पहुँचे। लालभक्त गुजरात के प्रसिद्ध संत थे, किंतु उनसे मूलजी को संतोष प्राप्त न हो सका। उसी स्थान पर एक ब्रह्मचारी रहते थे जिनके परामर्श से मूलजी ने ब्रह्मचर्य की दीक्षा ले ली और अपना नाम 'शुद्ध चैतन्य' रख लिया।

सत्य की खोज

तदुपरांत शुद्ध चैतन्य अनेक स्थानों का भ्रमण करके सिद्ध योगियों और संतों की खोज करते रहे। बड़ौदा में चेतन मठ के ब्रह्मानंद, चिदानंद संन्यासियों के संपर्क

में भी वह कुछ समय रहे और उन्हीं के समीप रहकर 'वेदान्त सार' तथा 'वेदान्त परिभाषा' आदि का पूर्ण अध्ययन किया। अब शुद्ध चैतन्य के मन में संन्यास ग्रहण करने की तीव्र इच्छा जागृत हुई। वह योग्य गुरु की खोज करने लगे क्योंकि वह किसी महान योगी से ही दीक्षा लेना चाहते थे उन्होंने एक दाक्षिणात्य पंडित से प्रार्थना की कि वह स्वामी चिदानंद से दीक्षा दिलाने का प्रयत्न करें, किंतु उन्हें सफलता न मिली। अंत में स्वामी पूर्णानंद नामक एक संन्यासी ने बड़ी विनती और प्रार्थना करने पर शुद्ध चैतन्य को संन्यास की दीक्षा दी और उनका नाम 'स्वामी दयानंद सरस्वती' रखा। संन्यास ले लेने पर शुद्ध चैतन्य सांसारिक कर्मों के बंधनों से मुक्त हो गये और ब्रह्म-विद्या प्राप्त करने के लिए उनका मार्ग प्रशस्त हो गया।

संन्यास ले लेने के उपरांत भी स्वामी दयानंद की जिज्ञासा शांत नहीं हुई। गृह-त्याग करने के बाद वह तेरह वर्षों तक एक स्थान से दूसरे स्थान पर भटकते रहे। इस भ्रमण-काल में उन्होंने योगाभ्यास और ग्रंथों के अध्ययन का यथासंभव प्रयत्न किया। सच्चे योगियों की खोज में उन्होंने सारे दक्षिण भारत की यात्रा की, किंतु उन्हें कोई योग्य गुरु नहीं मिला जो उनकी आध्यात्मिक पिपासा को शांत करता। स्वामीजी ने सुन रखा था कि हिमालय की कंदराओं में सिद्ध योगी-महात्मा निवास करते हैं, अतः उन्होंने हिमालय की यात्रा की। गहन पर्वतों में भटकते हुए उन्होंने अपने जीवन के कई वर्ष व्यतीत किये। इस यात्रा में उन्हें अनेक अपूर्व अनुभव हुए। जीवन की चिंता न करके वह साहस के साथ हिमालय में घूमते रहे, परंतु किसी महान योगी की प्राप्ति की आशा पूरी नहीं हुई। पर्वत-प्रदेश की यात्रा में अनेक विपत्तियों और कष्टों को सहन करते हुए अंत में उन्हें वहाँ से निराश लौटना पड़ा। हरिद्वार, मुरादाबाद आदि अनेक स्थानों का भ्रमण करते हुए अंततः वह योग्य गुरु को प्राप्त करने में सफल हुए और सन् १८६२ ई० में मथुरा में उन्हें स्वामी विरजानंद का दर्शन हुआ। स्वामी विरजानंद का साक्षात्कार स्वामी दयानंद के जीवन की एक महान घटना थी। उनकी दीर्घ यात्रा का अब अंत हो गया और यहाँ से एक निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए उनका महत्त्वपूर्ण प्रयत्न आरम्भ हुआ।

गुरु के पास

मथुरा से स्वामीजी सर्वथा अपरिचित थे। यहाँ न उनके मित्र थे और न जान-पहचान के लोग ही। अतः वह मंगेश्वर मंदिर में ठहरे और एक दिन स्वामी विरजानंद के स्थान पर जाकर द्वार खटखटाया। स्वामी विरजानंद ने पूछा, 'कौन ?' स्वामी दयानंद ने उत्तर दिया, 'ज्ञान-प्राप्ति के लिए आया हुआ एक विद्यार्थी।' स्वामी विरजानंद ने आदेश दिया, 'अब तक जो भी तुमने पढ़ा है उसे भूल जाओ, तभी ऋषियों द्वारा प्रणीत ग्रंथों का सार प्राप्त कर सकते हो। यदि ऋषियों के अतिरिक्त किसी अन्य द्वारा रचित कोई पुस्तक तुम्हारे पास हो तो उसे यमुना में फेंक दो।' स्वामी विरजानंद ने स्वामी

दयानद का नाम पूछा, फिर कहा, 'तुम संन्यासी हो, अतः तुम्हारे लिए मैं कोई प्रबंध नहीं कर सकता। जाओ, पहले अपनी व्यवस्था करो, तब आओ।'

स्वामी दयानंद ने अपने भोजन, निवासादि की व्यवस्था की और गुरु के चरणों में उपस्थित हुए। गुरु के पास रह कर उन्होंने व्याकरण एवं संपूर्ण वैदिक साहित्य का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया। स्वामी विरजानंद ने दयानंद में एक प्रतिभा का अनुभव किया और उन्हें अपने संचित ज्ञान का उत्तराधिकारी बनाया। शिक्षा समाप्त होने पर जब विदा होने का समय आया तो स्वामी विरजानंद ने कहा, 'दयानंद, तुम्हारी शिक्षा पूर्ण हो गयी। अब मैं तुम से गुरु-दक्षिणा चाहता हूँ, किंतु दक्षिणा में धन नहीं, तुम्हारा जीवन दान माँगता हूँ। तुम मेरे सम्मुख प्रण करो कि वेदों के आलोक द्वारा संसार के अज्ञानांधकार को दूर करोगे।' गुरु के आदेश को शिरोधार्य कर, उनका आशीर्वाद लेकर, स्वामी दयानंद विदा हुए।

विकल्प-काल

गुरु से अलग होने के बाद स्वामीजी के जीवन के लगभग बारह वर्ष संकल्प-विकल्प में व्यतीत हुए। यह अवधि उनके मानसिक उद्वेलन की थी क्योंकि वह अभी तक अपने धार्मिक सिद्धांतों का निरूपण नहीं कर सके थे। अनेक स्थानों पर भ्रमण करते हुए उन्होंने मूर्ति-पूजा तथा अवैदिक ग्रंथों का खंडन किया। अनेक विद्वानों और पंडितों से उनका विवाद हुआ और उन्हें विजय मिली, किंतु अब भी उनकी शंकाएँ निर्मूल न हो सकी थीं। वह पुनः गुरु के पास गये, अपनी शंकाओं का समाधान किया तथा निःशंक होकर समाज और धर्म-सुधार के क्षेत्र में प्रवेश किया।

दिग्विजय

स्वामीजी ने वैदिक धर्म के प्रचार का जो अनुष्ठान किया वह कोई सरल कार्य नहीं था। उनके मार्ग में, शताब्दियों से पलने वाली रूढ़ियों, अंधविश्वासों और पुरोहिती स्वार्थों का विशाल और घना जंगल था जिसे चीर कर उन्हें पथ-निर्माण करना पड़ा। इस कार्य के लिए उन्होंने सर्वप्रथम रूढ़ियों, अंधविश्वासों तथा पाखंड के पोषक पंडितों-पुरोहितों के गढ़ों पर आघात किया। संपूर्ण भारत के पंडितों को उन्होंने चुनौती दी एवं शास्त्रार्थ में उन्हें पराजित करके वैदिक धर्म का जयघोष किया। इन शास्त्रार्थों का वर्णन अपने आप में एक रोचक कहानी है जिसका अवलोकन करने से स्वार्थी-वर्ग की कुत्सित प्रवृत्तियों तथा षड्यंत्रों का पता चलता है। स्वामीजी के शास्त्रार्थ के दो प्रधान पक्ष थे—निषेधात्मक तथा विधेयात्मक। निषेधात्मक पक्ष के अंतर्गत वह पौराणिकता का विरोध करते थे तथा विधेयात्मक पक्ष के अंतर्गत प्राचीन वैदिक धर्म तथा संस्कृति का उपदेश देते थे। उन्होंने काशी के पंडितों को बारबार शास्त्रार्थ करने के लिए ललकारा

क्योंकि प्राचीन काल से काशी पुरोहितों और पौराणिकता का गढ़ रहा है। काशी के पंडित स्वामीजी के समक्ष शास्त्रार्थ में ठहर नहीं सके। इस प्रकार संस्कृत-विद्या का केन्द्र, काशी, के आचार्यों के नतमस्तक हो जाने पर स्वामीजी की विद्वत्ता का प्रभाव सहज ही सारे देश में व्याप्त हो गया। लाखों व्यक्तियों ने उनके बताये हुए आर्य-धर्म को स्वीकार किया।

स्वामीजी के महान कार्यों का मूल्यांकन करते हुए कविवर रवींद्रनाथ ठाकुर ने लिखा है, "स्वामी दयानंद आधुनिक भारत के सबसे महान पथ-निर्माता थे, जिन्होंने जाति-उपजातियों, छुआछूत आदि के भयंकर जंगलों को चीर कर हमारे देश के ह्रास-काल में ईश्वरभक्ति और मानव-सेवा का सहज मार्ग प्रस्तुत किया। उन्होंने पैनी दृष्टि तथा दृढ़ संकल्प के साथ लोगों के भीतर आत्म-सम्मान और मानसिक चेतना को उद्बुद्ध किया। उन्होंने अपने गौरवपूर्ण अतीत से संबंध रखते हुए भी युग के अनुकूल प्रगति करने का उपदेश दिया क्योंकि अतीत काल में लोगों के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो चुका था, वे अपने विचारों और कर्मों में स्वतंत्र थे तथा उन्हें प्रकाशस्वरूप सत्य की अनुभूति हो चुकी थी।"

सन् १८७५ ई० में स्वामीजी ने बंबई में आर्यसमाज की स्थापना की तथा अपने धार्मिक और सामाजिक सुधारांदोलन को एक निश्चित रूप प्रदान किया। इसके पश्चात् स्वामीजी का प्रधान कार्य स्थान-स्थान पर आर्यसमाज की शाखाओं का स्थापन और संगठन हो गया। आर्यसमाज के संगठनात्मक और रचनात्मक कार्यों के लिए उन्होंने विधान एवं नियम बनाये तथा घोर परिश्रम के द्वारा अपने जीवनकाल में ही इस संस्था को एक विशाल वटवृक्ष का रूप प्रदान किया।

ग्रन्थ-रचना

स्वामीजी की मातृभाषा गुजराती थी। वह संस्कृत के प्रकांड पंडित थे, किंतु उन्होंने यह अनुभव किया कि इन दोनों में से कोई भी भाषा व्यापकता की दृष्टि से उपयुक्त नहीं है। अतः हिंदी के माध्यम से उन्होंने अपने विचारों को लोगों तक पहुँचाने का निश्चय किया। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि स्वामीजी के काल तक हिंदी-गद्य की स्पष्ट एवं सुव्यवस्थित रूपरेखा निर्धारित नहीं हो सकी थी, फिर भी उन्होंने यथाशक्ति परिष्कृत भाषा में अपने ग्रंथों की रचना की। इस दृष्टि से उनका नाम हिंदी-गद्य के निर्माताओं में भी अग्रगण्य है।

स्वामीजी ने सन् १८६५ ई० में वैष्णवमत के खंडन के लिए एक पुस्तक लिखी, जिसे उन्होंने अपने गुरु स्वामी विरजानंद को भी दिखलाया था। तत्पश्चात् उन्होंने 'संध्या' की एक पुस्तक लिखी, जिससे सामान्य जनों के लिए दैनिक प्रार्थना आदि की विधि सरल हो जाय। इन दोनों पुस्तकों की रचना के बाद भी स्वामीजी की रुचि पुस्तकें लिखने की ओर नहीं थी, किंतु सन् १८७३ ई० में राजा जयकिशन दास, सी० एस० आई०, अलीगढ के

डिप्टी कलक्टर, के अनुरोध पर उन्होंने 'सत्यार्थप्रकाश' की रचना की। इस बहुमूल्य ग्रंथ के प्रणयन में उन्हें पं० चंद्रशेखर से भी भाषा-संबंधी सहायता प्राप्त हुई। हिंदू धर्म में संस्कारों को प्रमुख स्थान प्राप्त है, किंतु इस संबंध में वैदिक पद्धति के अनुकूल कोई पुस्तक प्राप्त नहीं थी; अतः उन्होंने 'संस्कारविधि' की रचना की, जिसमें गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यंत होने वाले सोलह संस्कारों का वर्णन है। वेद विश्व-साहित्य के प्राचीनतम ग्रंथ हैं, जिनसे तत्कालीन प्रतिभा, ज्ञान और जीवन का परिचय प्राप्त होता है। वेदवाणी को जनसाधारण तक पहुँचाने के लिए स्वामीजी ने वेदों का भाष्य प्रारंभ किया। 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका', 'यजुर्वेदभाष्य', 'ऋग्वेदभाष्य' (जो अपूर्ण रह गया), 'वेदांग-प्रकाश' आदि इस संबंध में उल्लेखनीय हैं। वेदों के संबंध में लिखे गये ग्रंथों की पृष्ठसंख्या इतनी अधिक है कि उनका प्रकाशन कई खंडों में हुआ है। 'आर्याभिविनियः,' 'पंचमहायज्ञविधि', 'संस्कृतवाक्यप्रबोधः,' 'व्यवहारभानुः', 'काशीशास्त्रार्थ-भ्रांति-निवारणम्,' 'वेदांतिध्वांत-निवारणम्', 'भ्रमोच्छेदन', 'वेदविरुद्धमत-खंडन' और 'आर्योद्देश्य रत्न-माला' आदि स्वामीजी के प्रमुख ग्रंथ हैं। इन ग्रंथों में धर्म, दर्शन, आचार, नीति आदि अनेकशः विषयों का प्रतिपादन हुआ है, जिन्हें पढ़ कर उनकी दैवी प्रतिभा का सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

महाप्रयाण

स्वामी जी पूर्ण योगी थे अतः उन्हें अपने शरीर-त्याग का पूर्वाभास मिल गया था। उन्होंने मैडम ब्लावात्सकी से बातचीत करते हुए कहा था कि मैं सन् १८८३ ई० के अंत तक जीवित न रह सकूँगा। उनकी यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई। ३० मई, सन् १८८३ ई० को स्वामीजी जोधपुर गये जहाँ दूध के साथ उन्हें काँच पीसकर दे दिया गया। दूध पीने के बाद जब उन्हें ज्ञात हो गया कि विष दिया गया है, तो रसोइये को बुला कर कहा, 'तुम यहाँ से भाग जाओ, अन्यथा लोगों को जब पता लग जायेगा कि तुमने मुझे विष दिया है तो वे तुम्हारा प्राण ले लेंगे।' स्वामीजी ने उसे कुछ रुपए दे कर भगा दिया। बड़ी चिकित्सा हुई, किंतु अंत में, ३० अक्तूबर सन् १८८३ ई० को, दीपावली के दिन, अजमेर में स्वामीजी का देहावसान हो गया। स्वामीजी की मृत्यु की इस घटना से ईसा के उस वचन का स्मरण हो आता है, जिसे उन्होंने सूली पर चढ़ते समय कहा था, 'पिता इन्हें क्षमा करना, ये स्वयं नहीं जानते कि क्या कर रहे हैं।' स्वामीजी ने स्वयं विषपान करके भी अपने हत्यारे के प्राण की रक्षा की और उसे भगा दिया। सत्य की प्रतिष्ठा और उसकी रक्षा के लिए निरंतर संघर्ष करने वाले स्वामीजी ने अपने जीवन का अंत भी सत्य के लिए किया। अरविंद घोष के शब्दों में "स्वामी दयानंद आध्यात्मिक क्रियात्मकता की एक शक्तिसंपन्न मूर्ति थे।"

पंडित हरिश्चंद्र विद्यालंकार के शब्दों में "दयानंद ऋषि थे—क्रांतिदर्शी अर्थात् विश्वद्रष्टा। मानव-जीवन का कौन-सा वैयक्तिक अथवा सामाजिक पहलू रह गया,

जिसके संबंध में दयानंद ने पथ-प्रदर्शन नहीं किया। शारीरिक, मानसिक और आत्मिक विकास के सभी उपायों की मीमांसा उनके लेखों, व्याख्यानों और कार्यों में हम पाते हैं। ....डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में, 'महान गुरु दयानंद के मन ने जीवन के सब अंगों को प्रदीप्त कर दिया।' महात्मा बुद्ध, आचार्य शंकर, और भी न जाने कितने महापुरुष भारत में जन्मे और अपने-अपने ढंग से मनुष्यों का पथ-प्रदर्शन कर गये, परंतु मानव-जीवन की सर्वाङ्गीण उन्नति का जो मार्ग ऋषि दयानंद ने प्रदर्शित किया, उसका अपना महत्व है। जातीय जीवन का कौन-सा सूत्र है, जिसका प्रतिपादन ऋषि ने नहीं किया! एक शास्त्र, एक देवता, एक भाषा और एक संस्कृति की प्रतिष्ठा कर वे भारतीय समाज को व्यक्तिगत और सामूहिक रूप में सर्वथा समर्थ देखना चाहते थे। यही नहीं, भूमंडल-भर में ऐसी एकता और उसके फलस्वरूप सुख, शांति एवं समृद्धि का राज्य उनका सुनहला सपना था।"

जीवन-दर्शन

आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानंद यद्यपि एक महान दार्शनिक थे, तथापि उनकी गणना दार्शनिकों में नहीं की जाती है। इसका कारण संभवतः यह है कि सामाजिक और धार्मिक सुधार के क्षेत्र में उनकी देन इतनी अधिक और महत्वपूर्ण है कि दार्शनिक रूप की तुलना में उनका सुधारक रूप अधिक विशिष्ट जान पड़ता है। दर्शन में रुचि रखने वाले उनके कुछ अनुयायियों को छोड़ कर शेष सभी उन्हें सुधारक के रूप में ही स्वीकार करते हैं। शंकराचार्य और रामानुज की भाँति स्वामी दयानंद भी वेदों के प्राचीन गौरव को उच्च स्थान पर पुनः प्रतिष्ठित करना चाहते थे और उनके प्रति अत्यंत आदर का भाव रखते थे। किंतु उन आचार्यों और स्वामीजी के दृष्टिकोण में थोड़ा अंतर है। स्वामी दयानंद वेदों को अपौरुषेय (Self-revelatory) या 'श्रुति' तथा उपनिषदों, गीता आदि ग्रंथों को 'स्मृति' मानते हैं। 'वैदिक युग की ओर पुनरावर्तन' की उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की। इसीलिए उन्हें 'भारत के मार्टिन लूथर' की संज्ञा दी जाती है। उन्होंने अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों, शंकर और रामानुज, द्वारा उपनिषदों, गीता और वेदांतदर्शन का भाष्य लिखने की परंपरा का पालन नहीं किया, वरन् सीधे वेदों पर भाष्य लिखना प्रारंभ किया। स्वामीजी ने भाष्यों की रचना प्राचीन साहित्य में रुचि रखने वाले कतिपय व्यक्तियों के लिए नहीं की, वरन् भाष्य लिखने में उनका मुख्य उद्देश्य वेदों को सर्वसाधारण के लिए सुगम और सुलभ बनाना और उनके निकट पहुँचाना था।

---

† पं० हरिश्चंद्र विद्यालंकार : 'महर्षि दयानंद सरस्वती' [सचित्र प्रामाणिक जीवन-चरित]

'ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका' और 'सत्यार्थप्रकाश' स्वामीजी के सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ हैं। इन ग्रंथों के अध्ययन से दर्शन के संबंध में उनकी कुशाग्र बुद्धि और गहराई का परिचय मिलता है। वह न तो अद्वैतवादी थे और न विशिष्टाद्वैतवादी। इनमें से किसी पर उनका विश्वास नहीं था क्योंकि उनके विचार में इस जगत् में केवल तीन तत्त्व अनादि हैं: १. ईश्वर या ब्रह्म, २. जीव या आत्मा, तथा ३. प्रकृति या मूलोपादान। प्रकृति केवल 'सत्' स्वरूप है, जीव 'सत्' और 'चित्' स्वरूप है तथा ब्रह्म 'सत्', 'चित्' और 'आनंद' अर्थात् सच्चिदानंद स्वरूप है, अतः उन्हें 'त्रैतवादी' कहा जा सकता है। वह शंकराचार्य की भाँति यह नहीं कहते 'एकम् ब्रह्म द्वितीयम् किंचित् वस्तु नास्ति' अर्थात् ब्रह्म को छोड़ कर शेष सब मिथ्या है: यद्यपि केवल एक ब्रह्म में विश्वास करने के कारण स्वामी-जी को 'अद्वैतवादी' (Monotheist) कहा जा सकता है, तथापि शंकर की भाँति वह यह नहीं कहते कि ब्रह्म के अतिरिक्त सारा जगत् मिथ्या है। रामानुज ने शंकर के मायावाद के सिद्धांत की जो आलोचना की है, उससे तो स्वामीजी सहमत हैं, किंतु दर्शन के क्षेत्र में उनके द्वारा प्रतिपादित 'विशिष्टाद्वैतवाद' (Qualified Monism) को वह नहीं मानते। उदाहरणार्थ, रामानुज का मत है कि जीवात्मा और पदार्थ अन्य कुछ नहीं, वरन् ब्रह्म की दो पृथक् अभिव्यक्तियाँ: ब्रह्म के दो प्रकार हैं। इस मत के विषय में स्वामी जी का कहना है कि यदि ब्रह्म विशुद्ध चित्स्वरूप और सर्वत्र है तो वह अपने ही अभिव्यक्त स्वरूपों—जीवात्मा और प्रकृति (पदार्थ)—से पृथक् किस प्रकार लक्ष्य किया जा सकता है? पुनः रामानुज जीवात्मा और ब्रह्म में गुणवैधर्म्य के कारण पृथकता मानते हैं। अस्तु, स्वामी जी का कथन है कि जब दोनों 'ब्रह्म और जीवात्मा' के गुण पृथक् हैं तो वे समान या एक कैसे हो सकते हैं! 'अभिव्यक्ति' शब्द की सार्थकता भी विशिष्टाद्वैत मत में ठीक नहीं बैठती।

जीवात्मा और ब्रह्म

स्वामीजी के अनुसार जीवात्मा और ब्रह्म के गुण पृथक्-पृथक् हैं; अतः इस गुण-वैधर्म्य के आधार पर उनको एक या समान नहीं माना जा सकता। पर जीवात्मा और ब्रह्म में कुछ गुण समान भी हैं; दोनों मूलतः चेतन-स्वरूप हैं, स्वभाव से पवित्र तथा शाश्वत हैं। क्या इस समानता अथवा साधर्म्य के कारण भी उन्हें समान या अनन्य नहीं माना जा सकता? नहीं। इस तथ्य को समझने के लिए हम ठोस पदार्थ, तरल पदार्थ तथा अग्नि का उदाहरण ले सकते हैं। ये तीनों पदार्थ निर्जीव तथा प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने वाले हैं। दूसरे शब्दों में निर्जीवता तथा प्रत्यक्षता इन तीनों के समान गुण हैं। परंतु इन समान गुणों अथवा साधर्म्य के आधार पर इन्हें एक नहीं माना जा सकता; कारण, इन तीनों का असमान गुण अथवा वैधर्म्य इन्हें एक दूसरे से पृथक् करता है। ठोस पदार्थ का गुण है कठोरता, तरल पदार्थ का गुण है द्रवणशीलता और अग्नि का

गुण है प्रकाश एवं उष्णता। अतः इस गुण-वैधर्म्य के आधार पर इनके अलग-अलग स्वरूप को पहचाना जा सकता है और उन तीनों को एक या समान नहीं माना जा सकता। ठीक इसी प्रकार जीवात्मा और ईश्वर में गुण-साधर्म्य के साथ-साथ गुण-वैधर्म्य भी है। ईश्वर सर्वज्ञ, असीम क्रियाशील तथा सर्वव्यापक है। जीवात्मा ज्ञान, कर्म और स्वभाव से सीमित है। उसमें त्रुटि करने की क्षमता है और वह प्रगतिशील है। ईश्वर सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, किंतु जीवात्मा उतना सूक्ष्म नहीं।

इसके अतिरिक्त अनादि ज्ञान, असीम आनंद तथा असीम शक्तिमत्ता ईश्वर के गुण हैं। इससे भिन्न आत्मा के गुण हैं पदार्थों की प्राप्ति की अभिलाषा (इच्छा), दुःख की अनिच्छा तथा वैर (द्वेष), पुरुषार्थबल (प्रयत्न), आनंद (सुख), विलाप और अप्रसन्नता (दुःख), विवेक की पहचान (ज्ञान)—जीवात्मा के ये छः गुण वैशेषिक और न्यायदर्शन दोनों में समान रूप से मान्य हैं, किंतु वैशेषिक दर्शन जीवात्मा के इन गुणों को भी मानता है—श्वास लेना (प्राण), श्वास का बाहर निकालना (अपान), आँख मींचना (निमेष), आँख खोलना (उन्मेष), निश्चय, स्मरण और अहंकार करना (मन), चलना (गति), सब इंद्रियों का चलाना (इंद्रिय), क्षुधा, तृषा, हर्ष और शोक (अंतर्विकार) से युक्त होना—ये गुण परमात्मा के गुणों से भिन्न हैं। इन्हीं से आत्मा की प्रतीति करनी चाहिए क्योंकि वह स्थूल नहीं है। आत्मा जब तक शरीर में रहता है तभी तक ये गुण प्रकाशित होते हैं और जब वह शरीर को त्याग देता है, तब ये गुण शरीर में नहीं रहते।

ईश्वर सर्वशक्तिमान है। वह अपनी शक्ति से विश्व का सृजन, पोषण, विसर्जन तथा सृष्टि का नियमन करता है। इससे भिन्न जीवात्मा संतान उत्पन्न करता है, उनका पालन, पोषण और अन्य अच्छे-बुरे कर्म करता है। ईश्वर जीवात्मा को उसके कर्मों का फल प्रदान करता है और जीवात्मा उन्हें भोगता है। यहाँ यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि जीवात्मा अपने कर्म करने में 'स्वतंत्र' है, परंतु कर्मों का फल भोगने में 'परतंत्र'। 'स्वतंत्र' से तात्पर्य है जिसके अधीन शरीर प्राण इंद्रिय और अंतःकरण आदि हों। यदि जीवात्मा स्वतंत्र न हो तो उसे पाप, पुण्यों का फल कभी प्राप्त न हो। ईश्वर के नियम और व्यवस्था में पराधीन होकर जीवात्मा अपने पाप कर्मों के लिए दुःख, पीड़ा और कष्ट भोगता है।

आत्मा के संबंध में स्वामी दयानंद का विचार नवीन वेदांतियों से भिन्न है। स्वामीजी सभी जीवात्माओं में एक ही विभु व्याप्त नहीं मानते। उनके अनुसार विभिन्न मानव-शरीरों में विभिन्न आत्माओं की व्याप्ति है। ये आत्माएँ विभुरूप नहीं, वरन् उससे परिच्छिन्न हैं क्योंकि यदि सभी मानव-शरीरों में एक ही विभु व्याप्त होता तो जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति, जन्म, मरण, संयोग वियोग और आवागमन कभी नहीं हो सकता। जीवात्मा का स्वरूप अल्पज्ञ और सूक्ष्म है और ईश्वर सूक्ष्मातिसूक्ष्म, अनंत, सर्वज्ञ और सर्वव्यापक है,

अतः जीवात्मा और ईश्वर का संबंध व्याप्य—व्यापक का है।

क्या विभिन्न आत्माएँ ईश्वर से सदैव पृथक् रहती हैं या कभी दोनों मिलकर एक भी होते हैं ? जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि साधर्म्य अथवा अन्वयभाव के कारण वे एक या समान हैं, पर गुण-वैधर्म्य के कारण वे एक नहीं हैं और न हो सकती हैं। व्याप्य और व्यापक के संबंध के आधार पर भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। उदाहरणतः ठोस पदार्थ आकाश से भिन्न नहीं रह सकता और उससे कभी पृथक् न होने के कारण एक होता है, पर दोनों में असमान गुण होने के कारण वे एक नहीं हैं। उसी प्रकार जीव और पृथ्वी आदि पदार्थ व्यापक ब्रह्म से अलग नहीं, फिर भी उससे भिन्न हैं क्योंकि उनमें वैधर्म्य है। जैसे घर बनने के पूर्व मिट्टी, लकड़ी, लोहा आदि पदार्थ आकाश (अवकाश) में ही रहते हैं, जब घर का निर्माण हो जाता है तब भी वे आकाश में ही रहते हैं, और उसमें नष्ट हो जाने पर भी वे आकाश में रहते हैं अर्थात् तीनों काल में वे आकाश से भिन्न नहीं हो सकते, किंतु स्वरूप या गुण-भेद के कारण वे न कभी एक थे, न हैं और न होंगे। उसी प्रकार जीवात्मा तथा संसार के सभी पदार्थ ईश्वर में व्याप्य होने पर भी स्वरूप एवं गुण-भेद के कारण कभी उससे एक नही होते।

इस प्रकार ईश्वर और जीवात्मा के पृथक् अस्तित्व को मानते हुए स्वामी दयानंद 'अहम् ब्रह्मास्मि', 'तत्वमसि' और 'अयमात्मा ब्रह्म' महावाक्यों का (जो वेदवाक्य माने जाते हैं) अपने ढंग से विश्लेषण करते हैं। स्वामीजी का कथन है कि ये वेदवाक्य नहीं हैं, वरन् ब्राह्मण ग्रंथों के उद्धरण हैं। 'अहम् ब्रह्मास्मि' का अर्थ यह नहीं है कि मैं ब्रह्म हूँ, वरन् मैं ब्रह्म में निवास करता हूँ। उदाहरणार्थ, यदि यह कहा जाय कि मैं और वह एक हैं तो इसका तात्पर्य है कि मैं और वह 'अविरोधी' हैं। इसी प्रकार जीव समाधि में निमग्न होकर कह सकता है कि मैं और ब्रह्म एक अर्थात् अविरोधी हैं। जब जीव, परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल अपने को बना लेता है तो वही साधर्म्य के कारण ब्रह्म से अपनी एकता कह सकता है।

द्वितीय उद्धरण 'तत्वमसि' का अर्थ यह नहीं है कि तू ब्रह्म है, वरन् परमात्मा तुम्हारी आत्मा में है। छांदोग्य उपनिषद् का उद्धरण देते हुए वह कहते हैं कि 'तत्' शब्द का अर्थ है, वह परमात्मा जो जानने योग्य है, जो अत्यंत सूक्ष्म, इस जगत् और जीव का आत्मा है वह परमात्मा ही सत्य-स्वरूप है, वह स्वयं अपना आत्मा है। हे प्रिय पुत्र श्वेतकेतु ! तू उस अंतर्यामी परमात्मा से युक्त है। यही अर्थ उपनिषद् समर्थित है। बृहदारण्यक उपनिषद् में महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहते हैं, हे मैत्रेयी ! ईश्वर आत्मा अथवा जीव में स्थित है फिर भी जीवात्मा से भिन्न है, मूढ़ जीवात्मा नहीं जानता है कि यह परमात्मा मुझमें व्याप्त है। जीवात्मा परमेश्वर का शरीर है अर्थात् जिस प्रकार शरीर में आत्मा निवास करता है, उसी प्रकार आत्मा में परमात्मा की स्थिति है। किंतु

वह जीवात्मा से भिन्न रह कर जीव के पाप-पुण्य का साक्षी होकर जीवों को उनका फल देता है और नियंत्रित रखता है। वही अविनाशी अंतर्यामी परमात्मा तुम्हारी आत्मा में भी निवास करता है, मैत्रेयी ! तू ऐसा जान। इसी प्रकार तीसरे उद्धरण-वाक्य 'अय-मात्मा ब्रह्म' का भावार्थ यह है कि समाधि दशा में जब योगी को ब्रह्म का साक्षात्कार होता है तब वह कहता है, 'यह जो मुझमें व्याप्त है, वही ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है।'

ईश्वर : सगुण या निर्गुण

ईश्वर सगुण है या निर्गुण ? स्वामी दयानंद के विचार में वह दोनों है, सगुण भी है और निर्गुण भी है। जो वस्तु गुणों से युक्त होती है उसे सगुण और जो गुणों से रहित होती है उसे निर्गुण कहते हैं। अपने स्वाभाविक गुणों से युक्त तथा विरोधी गुणों से रहित होने के कारण संसार के सभी पदार्थ सगुण और निर्गुण होते हैं। कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जिसमें केवल निर्गुणता हो अथवा केवल सगुणता। सब में दोनों का अस्तित्व होता है। इसी प्रकार ईश्वर अपने अनंत ज्ञान, अनंत शक्ति और सर्वव्यापकता आदि गुणों से युक्त होने से सगुण तथा जड़ पदार्थों को मूर्तता एवं जीवों के सुख-दुःख की अनुभूति आदि गुणों से पृथक् होने के कारण निर्गुण कहलाता है।

भारतीय दर्शन के इतिहास में सगुण और निर्गुण शब्दों की यह व्याख्या निराली है। स्वामी दयानंद सगुण और निर्गुण ब्रह्म में भेद नहीं करते हैं। शिव, गणेश, ईश्वर और ब्रह्म आदि जो अनेक नाम हैं, वे सब उसी परमात्मा की संज्ञा हैं। इस अर्थ में हम उन्हें अद्वैतवादी कह सकते हैं। वह सगुण और निर्गुण शब्दों को उपासना के क्षेत्र में अवश्य अधिक महत्त्व देते हैं। ईश्वरीय गुणों की उपलब्धि का प्रयत्न करना सगुणोपासना है। जो ईश्वर के गुण नहीं हैं, उनका परित्याग निर्गुणोपासना है। निर्गुण और सगुण की यह रूपरेखा नैतिक क्षेत्र में अधिक सहायक सिद्ध होती है।

जगत् मिथ्या नहीं

स्वामी दयानंद संसार को मिथ्या या अवास्तविक नहीं मानते हैं। उनका कथन है, कि इंद्रियों द्वारा जो वस्तु ग्रहणीय और सेव्य है, वह कभी भी असत्य या मिथ्या नहीं हो सकती है और न जगत् (का कारण परम सूक्ष्म तत्व ही मिथ्या और नश्वर हो सकता है। वेदांती ब्रह्म को जगत् की उत्पत्ति का कारण मानते हैं, अतः जब ब्रह्म सत्य है और जगत् का कारण है, तब उसका कार्य 'जगत्' कभी मिथ्या या असत्य नहीं हो सकता है। यदि यह कहा जाय कि वस्तु-जगत् केवल कल्पना-मात्र है और स्वप्न में देखी हुई वस्तु की भाँति असत्य है अथवा अंधकार में दिखायी पड़ने वाली उस रस्सी की भाँति है जिसे देखने पर सर्प का भ्रम हो जाता है, तो यह भी सत्य नहीं है। कारण, कल्पना या विचार गुण है और गुण से द्रव्य को तथा द्रव्य से गुण को पृथक् नहीं माना जा सकता। जब विचार-

कर्त्ता जीवात्मा नित्य है, तो उसका विचार अनित्य या मिथ्या नहीं हो सकता, अन्यथा यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जीवात्मा भी अवास्तविक है। हम उस वस्तु को स्वप्न में नहीं देख सकते जिसके विषय में जाग्रतावस्था में कुछ भी देखा-सुना न हो। जाग्रत अवस्था में जिन सत्य पदार्थों का हम प्रत्यचीकरण द्वारा ज्ञान ग्रहण करते हैं, उनका संस्कार हमारी आत्मा में स्थित रहता है, वही स्वप्न में दिखायी देता है। यदि यह संभव हो कि मनुष्य बिना देखे-सुने, प्रत्यच संबंध के अभाव में और बिना आत्मा में स्थित संस्कार के स्वप्न देखे तो जन्मांध व्यक्ति भी स्वप्न में रूप-रंग देख सकता है, जो असंभव है। स्वप्न या सुषुप्ति की अवस्था में वाह्य पदार्थों का अज्ञान-मात्र होता है, अभाव नहीं। अतः कहा जा सकता है कि सुषुप्तावस्था में भी मन में वाह्य पदार्थों का संस्कार बना रहता है। उसी प्रकार संसार की रचना का पदार्थ-कारण, प्रकृति, प्रलय के बाद भी वर्त्तमान रहता है।

मुक्ति और पुनर्जन्म

भारतीय दर्शन में परंपरा से यह मान्य है कि मनुष्य-जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मोच की प्राप्ति है। स्वामी दयानंद भी इस मान्यता को स्वीकार करते हैं, किंतु आत्मा के बंधन और मोच के विषय में उनका विचार नये वेदांतियों से थोड़ा भिन्न है। नये वेदांती आत्मा को बंधन में नहीं मानते हैं और न यही स्वीकार करते हैं कि मोच पाने के लिए उसे साधनों की आवश्यकता है क्योंकि उनका विश्वास है कि आत्मा कभी बंधन में नहीं था। दयानंद कहते हैं कि सीमाबद्ध, आवृत्त, शरीर धारण करने वाला जीवात्मा बंधन में होता है क्योंकि वह अपने पाप-कर्मों के दुःख को भोगता है, पापों के बंधन से मुक्ति पाने की इच्छा करता है अर्थात् मोच चाहता है। वेदांतियों का कहना है कि मोचप्राप्त जीव ब्रह्म में लय हो जाता है, किंतु स्वामी दयानंद का विचार है कि प्रत्येक जीवात्मा मोच प्राप्त करने के बाद भी अपनी पृथक् सत्ता बनाये रखता है। वेदांती और दयानंद दोनों यह मानते हैं कि जीवन में मुक्ति प्राप्त करना संभव है, किंतु स्वामीजी ईश्वर के अवतार लेने की कल्पना को स्वीकार नहीं करते। हाँ, वह इतना अवश्य मानते हैं कि मुक्त जीवात्मा संसार के प्राणियों के उत्थान के लिए शरीर धारण करता है।

जीवात्मा मोच के आनंद को किस प्रकार भोगता है? इस प्रश्न का उत्तर स्वामी दयानंद इस प्रकार देते हैं, मोच प्राप्त कर लेने पर भौतिक शरीर या इंद्रियों के गोलक जीवात्मा के साथ नहीं रहते, केवल उसके स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं। जब वह सुनना चाहता है तब श्रोत्र, स्पर्श करना चाहता है तब त्वचा, देखने का संकल्प करने पर चक्षु, स्वाद के लिए जिह्वा, गंध के लिए नासिका, संकल्प-विकल्प करने के समय मन, निश्चय करने के लिए बुद्धि, स्मरण करने के लिए चित्त आदि अपनी स्वशक्ति से, मुक्ति में प्राप्त कर लेता है। उस समय संकल्प-मात्र ही उसका शरीर होता है। जीवात्मा, जिस प्रकार

शरीर के माध्यम से सांसारिक सुख भोगता है, उसी प्रकार परमात्मा के आधार से मुक्ति के आनंद को भोगता है। मुक्त जीव अनंत व्यापक ब्रह्म में स्वच्छंद घूमता है, शुद्ध ज्ञान से सृष्टि को देखता है, अन्य मुक्तों के साथ मिलता, सब लोक-लोकांतरों (जो दृष्टिगोचर होते हैं और नहीं होते हैं) में विचरण करता है। जीवात्मा का ज्ञान जितना ही अधिक विकसित होता जाता है वह उतना ही आनंद प्राप्त करता है। मुक्ति में जीवात्मा के निर्मल होने से, सब सन्निहित पदार्थों का यथावत ज्ञान होता है—यही सुख विशेष स्वर्ग है। जो सांसारिक सुख है वह 'सामान्य स्वर्ग' और जो परमेश्वर की प्राप्ति से आनंद है वही 'विशेष स्वर्ग' है।

स्वामी दयानंद, उपनिषदों के इस विचार का खंडन करते हैं कि मोक्ष प्राप्त कर लेने पर जीवात्मा इस संसार में पुनः वापस नहीं लौटता है। वह अपने समर्थन में ऋग्वेद का उद्धरण देते हैं, "यह बात सत्य नहीं है, क्योंकि वेद में इसका निषेध किया गया है। हम लोग किसका नाम पवित्र समझें! नश्वर पदार्थों के बीच वर्त्तमान कौन अविनश्वर देव सदा प्रकाश-स्वरूप है जो हमको मुक्ति का सुख भोगने का अवसर देता है और पुनः इस संसार में जन्म देकर मातापिता का दर्शन कराता है!"...."हम इस स्वप्रकाशस्वरूप अनादि, सदा मुक्त, सर्वव्यापक परमात्मा का पवित्र नाम जानें जो हमें मुक्ति में आनंद का भोग करा कर पृथ्वी पर पुनः जन्म देकर माता-पिता के दर्शन कराता है। वही परमात्मा मुक्ति की व्यवस्था करता है और सब का स्वामी है।"

सांख्यशास्त्र भी कहता है, "जैसे इस समय बंधमुक्त जीव हैं, वैसे ही सर्वदा रहते हैं। बंधन और मुक्ति का 'अत्यंत' विच्छेद कभी नहीं होता, किंतु बंध और मुक्ति सदा नहीं रहती।" 'अत्यंत' शब्द अत्यंताभाव का भी बोधक हो सकता है पर यह आवश्यक नहीं है कि 'अत्यंत' शब्द अत्यंताभाव का ही बोधक हो क्योंकि जब हम यह कहते हैं कि इस मनुष्य को अत्यंत दुःख है या सुख है, तब 'अत्यंत' शब्द से 'बहुत अधिक' का बोध होता है क्योंकि इससे यही विदित होता है कि इस मनुष्य को बहुत दुःख या बहुत सुख है। यहाँ भी 'अत्यंत' शब्द का यही अर्थ जानना चाहिए। अतः जीवात्मा महाकल्प के पश्चात् मुक्ति के सुख को छोड़ कर संसार में आता है। अनंत आनंद को भोगने का असीम सामर्थ्य, कर्म और साधन जीवात्मा में नहीं हैं। उसके शरीर, कर्म और साधन परिमित हैं इसलिए जीवात्मा अनंत सुख को नहीं भोग सकता।

स्वामी दयानंद ने भारतीय दर्शन पर निराशावाद के आरोपित दोष का खंडन किया है। संसार में दुःख और कष्ट अवश्य हैं किंतु इससे निराश होने की आवश्यकता नहीं। पुनर्जन्म का विश्वास आशावाद का प्रतीक है जो जीवात्मा को आगामी जीवन में उन्नति करने का अवसर प्रदान करता है। जीवात्मा जन्म जन्मांतरों में संचित अनुभव के आधार

पर, यदि निरंतर प्रयत्नशील रहे तो वह एक न एक दिन, अपना अंतिम लक्ष्य—मुक्ति प्राप्त कर सकता है ।

मुक्ति के साधन

मुक्ति की प्राप्ति के लिए स्वामी दयानंद 'नैतिक गुणों का धारण' अनिवार्य मानते हैं । 'सत्संग' भी आवश्यक है क्योंकि इससे विवेक अर्थात् सत्यासत्य, धर्माधर्म, कर्तव्या-कर्तव्य का निश्चय होता है । इसके अतिरिक्त प्रत्येक जीवात्मा को 'अपने स्वरूप का पूर्णज्ञान' होना अनिवार्य है । जीवात्मा को यह जानना चाहिए कि वह कोश,† अवस्थाओं‡ और शरीरों* से पृथक् है । जीवात्मा सब कार्यों का कर्त्ता, नियंता और भोक्ता है, बिना उसकी प्रेरणा के मन और शरीर कार्य नहीं कर सकते । अच्छे कार्य करने पर मन में आनंद, उत्साह और निर्भयता और बुरे कर्मों से भय, शंका और लज्जा आदि अंतर्यामी परमात्मा की प्रेरणा से स्वयमेव उत्पन्न होते हैं । अतः जीवात्मा को इस अंतर्यामी पर-मात्मा की प्रेरणा के अनुकूल कार्य करना उचित है ।

मुक्ति की प्राप्ति के लिए 'वैराग्य' भी एक आवश्यक साधन है । वैराग्य से तात्पर्य है : पृथ्वी से लेकर परमेश्वर पर्यंत पदार्थों के गुण, कर्म और स्वभाव को जानना, ईश्वर की आज्ञा पालन करना, उसकी उपासना में तत्पर रहना, उसकी आज्ञा के विरुद्ध न चलना और अपनी प्रकृति को वश में रखना । अपनी मुक्तिमार्ग पर प्रगति प्राप्त करने के लिए जीवात्मा को 'षटक् संपत्ति'★ अर्थात् छः विशेष प्रकार के कार्य करने चाहिए । इसके अतिरिक्त एक और आवश्यक साधन है : 'मुमुक्षत्व', अर्थात् मुक्ति के प्रति अनन्य

---

†जीवात्मा के पाँच कोश हैं : [१] अन्नमय कोश, जो त्वचा से लेकर अस्थिपर्यंत का समुदाय है; [२] प्राणमय कोश, जिसमें जीवात्मा पंच-प्राण द्वारा सब शरीर में चेष्टा आदि कर्म करता है; [३] मनोमय कोश, जिसमें मन के साथ अहंकार, पाँच कर्मेन्द्रियाँ आदि हैं; [४] विज्ञानमय कोश, जिसमें बुद्धि, चित्त तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं जिनसे जीव ज्ञानार्जन और चिन्तन आदि करता है; [५] आनंदमय कोश, जिसमें प्रीति, प्रसन्नता और आनंद हैं । इन्हीं पाँचों कोशों से जीव सब प्रकार के कर्म, उपासना, ज्ञान आदि व्यवहारों को करता है ।

‡आत्मा की तीन अवस्थाएँ हैं : [१] जागृत, [२] स्वप्न, [३] सुषुप्ति ।

*शरीर चार प्रकार के हैं : [१] स्थूल शरीर, [२] सूक्ष्म शरीर, [३] कारण शरीर, [४] तुरीय शरीर ।

★षटक् संपत्ति अर्थात् छः प्रकार के कर्म करना । [१] शम, अपनी आत्मा और अंतःकरण को अधर्माचरण से हटा कर धर्माचरण में सर्वदा प्रवृत्त रखना; [२] दम, इन्द्रियों और शरीर को व्यभि-चार आदि बुरे कर्मों से हटाकर शुभ कर्मों में लगाना; [३] उपरति, दुष्ट कर्म करने वालों से दूर

भक्ति और प्रेम। जिस प्रकार भूखे व्यक्ति को अन्न के सिवाय और कुछ नहीं दीखता उसी प्रकार मोक्ष के आकांक्षी जीवात्मा को मुक्ति और उसके साधन को छोड़ कर और कुछ नहीं दीखता।

मुक्ति की प्राप्ति के कुछ 'अनुबंध' (सहायक साधन) भी हैं : (१) ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए जीवात्मा को 'अधिकारी' होना चाहिए, (२) उसे 'संबंध', अर्थात् वेद-शास्त्रों और मुक्ति के साधनों का ज्ञान होना चाहिए और उन्हें अन्वित करना चाहिए, (३) उसे 'विषयी' होना चाहिए अर्थात् उसका एक मात्र उद्देश्य ब्रह्म की प्राप्ति होनी चाहिए, (४) उसे 'प्रयोजन' प्राप्त कर लेना चाहिए अर्थात् सब दुःखों से निवृत्ति और मुक्ति के परमानंद की प्राप्ति।

मुक्ति की प्राप्ति में 'श्रवण चतुष्टय' भी प्रमुख साधन हैं : (१) 'श्रवण', जब कोई विद्वान उपदेश करे तो शांति से ध्यान देकर सुनना चाहिए, ब्रह्मविद्या में अत्यंत ध्यान देना चाहिए क्योंकि यह सब विद्याओं से सूक्ष्म विद्या है; (२) 'मनन', सुने हुए विचारों का एकांत में मनन करना चाहिए; यदि शंका हो तो उसका समाधान करना चाहिए। (३) 'निदिध्यासन' जब सुनने और मनन करने से संदेह दूर हो जाय तब समाधिस्थ होकर, जैसा सुना और विचारा था, उसको वैसा ही है या नहीं, ध्यानयोग से देखना चाहिए; (४) 'साक्षात्कार', जैसा पदार्थ का स्वरूप, गुण और स्वभाव हो वैसा जान लेना ही 'साक्षात्कार' है :

मानव प्रकृति में तीन तत्व हैं, 'सत्', 'रजस' और 'तमस्'। मोक्षाकांक्षी जीवात्मा को तमस्-जन्य अर्थात् क्रोध मलीनता, आलस्य तथा प्रमाद आदि और रजस्-जन्य अर्थात् ईर्ष्या, द्वेष, काम, अभिमान तथा विक्षेप आदि अवगुणों का परित्याग करना चाहिए। इससे भिन्न जीवात्मा को, शांत प्रवृत्ति, पवित्रता, विद्या, विचार आदि 'सत्' गुणों को धारण करना चाहिए। उपर्युक्त साधनों द्वारा जीवात्मा मुक्ति के परमानंद की प्राप्ति कर सकता है।

शिक्षा-दर्शन

स्वामी दयानंद वैदिक धर्म और संस्कृति के आधार-स्तंभ थे। अतः अपने देश-वासियों की दयनीय दशा देख कर उन्हें हार्दिक क्षोभ हुआ। उस समय लोग प्राचीन वैदिक धर्म-कर्म त्याग कर धीरे-धीरे ईसाई मत को स्वीकार करते जा रहे थे और पाश्चात्य संस्कृति का गहरा प्रभाव लोगों पर पड़ता जा रहा था। ऐसी स्थिति में वैदिक

रहना; [४] तितिक्षा—निन्दा, स्तुति, हानि और लाभ, में हर्ष या शोक को छोड़ कर मुक्ति साधनों में लगा रहना; [५] श्रद्धा, वेदादि सत्य शास्त्र और इनके बोध से पूर्ण आप्त विद्वान व्यक्तियों के वचनों पर विश्वास करना; [६] समाधान [illegible]

धर्म का समर्थक होने के नाते स्वामीजी ने इस महान धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संकट से देश को बचाने का प्रयत्न किया। उनका विचार था कि वैदिक काल में लोगों का जीवन और संस्कृति अत्यंत उच्च स्तर पर पहुँची हुई थी और विना उस संस्कृति के प्रसार के देश की दशा में सुधार होना कठिन है। वह एक महान विद्वान और परम सत्य के अन्वेषक थे अतः उन्होंने अपना संपूर्ण जीवन वैदिक अध्ययन और अनुशासन को पुनरुज्जीवित करने में अर्पित कर दिया। स्वामीजी सामाजिक सुधार को धर्म का एक महत्त्वपूर्ण अंग मानते थे, अतः सामाजिक सुधार और धार्मिक क्रांति के लिए उन्होंने आर्य-समाज की स्थापना की। उन्होंने मानव-जीवन के अंतिम एवं सर्वोच्च लक्ष्य मुक्ति को पाने के लिए वैदिक ज्ञान और साधनों पर अधिक वल दिया, जिसका वर्णन उनके जीवन-दर्शन पर प्रकाश डालते समय किया जा चुका है।

दयानंद ने अपनी शिक्षा-योजना को आश्रमधर्म पर आधारित किया है। यद्यपि बालक की सविधिक शिक्षा का प्रारंभ उपनयन संस्कार से होता है, तथापि अविधिक रूप में वह गर्भावस्था से ही शुरू हो जाती है। मस्तिष्क की रचना पर आहार का वड़ा प्रभाव पड़ता है, इसलिए स्वामीजी ने माता-पिता के लिए सात्विक आहार को उचित बताया है! सात्विक भोजन से स्वास्थ्य, वल, शक्ति और बुद्धि की वृद्धि होती है, मानसिक शांति मिलती है तथा सुंदर स्वभाव की रचना होती है। इन्होंने माता-पिता को मादक तथा बुद्धि के विकास में बाधक पेय और खाद्य वस्तुओं से बचने पर ज़ोर दिया है। भोजन के साथ ही उन्होंने माता-पिता को सुंदर एवं पवित्र विचारों को ग्रहण करने के लिए भी आदेश दिया है। आहार-विहार तथा शुद्ध विचारों पर इतना अधिक वल देने का कारण यह है कि अचेतनावस्था में भी बालक पर इन सब का प्रभाव पड़ता है। जन्म से पूर्व बालक के तीन संस्कार, गर्भाधान, पुंसवन और सीमंतोनयन, निर्धारित किये गये हैं। इन संस्कारों से यह सिद्ध होता है कि यद्यपि संतानोत्पत्ति का कारण मनुष्य की शारीरिक आवश्यकता है, फिर भी संतान उत्पन्न करना मनुष्य का पवित्र कर्त्तव्य है, जिसको समाज का धार्मिक समर्थन प्राप्त है। संस्कारों की गणना प्रथा या रीति-नीति के अंतर्गत नहीं करनी चाहिए। संस्कार शरीर और मन को शुद्ध बनाने के लिए तर्कसंगत धार्मिक कर्म हैं। हमारे देश के प्राचीन ऋषियों ने मानव-जाति की उन्नति के लिए अनेक संस्कारों का विधान किया है, जिनकी तुलना हम पाश्चात्य 'यूजे-निक्स' से कर सकते हैं। 'यूजेनिक्स' में शिक्षा को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता था, किंतु वाद में यह अनुभव किया गया कि यह 'यूजेनिक्स' (प्रजनन-विज्ञान) शिक्षा का संपूरक है। समन्वय का यह कार्य रस्क महोदय ने किया। प्लेटो के शब्दों में उनका कहना है, "वास्तव में जिस राज्य में पालन-पोषण और शिक्षा की उत्कृष्ट योजना का अनुसरण होता है, वहाँ के निवासी सद्स्वभाव वाले होते हैं। सद्शिक्षा के कारण

उनकी और अधिक उन्नति होती है। उनमें संतानोत्पत्ति के गुणों की वृद्धि होती है, जैसा कि क्षुद्र पशुओं में भी देखा जाता है। इस प्रकार उस राज्य की बहुमुखी प्रगति होती है।"†

इन संस्कारों के पीछे केवल शारीरिक उन्नति की ही भावना नहीं निहित है, वरन् इनमें मानसिक उन्नति और पूर्णतया आदर्शवादी चरित्र-निर्माण की भावना भी है। जब शुभ संकल्प के साथ संतानोत्पत्ति की जाती है, तब माता को ही बालक का प्रथम गुरु बनना पड़ता है। माता को चाहिए कि वह अपने बालक को पाँचवें वर्ष तक शिक्षा प्रदान करे और पिता आठवें वर्ष तक। तत्पश्चात् बालक को विद्यालय या आचार्यकुल में भेज देना चाहिए, जहाँ पूर्ण विद्वान, पवित्र विचारों से संपन्न तथा सभी शास्त्रों में निष्णात गुरु शिक्षा प्रदान करते हों।

शतपथ ब्राह्मण का वचन है, 'मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद' अर्थात् वही मनुष्य विद्वान हो सकता है जिसके माता, पिता और गुरु, तीनों, उत्तम शिक्षक हों। वह कुल धन्य है, वह बालक भाग्यवान है, जिसके माता-पिता धार्मिक और विद्वान हैं। माता का जितना सद्प्रभाव बालक पर पड़ता है, उतना अन्य किसी व्यक्ति का नहीं, क्योंकि कोई भी दूसरा व्यक्ति माँ की भाँति बालक पर ममता नहीं करता और न उसके समान बालक के कल्याण की चिंता ही कर सकता है। उपर्युक्त उद्धरण में 'मातृमान्' शब्द का जो उपयोग हुआ है उसका अर्थ यही है कि वही बालक वास्तव में मातृमान् है जिसकी माता धार्मिक और विदुषी है। वह माता धन्य है, जो गर्भाधान से लेकर पूर्ण विद्या प्राप्त होने तक निरंतर अपनी संतान को धर्म एवं सुशीलता का उपदेश करती है।

माता-पिता द्वारा बालक की प्रारंभिक शिक्षा

यह कहा जा चुका है कि पाँचवें वर्ष तक माता और आठवें वर्ष तक पिता बालक के शिक्षक होते हैं। इस काल में माता-पिता को अपनी संतान को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए जिससे वे अपने आचार-व्यवहार में पूर्णतया सभ्य और सुसंस्कृत बन सकें तथा किसी भी प्रकार की कुचेष्टा न करें। जब बालक बोलना आरंभ करे, तो माता को यह ध्यान रखना चाहिए कि वह उच्चारण करने में अपनी जिह्वा का ठीक ढंग से उपयोग करे। माता को ऐसा प्रबल प्रयत्न करना चाहिए कि बालक वर्णों का स्पष्ट उच्चारण अपेक्षित और यथोचित स्थान और प्रयत्न के साथ करे। उदाहरण के लिए, यदि 'प' वर्ण का उच्चारण करना है तो उसका उच्चारण-स्थान ओष्ठ है। 'प' के उच्चारण के लिए दोनों ओष्ठों को पूर्ण मिलाने के प्रयत्न की आवश्यकता पड़ती है। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत वर्णों के उच्चारण में आवश्यकतानुसार कम और अधिक समय लगना चाहिए। माता को ध्यान रखना चाहिए

† Rusk, R. R. : 'The Philosophical Bases of Education', 1929, pp. 48, 49

कि बालक मधुर, गंभीर और सुंदर स्वर में उच्चारण करने का अभ्यास करे। उसे इस प्रकार बोलना चाहिए जिससे अक्षर, मात्रा, शब्द, संहिता और अवसान आदि स्पष्ट रूप से पृथक्-पृथक् सुनायी पड़ें। जब बालक थोड़ा बोलने और समझने लगे, तो उसको यह शिक्षा दी जानी चाहिए कि अपने से बड़ों और छोटों का संबोधन किस प्रकार करना चाहिए तथा उनके समक्ष किस प्रकार का आचरण करे जिससे बालक समाज में कभी अप्रतिष्ठित न हो, अपितु सम्मानित हो। माता-पिता को बालकों के मन में विद्या-प्रेम, सत्संग और जितेंद्रियता के प्रति अत्यंत रुचि उत्पन्न करने का सदा प्रयास करते रहना चाहिए।

बालकों को व्यर्थ के खेल-कूद, रोने-हँसने तथा लड़ाई-झगड़े से बचाना चाहिए। उन्हें अधिक हर्ष या दुःख का अनुभव करने अथवा किसी वस्तु में पूर्णतया लिप्त हो जाने का अवसर नहीं देना चाहिए। उनमें ईर्ष्या और द्वेष का भाव नहीं होने देना चाहिए। माता-पिता को प्रत्येक संभव प्रयत्नों द्वारा बालकों में सत्यभाषण, शौर्य, धैर्य और प्रसन्नता आदि गुणों का विकास करना चाहिए। जब बालक पाँच वर्ष के हो जायँ, तब उनका अक्षरारंभ कराना चाहिए। तत्पश्चात् उन्हें इस प्रकार की कविता, श्लोक, सूत्र और गद्य-पद्य को अर्थसहित कंठस्थ कराना चाहिए जिनसे सत्य, धर्म, विद्या-प्रेम, ईश्वर-प्रेम और अपने से बड़ों और समान आयु वालों के साथ आचार-व्यवहार की शिक्षा मिलती हो। उन्हें, अंधविश्वासी बनाने वाली, सच्चे धर्म और विज्ञान के विरुद्ध भ्रांत बातों से बचने का उपदेश देना चाहिए, जिससे वे कभी कल्पित भूत-प्रेत आदि के भ्रमजाल में न पड़ें। बालकों को इस बात का ज्ञान करा देना चाहिए कि सभी धूर्त-रासायनिक, जादूगर, तंत्र, मंत्र और जादू-टोना करने वाले दुष्ट होते हैं और उनके कार्य धूर्ततापूर्ण होते हैं। भूत, प्रेत के बारे में मनु के विचार का समर्थन करते हुए स्वामीजी कहते हैं—जब गुरु का प्राणांत होता है, तब मृत शरीर (जिसका नाम प्रेत है) का दाह करने वाला शिष्य, प्रेतहार, मृतक को उठाने वालों के साथ दसवें दिन शुद्ध होता है। जब शरीर का दाह हो जाता है, तब उसका नाम 'भूत' होता है जिसका तात्पर्य है वह अमुक नाम का पुरुष था। अर्थ यह है कि जो वर्तमान में जीवित न रह कर मृतस्थ हो, उसका नाम भूत है। कुसंगति और कुसंस्कार के कारण लोग भूत, प्रेत, शाकिनी, डाकिनी आदि के भ्रमजाल में फँस जाते हैं। इसके अतिरिक्त वैद्यक-शास्त्र या पदार्थ-विद्या से अपरिचित अज्ञानी लोग सन्निपात, उष्णादि, शरीर के अन्य उन्मादादि मानस-रोगों का नाम भूत-प्रेत रख देते हैं और फिर उनके उपचार के लिए धागा, डोरा, मिथ्या तंत्र-मंत्र बँधवाते फिरते हैं अथवा देवी-देवता को भेंट चढ़ाते फिरते हैं।

इसी प्रकार स्वामीजी बालकों को ज्योतिषियों के भ्रम से बचने का उपदेश देते हैं। उनके मत में लाभ-हानि, जीवन-मरण, सुख-दुःख आदि ग्रहों के परिणाम न होकर

मनुष्य के अपने कर्मों के फल हैं। किंतु ऐसा बता कर स्वामीजी ज्योतिष-शास्त्र को झूठा नहीं प्रमाणित करते। ज्योतिष-शास्त्र में अंकगणित, बीजगणित और रेखागणित आदि विद्याएँ सच्ची हैं, किंतु फलित ज्योतिष झूठा है। जैसे पृथ्वी जड़ है उसी प्रकार सूर्यादि लोक भी हैं। वे चेतन तो नहीं हैं, जो क्रोधित होकर दुःख और शांत होकर सुख दें! इसके अतिरिक्त जितने भी व्यक्ति रसायन, मारण, मोहन, उच्चाटन और वशीकरण आदि लीला करने वाले हैं, वे भी पामर हैं। इन सब बातों को प्रारंभ से ही बालकों के हृदय में कूट-कूट कर भर देना चाहिए ताकि वे किसी के बहकावे में न आयें।

दंड

स्वामी दयानंद का यह कथन मनोविज्ञान के सिद्धांत के विचार से सत्य है कि वे ही बालक सभ्य और सुशिक्षित होते हैं, जिनके माता-पिता उन्हें अधिक लाड़-प्यार करके बिगाड़ते नहीं, वरन् आवश्यकता पड़ने पर दंड भी देते हैं। वह अपनी बात की पुष्टि के लिए पातंजलि के महाभाष्यों से उद्धरण देते हुए कहते हैं, "वे माता-पिता और शिक्षक जो अपनी संतान या शिष्य को आवश्यकतानुसार दंड देते हैं, वे मानो अपने हाथ से उन्हें अमृत पिलाते हैं तथा जो अपनी संतान या शिष्यों को लाड़-प्यार करते हैं, वे उन्हें अपने हाथ से विष पिलाकर नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं क्योंकि लाड़-प्यार से शिष्य दोषयुक्त हो जाते हैं और दंड से गुणयुक्त होते हैं।"† उचित दंड का समर्थन करते हुए भी स्वामी दयानंद का विचार है कि माता-पिता और शिक्षकों को चाहिए कि वे ईर्ष्या-द्वेष से प्रेरित होकर बालकों को दंड न दें। उन्हें ऊपरी व्यवहार में तो कठोर, किंतु मन में बालकों के प्रति सहृदय, कोमल और कृपालु होना चाहिए। बालक को दंड देते समय ऊपर से चाहे कठोर मुद्रा भले ही हो, किंतु दंड देने वाले का हृदय बालक के प्रति दया और करुणा-पूर्ण होना चाहिए।

नैतिक अनुशासन

माता-पिता और शिक्षकों को चाहिए कि बालकों को चोरी, जारी, आलस्य, प्रमाद, मादक पदार्थों का सेवन, मिथ्याभाषण, हिंसा, क्रूरता, ईर्ष्या-द्वेष और मोह का त्याग करने और सद्गुणों अर्थात् सत्यता और दया आदि को ग्रहण करने का उपदेश दें। स्वामी दयानंद का कथन है कि कोई व्यक्ति जब एक बार भी चोरी, जारी या मिथ्याभाषण करता है, तो लोग कभी भी उसकी प्रतिष्ठा और विश्वास नहीं करते। प्रतिज्ञा को भंग करने से व्यक्ति के चरित्र पर कलंक लगता है, अतः वचन दे देने पर, किसी भी मूल्य पर उसका

† सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः। लालनाश्रयिणो दोषास्ताड़नाश्रयिणो गुणाः। अध्याय ८।१।८॥

पालन करना चाहिए। अभिमान, छल, कपट और कृतघ्नता से स्वयं अपना ही मन दुखी होता है, फिर उससे दूसरे को कितना दुःख होता होगा, इसका अनुमान किया जा सकता है। स्वयं विश्वास कुछ करना और कहना कुछ और, तथा दूसरे को भ्रम में डाल कर अपना स्वार्थ-साधन करना कपट है। किसी दूसरे द्वारा किये गये उपकार को न मानना और कृतज्ञ न होना, कृतघ्नता है। बालक को क्रोध, कटुभाषण और बकवाद नहीं करना चाहिए। उन्हें मधुर और शांत वचन बोलना चाहिए। न अधिक बात करनी चाहिए और न कम। आवश्यकता के अनुसार ही बोलना उत्तम है। उसे अपने से बड़ों का सम्मान करना और तन-मन-धन से उनकी सेवा करनी चाहिए। माता-पिता और शिक्षक को अपने बालकों या शिष्यों को सत्परामर्श, धर्मयुक्त कर्मों को करने तथा बुरे कर्मों को त्यागने का उपदेश देना चाहिए। माता-पिता और आचार्य जिन-जिन उत्तम कार्यों के लिए आज्ञा दें, बालकों को उन्हें अवश्य करना चाहिए। बालकों को धर्म, विद्या और सदाचरण-संबंधी श्लोक, निघंटु, निरुक्त, अष्टाध्यायी अथवा अन्य सूत्र तथा वेदमंत्र कंठस्थ कराना चाहिए और इनकी पुनरावृत्ति कराते रहना चाहिए।

सबके लिए अनिवार्य शिक्षा

स्वामी दयानंद के विचार में बालक-बालिकाओं की शिक्षा का ध्यान रखना माता-पिता का परम पवित्र कर्त्तव्य है। एक दूसरे कवि के शब्दों में वह कहते हैं, 'वे माता-पिता अपनी संतान के शत्रु हैं, जो उन्हें शिक्षा नहीं देते। वे बालक विद्वानों की सभा में वैसे ही तिरस्कृत और उपेक्षित होते हैं जैसे हंसों के बीच में बगुला।'‡ बालकों को उच्चतम शिक्षा देने, उनके आचार-व्यवहार को सभ्य और सुसंस्कृत बनाने के लिए अपना तन-मन-धन अर्पित करना माता-पिता का परम कर्त्तव्य है। माता-पिता के अतिरिक्त राज्य और समाज का यह कर्त्तव्य है कि वह सब के लिए शिक्षा अनिवार्य कर दे। मनु के शब्दों में स्वामीजी का कथन है—सब अपने पाँच या आठ वर्ष की आयु के बालक-बालिकाओं को शिक्षा प्राप्त करने के लिए विद्यालय अवश्य भेजें। जो इस अवस्था के बालक-बालिकाओं को विद्यालय न भेज कर घर पर रखें, वे दंडनीय हों। इससे यह सिद्ध होता है कि स्वामी दयानंद सभी वर्णों के बालक-बालिकाओं के लिए शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक समझते हैं। वह ब्राह्मणों के अतिरिक्त क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सबके लिए शिक्षा को अनिवार्य मानते हैं क्योंकि यदि सभी वर्णों के लोग सभ्य और सुसंस्कृत होंगे, तो समाज में कोई भी असत्याचरण नहीं करेगा। स्त्रियों और द्विजेतर वर्णों की शिक्षा के संबंध में स्वामीजी के मतों का सविस्तार वर्णन आगे किया जायगा।

---

‡ माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः। न शोभते सभामध्ये हंस मध्ये बको यथा॥ 'चाणक्य नीति', २२, १११

गुरुकुल या आचार्यकुल

आठ वर्ष की अवस्था में उपनयन या यज्ञोपवीत संस्कार के उपरांत बालक-बालिकाओं को विद्यालयों में भेज देना चाहिए। गुरुकुल या विद्यालय किसी शांत स्थान में होना चाहिए। उन्हें किसी नगर या गाँव से पाँच मील की दूरी के भीतर स्थित नहीं होना चाहिए। बालकों के विद्यालय कन्या-विद्यालयों से कम से कम तीन मील की दूरी पर होने चाहिए। बालकों के विद्यालयों में सभी कर्मचारी पुरुष और कन्या-विद्यालयों की सभी कार्यकर्त्रियाँ स्त्रियाँ होनी चाहिए। पाँच वर्ष की आयु के बालक-बालिकाओं को एक दूसरे के विद्यालयों में प्रवेश करने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। ब्रह्मचर्याश्रम में उन्हें परस्पर एक दूसरे से निम्नांकित आठ प्रकार के मैथुनों से बचना चाहिए :—

(१) एक दूसरे को लोलुप दृष्टि से देखना।
(२) स्पर्श करना।
(३) मैथुन करना।
(४) घुलमिल कर वार्त्तालाप करना।
(५) परस्पर क्रीड़ा करना।
(६) एकांत सेवन करना।
(७) काम-विषयक पुस्तकें पढ़ना और वार्त्तालाप करना।
(८) विषय-विकार का ध्यान करना।
(अंतिम दोनों मानसिक मैथुन कहलाते हैं।)

अध्यापकों को चाहिए कि वे बालक-बालिकाओं को उपर्युक्त अष्ट मैथुनों से दूर रखें, जिससे बालक-बालिका पूर्ण विद्या, शिक्षा, शील-स्वभाव से युक्त तथा शरीर और मन से पुष्ट होकर नित्य आनंदपूर्वक रह सकें। सभी विद्यार्थियों को बिना किसी भेद-भाव के समान रूप से भोजन, वस्त्र और आसन दिए जाने चाहिए। विद्यार्थी चाहे राजकुमार हो या राजकुमारी अथवा दरिद्र माता-पिता की संतान, उसे तपस्वी होना चाहिए; और सभी प्रकार की सांसारिक चिंताओं से रहित होकर केवल विद्या प्राप्त करने में दत्तचित होना चाहिए। बालकों के हर प्रकार के मनोविनोदों में अध्यापकों को साथ रहना चाहिए, जिससे वे किसी प्रकार की कुचेष्टा, आलस्य या प्रमाद न कर सकें।

भोजन और वेश-भूषा

बालकों का भोजन स्वास्थ्य, बल और बुद्धि की वृद्धि करने वाला होना चाहिए। उन्हें नित्य समय पर भूख से थोड़ा कम और उतना ही भोजन करना चाहिए, जो सरलता-पूर्वक पच जाये तथा अजीर्ण न होने पाये। एक बार भोजन करने के बाद तीन घंटे तक

कुछ भी नहीं खाना चाहिए। भोजन का मनुष्य के शरीर, आत्मा और बुद्धि पर प्रभाव पड़ता है इसलिए उनका भोजन विशुद्ध और सात्विक होना चाहिए। मांसाहार, माद्य पेय आदि तथा आमिष एवं पाशविक खाद्य-पेय पदार्थों का परित्याग करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त अम्ल, तिक्त, कषाय अर्थात् राजसिक एवं तामसिक खाद्यों का भी त्याग करना चाहिए। प्रसन्नचित्त होकर खूब चबा-चबा कर भोजन करना उत्तम है, जिससे वह ठीक ढंग से पच जाये। वेश-भूषा सरल और सादी होनी चाहिए क्योंकि वस्त्रादि से मनुष्य के आचार-व्यवहार का परिचय मिलता है। बालकों को 'सादा जीवन उच्च विचार' के आदर्श का पालन करना चाहिए।

विद्याध्ययन-काल

ब्रह्मचर्य-पालन करते हुए विद्या प्राप्त करने की न्यूनतम अवधि पच्चीस वर्ष है। यदि कोई व्यक्ति आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहता है तो कर सकता है, किंतु यह तभी संभव है जब उसे पूर्ण ज्ञान की उपलब्धि हो, अपने मस्तिष्क तथा इंद्रियों पर नियंत्रण हो और वह सांसारिक दोषों से रहित पूर्ण योगी हो।

स्वामी दयानंद के मतानुसार बालक का प्रथम उपनयन संस्कार अर्थात् यज्ञोपवीत घर पर होना चाहिए और उसे गायत्री मंत्र का उपदेश दिया जाना चाहिए, किंतु विद्यालय या गुरुकुल में प्रविष्ट होने के समय उसका द्वितीय उपनयन संस्कार करना चाहिए। इसमें उसे अर्थ के साथ गायत्री मंत्र का उपदेश करना चाहिए। गायत्री मंत्र का ज्ञान अर्थसहित करा देने के पश्चात् बालक को 'संध्योपासना' तथा उसकी विधियों—स्नान, आचमन, प्राणायाम को सिखाना चाहिए। शरीर के वाह्य अवयवों की शुद्धि और आरोग्यता के लिए स्नान आवश्यक है। प्राणायाम करने से शारीरिक और आंतरिक अशुद्धियों का उत्तरोत्तर नाश होता जाता है और आत्मा में ज्ञान का प्रकाश हो जाता है। मनु के अनुसार, प्राणायाम की महिमा बताते हुए स्वामीजी का कथन है, जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्णादि धातुओं का मल नष्ट हो जाता है और वे शुद्ध हो जाती हैं, वैसे ही प्राणायाम द्वारा मन इंद्रियों आदि के दोष नष्ट हो जाते हैं और मन तथा शरीर निर्मल हो जाता है। बालक और बालिकाओं दोनों को प्राणायाम की शिक्षा दी जानी चाहिए। संध्योपासना और प्राणायाम एकांत और शांत स्थान में करना चाहिए जिससे चित्त एकाग्र हो सके। संध्योपासना के पश्चात् बालकों को 'देवयज्ञ' की क्रिया सिखानी चाहिए और उन्हें नित्य नियमपूर्वक संध्या, प्राणायाम और देवयज्ञ करना चाहिए। 'देवयज्ञ' का अर्थ है हवन। आर्षग्रंथों में हवन या अग्निहोत्र को स्वर्ग अर्थात् सुख-शांति का प्रदाता कहा गया है। दुर्गंधयुक्त वायु से रोग उत्पन्न होते हैं और रोग से प्राणियों को कष्ट पहुँचता है, अतः दूषित वायु को दूर करने के लिए तथा वायु को शुद्ध बनाने के लिए हवन करना

परम आवश्यक है। हवन का महत्त्व केवल धार्मिक दृष्टि से ही नहीं, वरन् स्वास्थ्य-विज्ञान के विचार से भी सर्वोपरि है। हवन से रोग के कीटाणु नष्ट होते हैं और शुद्ध वायु से शरीर में धारणा-शक्ति अर्थात् प्राण-शक्ति की वृद्धि होती है।

आचार्य या अध्यापक को तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार शिष्य को इस प्रकार उपदेश करना चाहिए—"हे ब्रह्मचारिन ! तू सदा सत्य बोल, धर्म का आचरण कर, प्रमादरहित होकर पठन-पाठन कर। पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर समस्त विद्याओं को ग्रहण करके आचार्य को प्रिय धन देकर विवाह कर और संतान की उत्पत्ति कर। प्रमादवश सत्य और धर्म का त्याग कभी मत कर। आलस्यवश आरोग्य और बुद्धिमत्ता का त्याग कभी मत कर। उत्तम ऐश्वर्य की वृद्धि का त्याग मत कर। पठन-पाठन की उपेक्षा कभी मत कर। विद्वान माता-पिता और अतिथियों की सेवा में प्रमाद मत कर। धर्मयुक्त कार्य और सत्यभाषण किया कर। पापाचरण कभी मत कर। हमारे उत्तम गुणों को ग्रहण कर, दोषों को नहीं।† सदा विद्वान और धर्मात्मा ब्राह्मण का सत्संग और उनका विश्वास कर। दान देना—श्रद्धा से या अश्रद्धा से, शोभा के लिए देना या लज्जा से, भय से देना और संकल्प से देना। कर्म, उपासना या ज्ञान के संबंध में किसी प्रकार का जब कभी तुझे संशय उत्पन्न हो, तो विचारशील, पक्षपातरहित, आर्द्रचित्त, पवित्रात्मा, दर्शन और विज्ञान में दक्ष धर्मात्मा ब्राह्मण (योगी हो या न हो) के समान आचरण कर। यही आदेश, यही उपदेश और यही वेद की शिक्षा है। इसी प्रकार व्यवहार कर और इसी आज्ञा का पालन कर।"

शिक्षा से तात्पर्य

शिक्षा के विषय में विचार प्रकट करते हुए स्वामी दयानंद ने लिखा है, जिससे मनुष्य विद्या आदि शुभ गुणों को प्राप्त करें और अविद्या आदि दोषों को त्याग कर सदा आनंदित रह सकें, वह शिक्षा है। जिससे पदार्थ का स्वरूप यथावत् जान कर ग्रहण करने योग्य गुणों को लेकर अपने और दूसरों को सुखी बना सकें, वह विद्या है। जिससे पदार्थों के स्वरूप का प्रतिकूल ज्ञान हो और जिसे जान कर अपना और दूसरे का अहित कर लिया जाय, वह अविद्या है। इस प्रकार पदार्थ के यथार्थ ज्ञान, आत्मकल्याण तथा पर-कल्याण में प्रवृत्त करनेवाले ज्ञान को स्वामीजी ने शिक्षा या विद्या की संज्ञा प्रदान की और सत्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए वैदिक शिक्षा-योजना बनायी।

शिक्षायोजना अथवा पाठ्यक्रम

स्वामी दयानंद ने पठन-पाठन की जो विधि बतायी है, उसके अनुसार कोई व्यक्ति बीस-इक्कीस वर्ष में वेदों, उपवेदों तथा अन्य विज्ञानों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

---

† यान्यस्माक सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ॥ तैत्ति० प्रपा० ७; अनु० ११।

विषयों का अध्ययन इस प्रकार करना चाहिए :—

(१) सर्वप्रथम सभी बालक-बालिकाओं को पाणिनिकृत शिक्षा का ज्ञान कराना चाहिए। माता-पिता और अध्यापकों का कर्त्तव्य है कि बालकों को अक्षरों का शुद्ध उच्चारण उचित प्रयत्न और उचित स्थान के साथ सिखायें अर्थात ह्रस्व, दीर्घ या प्लुत वर्णों के उच्चारण में जिह्वा का यथोचित प्रयोग करना, कम या अधिक समय लगाना और उनके उच्चारण-स्थान बताना चाहिए।

(२) 'शिक्षा' के पश्चात् विद्यार्थी को व्याकरण का बोध कराना चाहिए। व्याकरण के अंतर्गत अष्टाध्यायी के सूत्रों का पाठ, धातुपाठ, उणादिगण और महाभाष्य का अभ्यास कराना चाहिए। परिश्रम और बुद्धिमत्तापूर्ण पठन-पाठन से तोन वर्ष में बालक वैयाकरण हो सकता है।

(३) व्याकरण का अभ्यास कर लेने के बाद यास्कमुनिकृत निघंटु (वैदिक शब्दकोष) तथा निरुक्त (भाषाशास्त्र) ग्रंथों को अर्थ के सहित छः या आठ महीने में पढ़ाना चाहिए।

(४) इसके पश्चात् विद्यार्थी को पिंगलाचार्यकृत 'छंदोग्रंथ' पढ़ाना चाहिए जिससे वह वैदिक और लौकिक छंदों का परिज्ञान, नवीन रचना और श्लोक बनाने की रीति समझ सके। छंदोग्रंथ का अध्ययन चार महीने में पूर्ण कर लेना चाहिए।

(५) तदनंतर विद्यार्थी को मनुस्मृति, वाल्मीकि रामायण, विदुरनीति तथा महाभारत के चुने हुए पर्वों का अध्ययन कराना चाहिए, जिससे व्यसनों को दूर कर आचरण का सुधार हो सके। इन ग्रंथों को एक वर्ष के भीतर समाप्त कर लेना चाहिए।

(६) तदुपरांत विद्यार्थी को ६ शास्त्रों—पूर्वमीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदांत को ऋषियोंकृत व्याख्यासहित पढ़ाना चाहिए, किंतु वेदांतशास्त्र के पढ़ने के पूर्व विद्यार्थियों को ईश, केन, कठ, मुंडक, छांदोग्य आदि दस प्रमुख उपनिषदों का अध्ययन करना आवश्यक है। इन सब ग्रंथों को दो वर्ष के भीतर पढ़ लेना चाहिए।

(७) शास्त्र और उपनिषद्-ग्रंथों के पश्चात् छः वर्षों के भीतर चारों ब्राह्मण—ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ—के साथ चारों वेदों को शब्द, स्वर, संबंध तथा क्रियासहित पढ़ाना चाहिए।

(८) वेदों और ब्राह्मणों के पश्चात् चार उपवेदों—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा अर्थवेद (शिल्पविद्या) का पठन कराना चाहिए। आयुर्वेद में चरक, सुश्रुत आदि द्वारा प्रणीत ग्रंथों का अर्थ, क्रिया, शस्त्र, छेदन, भेदन, लेप, चिकित्सा, निदान, औषधि, पथ्य, वस्तु के गुण आदि के साथ चार वर्ष में अध्ययन करना चाहिए। इसी प्रकार धनुर्वेद का ज्ञान, गांधर्ववेद का ज्ञान तथा शिल्पवेद का ज्ञान दो-दो वर्षों में प्राप्त करना चाहिए।

(९) अंत में ज्योतिषशास्त्र, बीजगणित, अंकगणित, भूगोल और भूगर्भ-विद्या आदि को यथावत् सीखना चाहिए, किंतु यह ध्यान रखना चाहिए कि स्वामीजी फलित

ज्योतिष के पठन-पाठन के विरुद्ध हैं क्योंकि वह उसे मिथ्या और धोखा समझते हैं।

स्वामीजी ने पाठ्य-योजना के अंतर्गत नास्तिकों द्वारा लिखे गये ग्रंथों का अध्ययन करने का निषेध किया है क्योंकि नास्तिकों के विचारों का मस्तिष्क पर एक बार प्रभाव पड़ जाने पर विद्यार्थी सत्य को पहचान नहीं सकता है। पठन-पाठन के संबंध में स्वामीजी ने कुछ ऐसी पुस्तकों का उल्लेख किया है, जो विद्यार्थी के लिए त्याज्य हैं। व्याकरण में 'कातंत्र', 'सारस्वत', 'चन्द्रिका' आदि तथा कोश में 'अमरकोश' आदि को उन्होंने निषिद्ध बताया है क्योंकि इनके निर्माता ऋषि नहीं हैं, वरन् अल्पशास्त्र-पठित व्यक्ति हैं और जिनके भीतर पक्षपात की भावना निहित है। इन ग्रंथों के भ्रम में फँस कर विद्यार्थी सत्य की खोज में असफल रहता है।

गुरु-शिष्य

अध्यापकों और विद्यार्थियों को तैत्तिरीय उपनिषद् (७,९) में वर्णित नियमों का पालन करना चाहिए : "सदाचार के साथ पढ़ें और पढ़ायें; सत्य बोलें, सत्य का आचरण करें और सद्विचारों का अनुसरण करते हुए पढ़ें और पढ़ायें; हर्ष, शोक, सांसारिक सुख-दुःख से विरक्त हो कर सन्मार्ग पर चलते हुए वेदों तथा अन्य सद्विज्ञानों को पढ़ें और पढ़ायें; अपनी इंद्रियों का पूर्णतया निग्रह करके पढ़ें और पढ़ायें; अपने मन को दूषित कर्मों से हटा कर पढ़ें और पढ़ायें; अग्नि, प्रकाश, विद्युत् आदि प्राकृतिक शक्तियों के गुणों को समझते हुए पढ़ें और पढ़ायें; प्रतिदिन अग्निहोत्र (हवन) करते हुए पढ़ें और पढ़ायें; अतिथि-सेवा करते हुए पढ़ें और पढ़ायें; मानव-व्यवहारों को यथायोग्य करते हुए पढ़ें और पढ़ायें; संतान और प्रजा का पालन करते हुए पढ़ें और पढ़ायें; वीर्य की रक्षा करते हुए पढ़ें और पढ़ायें; और अपनी संतान और शिष्य का पालन करते हुए पढ़ें और पढ़ायें।"

उपर्युक्त वाक्यों से यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि अध्यापक और विद्यार्थियों को अपनी सामान्य जीवन-योजना में किस प्रकार आचरण करना चाहिए। इसके अतिरिक्त तैत्तिरीय उपनिषद् के वाक्यों से यह भी ज्ञात होता है कि अध्यापक को विषयों का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। अध्यापक और विद्यार्थी दोनों को उन वस्तुओं का त्याग करना चाहिए, जिनसे ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग में बाधाएँ पड़ती हैं, उदाहरणार्थ, (१) स्वास्थ्य, शक्ति, बुद्धि, साहस, राजशक्ति, धन आदि की प्राप्ति में सहायक—ब्रह्मचर्य में अविश्वास। (२) एक ईश्वर की उपासना न करके स्थान-स्थान पर भटक करके मूर्तिपूजा में समय नष्ट करना, (३) पंच देव—माता, पिता, गुरु, संन्यासी और महान पुरुषों की सेवा में आलस्य करना, और (४) दुष्ट जनों की संगति।

गुरु और शिष्य, दोनों के जीवन का अंतिम लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति ही है, अतः दोनों एक ही मार्ग के पथिक हैं। उन्हें उन्नति-पथ पर निरंतर अग्रसर रहने के लिए तमोगुण—

क्रोध, मलीनता, आलस्य, प्रमाद आदि, रजोगुण—ईर्ष्या, द्वेष, स्वाभिमान आदि का परित्याग करके, विशुद्ध सात्विक गुणों—शान्त प्रकृति, पवित्रता, सुविचार आदि को धारण करना चाहिए। इसके अतिरिक्त उन्हें यम† और नियम‡ का पालन करना सबसे आवश्यक है। यमों के विना केवल नियमों के पालन मात्र से उन्नति के स्थान पर अवनति ही होती है।

असीम आनंद की प्राप्ति के लिए सत्यज्ञान, सत्य-दर्शन का अध्ययन और योगाभ्यास ही आवश्यक साधन हैं। यहाँ यह स्पष्टतः समझ लेना चाहिए कि अंधविश्वास और उसके अनुसरण का सत्य की प्राप्ति में कोई स्थान नहीं है। ज्ञान की प्राप्ति के साधन—श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार का वर्णन जीवन-दर्शन के अंतर्गत हो चुका है। इनसे यह स्पष्ट है कि ज्ञान के साधन तर्क और अनुभव हैं। शिष्य को गुरु का उपदेश अंधविश्वासी की भाँति कदापि ग्रहण नहीं करना चाहिए वरन् तर्क, ध्यानयोग आदि के आधार पर उसकी जाँच करे और सत्य प्रतीत होने पर ही स्वीकार करना चाहिए। यही कारण है कि गुरु आरंभ में ही शिष्य को सचेत कर देता है, 'हमारे उत्तम गुणों को ग्रहण कर, दोषों को नहीं'। दूसरे शब्दों में, शिष्य को प्रत्येक अवसर पर विवेक से काम लेना चाहिए।

गुरु और शिष्य जो कुछ भी पढ़ें या पढ़ाएँ उसकी सत्यता का निर्णय करने के लिये स्वामी जी ने पाँच कसौटियाँ बतायी हैं। (१) जो ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव और वेदों के अनुकूल हो वही सत्य है, उससे विरुद्ध असत्य; (२) जो सृष्टिक्रम के अनुकूल है वही सत्य और जो उसके विरुद्ध है वह असत्य। उदाहरण के लिए, यदि कोई कहे कि सूर्य पश्चिम से निकला है तो उसका यह कथन सृष्टिक्रम के विरुद्ध होने से असत्य है; (३) आप्त अर्थात् धार्मिक विद्वान, सत्यवादी, पक्षपात रहित व्यक्तियों के सिद्धांत तथा व्यवहार के अनुकूल बातें ग्राह्य और उनके विरुद्ध अग्राह्य हैं; (४) आत्मा की साक्षी, अर्थात् जो अपने लिये सुखदाई और दुखदाई है वही सबके लिए भी है। दूसरों के प्रति व्यवहार का यही मानदंड होना चाहिए; (५) आठ प्रमाण—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव और अभाव। धर्म-अधर्म और सत्य-असत्य का निर्णय इन्हीं के आधार पर होना चाहिए। (परिशिष्ट देखिये)।

---

† यम पाँच होते हैं :—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय—मन, वचन, कर्म से चोरी का त्याग, (४) ब्रह्मचर्य, (५) अपरिग्रह—धन, शक्ति आदि सांसारिक वस्तुओं के लिये लोलुपता का त्याग और स्वत्वाभिमान रहित होना।

‡ नियम पाँच होते हैं :—(१) शौच (शारीरिक और मानसिक पवित्रता), (२) सन्तोष—निरुद्यम होकर प्रसन्न रहना सन्तोष नहीं है। जितना संभव हो, उतना पुरुषार्थ करना, हानि-लाभ में हर्ष, शोक न करना, (३) तप, (४) स्वाध्याया, पढ़ना पढ़ाना, (५) ईश्वर प्रणिधान भक्ति द्वारा अपने को ईश्वर के अर्पण करना।

धर्म का स्वरूप

स्वामी दयानंद धर्म के वास्तविक स्वरूप को पहचानने पर बल देते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक परिस्थिति में पक्षपातरहित न्याय, मन, वचन, कर्म से सत्याचरण और ईश्वराज्ञा अर्थात् वेद-विहित गुणों को ग्रहण करना, धर्म है। ईश्वराज्ञा को भंग करने वाले अर्थात् वेद-विरुद्ध—पक्षपातपूर्ण, 'अन्यायाचरण, मिथ्याभाषणादि कर्म, अधर्म हैं। वेद को स्वतः प्रमाण मानने के कारण स्वामी जी उनके द्वारा सभी धर्मों में एकता उत्पन्न करना चाहते हैं। वे धर्म को जीवन-विज्ञान (Science of Livieg) के रूप में देखते हैं जिसके सिद्धांतों का पालन करके कोई भी व्यक्ति आत्मोन्नति कर सकता है। धर्म उनके अनुसार, रूढ़िवादिता, अंधविश्वास और संप्रदायवाद से परे है। धर्म को जीवन-विज्ञान मानकर उसके द्वारा, स्वामीजी, केवल कुछ इने-गिने व्यक्तियों का ही उत्थान नहीं चाहते वरन् संपूर्ण मानव-जगत का। सत्य, चाहे धर्मप्रधान हो या धर्मनिरपेक्ष, एक जाति, एक देश की ही बपौती नहीं है। उस पर सब मानव-जाति का समान अधिकार है।

द्विजेतर एवं स्त्री-शिक्षा

धर्म के वृहत् रूप को स्वीकार कर, स्वामी दयानंद सभी व्यक्तियों को वेदों के अध्ययन का अधिकारी समझते हैं। "स्त्री शूद्रौ नाधीयतामिति श्रुतेः" अर्थात् स्त्रियों और शूद्रों को वेदों का अध्ययन नहीं करना चाहिए, अपने समय के इस प्रचलित विश्वास का खंडन करते हुए उन्होंने कहा है कि यह उद्धरण पूर्णतया अप्रामाणिक है क्योंकि वेदों तथा अन्य प्रामाणिक ग्रंथों में कहीं भी इसका उल्लेख नहीं पाया जाता। अपने कथन के समर्थन में यजुर्वेद (अ० २६,२) का उद्धरण प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा है कि वेदों के अध्ययन और श्रवण का सबको अधिकार है : यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय। अर्थात् 'परमेश्वर का कथन है कि जिस प्रकार मैंने सब मनुष्यों के कल्याणार्थ और चारों वेदों का मोक्षदायक उपदेश किया है, वैसे ही तुम भी करो।'

उपर्युक्त मंत्र में 'जन' शब्द का अर्थ, कुछ लोग 'द्विज' से लगाते हैं और उनके अनुसार स्मृति आदि ग्रन्थों में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को ही वेद पढ़ने का अधिकार दिया गया है, स्त्री और शूद्रों को नहीं। स्वामी दयानन्द इस मंत्र के दूसरे चरण (ब्रह्मराजनाभ्यां आदि) पर ध्यान आकर्षित करते हुए ईश्वर के इस आदेश को स्पष्ट करते हैं, 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, भृत्य आदि तथा शूद्रातिशूद्र के लिए भी मैंने वेदों का प्रकाश किया है, वैसा ही तुम भी करो,' अर्थात् सब मनुष्यों को वेदों का उपदेश करो, पढ़कर सुनाओ, ताकि वे ज्ञान ग्रहण करके, सब दुःखों से रहित होकर वास्तविक आनन्द प्राप्त करें। स्वामी दयानन्द कहते हैं कि ऋषियों द्वारा प्रणीत ग्रंथों में जहाँ कहीं भी शूद्रों के

लिए वेदों का अध्ययन निषिद्ध बताया गया है वहाँ इसका अभिप्राय केवल यही है कि जिनको पढ़ने-पढ़ाने से कुछ भी ज्ञान न हो सके, वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने के कारण शूद्र कहलाता है। ऐसे व्यक्ति का पढना-पढ़ाना व्यर्थ है। यह तो मनोवैज्ञानिक सत्य है कि सबकी बुद्धि समान नहीं होती। तथ्य यह है कि स्वामीजी वर्णव्यवस्था को जन्म के आधार पर नहीं वरन् व्यक्तियों के गुण, कर्म और स्वभाव के आधार पर मानते हैं। प्रत्येक वर्ण के अपने-अपने गुण और कर्म होते हैं। ब्राह्मण कुल में उत्पन्न बालक यदि ब्राह्मणों के उपयुक्त कार्य नहीं करता तो उसको ब्राह्मण नहीं मानना चाहिए।

समाज को व्यवस्थित रखने के लिए स्वामीजी ने गुरुओं व अध्यापकों के प्रति कहा है कि उन्हें ब्राह्मणों और क्षत्रियों के अतिरिक्त इतर वर्णों अर्थात् वैश्यों और उत्तम शूद्रजनों को भी विद्या का अभ्यास अवश्य कराना चाहिए क्योंकि यदि केवल ब्राह्मण ही विद्याभ्यास करें और दूसरे वर्ण वाले उससे वंचित रहें तो विद्या, धर्म, राज्य और धन आदि की वृद्धि कभी नहीं हो सकती। कारण यह है कि ब्राह्मण का एकमात्र कर्त्तव्य ज्ञान की उपलब्धि और उसका प्रसार है। वह क्षत्रियादि से जीविका प्राप्त करके जीवनयापन करता है और उनके लिए नियम-व्यवस्था प्रदान करता है। अशिक्षित होने से क्षत्रिय उचित-अनुचित में भेद नहीं कर पायेंगे और न ब्राह्मणों के उपदेशों को समझ पायेंगे। इस प्रकार सब प्रकार से निर्भय और अपने कर्त्तव्यों से रहित होकर ब्राह्मण स्वार्थसाधन एवं पाखंड में लिप्त हो जायेंगे और उन्हीं का अनुकरण करके इतर वर्ण के लोग भी भ्रष्ट होंगे। जब क्षत्रिय आदि इतर वर्ण के लोग विद्वान होंगे, तब ब्राह्मण अधिक विद्याभ्यास और धर्म-मार्ग का अनुसरण करेंगे क्योंकि अन्य वर्णों के सामने पाखंड और झूठा व्यवहार नहीं चल सकता। अतः इसमें स्वयं ब्राह्मणों का कल्याण है कि वे दूसरे वर्णों को भी वेदादि का अभ्यास यत्नपूर्वक करायें क्योंकि क्षत्रिय आदि अन्य वर्ण वाले ही विद्या, धर्म, राज्य और धन की वृद्धि करने वाले हैं। वे भिक्षा-वृत्ति या दान पर अपना जीवन-निर्वाह नहीं करते, अतः वे विद्याव्यवहार आदि में पक्षपाती भी नहीं हो सकते। जब सब वर्णों के लोग विद्वान और सुशिक्षित होते हैं, तब कोई भी पाखंडपूर्ण, अधर्मयुक्त और मिथ्या व्यवहार को प्रचलित नहीं कर सकता।

इससे यह सिद्ध होता है कि क्षत्रियादि वर्णों को नियम और व्यवस्थानुकूल चलाने वाले ब्राह्मण तथा संन्यासी हैं और ब्राह्मण तथा संन्यासी को सुनियम पर चलाने वाले क्षत्रियादि होते हैं। दोनों का संबंध अन्योन्याश्रित है। इसलिए सभी वर्णों के स्त्री-पुरुषों को विद्या और धर्मसिद्धान्तों की शिक्षा दी जानी चाहिए।" सबके लिए शिक्षा को अनिवार्य बताकर स्वामी दयानंद ने शिक्षा में जनतंत्रवाद की भावना का समर्थन किया है।

स्त्रियों द्वारा वेदों के अध्ययन के संबंध में स्वामी दयानंद अथर्ववेद का एक मंत्र उद्धृत करते हैं: 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।' अर्थात् जिस प्रकार लड़के

ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए, पूर्ण विद्वान और सुसंस्कृत होकर, अपने अनुकूल विदुषी, प्रिय स्वभाव वाली युवती के साथ विवाह करते हैं उसी प्रकार कन्याओं को भी कौमार्य का पालन करते हुए, वेदों और शास्त्रों का अध्ययन कर, पूर्ण विद्या और सदाचार को प्राप्त करके युवावस्था में अपने समान, प्रिय, विद्वान और पूर्ण युवावस्था प्राप्त पुरुष का वरण करना चाहिए। श्रौतसूत्र में लिखा है, 'इमं मत्रं पत्नी पठेत्,' अर्थात् पत्नी यज्ञ में यह मंत्र पढ़े। शतपथ ब्राह्मण में भी लिखा है कि प्राचीन भारत में गार्गी आदि स्त्रियाँ वेद और शास्त्रों को पढ़कर पूर्ण विदुषी हुई थीं। इससे यह विदित होता है कि स्त्रियों को भी वेद-शास्त्र का अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

यह स्पष्ट है कि यदि घर में स्त्री अशिक्षित और विद्वान हो अथवा इसके प्रनिकूल, स्त्री विदुषी और पुरुष अशिक्षित हो तो घर में नित्यप्रति देवासुर संग्राम मचा रहेगा। ऐसी दशा में फिर सुख कहाँ ? यदि स्त्रियाँ सुशिक्षित न होंगी तो गृह-कार्यों को कुशलता-पूर्वक कैसे कर सकेंगी ? अतः स्त्री और पुरुष दोनों का सुशचित होना आवश्यक है। ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण की स्त्रियों को सब विद्याओं का अध्ययन करना चाहिए। वैश्य वर्ण की स्त्रियों के लिए व्यावसायिक शिक्षा प्र प्त करना उपयोगी है और शूद्र वर्ण की स्त्रियों को पाक-विद्या आदि में निपुण होना चाहिए। जिस प्रकार पुरुषों को कम से कम व्याकरण, धर्म और अपने व्यवसाय की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए उसी प्रकार स्त्रियों को भी व्याकरण, धर्म, वैद्यकशास्त्र, गणित और शिल्प आदि सीखना चाहिए। क्योंकि इनके सीखे बिना सत्या-सत्य का निर्णय, पति या अन्यजनों के प्रति उचित व्यवहार, संतानोत्पत्ति और उनका पालन-पोषण एवं शिक्षा तथा घर के अन्य कामों को समुचित रूप से संपन्न करना संभव नहीं है। वैद्यक-विद्या के अभाव में औषधियों के समान गुणकारी अन्न-पान नहीं बनाया जा सकता है। गुणकारी अन्न-पान द्वारा ही परिवार के लोग स्वस्थ रह सकते हैं और घर में रोग का प्रवेश नहीं होता है। घर आदि बनवाने के लिए शिल्प-विद्या का ज्ञान तथा हिसाब-किताब और समझने और समझाने के लिए गणित की शिक्षा आवश्यक है। वेद-शास्त्र का ज्ञान भी स्त्रियों के लिए अनिवार्य है क्योंकि इसके बिना ईश्वर और धर्म के वास्तविक स्वरूप को नहीं जाना जा सकता है और न अधर्म से ही बचा जा सकता है।

स्वामी दयानंद के शिक्षा-दर्शन का अध्ययन कर लेने के उपरांत जब हम उनके संपूर्ण कृतित्व पर विश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार करते हैं तब हमें यह ज्ञात होता है कि मुक्ति को जीवन का चरम उद्देश्य मानकर उन्होंने प्राचीन भारतीय दार्शनिक परंपरा का समर्थन किया है। इस चरम लक्ष्य के अंतर्गत ही जीवन के अन्य लक्ष्य भी आ जाते हैं। स्वामीजी प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तिगत उत्थान करना चाहते थे, किंतु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वह समाज की उपेक्षा करते थे। आर्यसमाज (श्रेष्ठ व्यक्तियों का समाज) की स्थापना करके उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि परम उद्देश्य की पूर्ति सामाजिक

जीवन व्यतीत करते हुए भी की जा सकती है। भारतीय दर्शन पर यह आरोप लगाया जाता है कि वह वैयक्तिक है, वह जीवन-संघर्ष से पलायन और वन में रहकर मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रेरित करता है, परन्तु स्वामी दयानंद ने इन आरोपों को असत्य प्रमाणित किया और भारतीय दर्शन के महत्व की स्पष्ट रूप से घोषणा की।

आर्यसमाज के सातवें, नवें और दसवें नियमों को देखने से ही ज्ञात हो जाता है कि स्वामीजी सामाजिक जीवन और सामाजिक प्रगति को कितना आवश्यक और महत्त्वपूर्ण मानते थे। आर्यसमाज के वे नियम क्रमशः इस प्रकार हैं : "सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्त्तना चाहिए।" "प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में संतुष्ट न रहना चाहिए, वरन् सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।" "सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम-पालने में परतंत्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतंत्र रहें।" इन नियमों पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि वह व्यक्ति को एक नागरिक के रूप में देखते थे, जिसके कुछ कर्त्तव्य और अधिकार हैं। इस प्रकार उन्होंने व्यक्ति और समाज के बीच समन्वय की स्थापना की।

'वर्णाश्रम धर्म' में उनका विश्वास इस तथ्य का द्योतक है कि वह व्यक्ति को जीविकोपार्जन करने वाले प्राणी के रूप में भी देखते थे ताकि व्यक्ति अर्थ के विचार से समाज पर भार न हो। और शिक्षा द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति चाहते थे। शिक्षा में सांस्कृतिक उद्देश्य की ओर उनका झुकाव स्पष्ट रूप से होता है। वह भारतीय संस्कृति के अनन्य भक्त थे और पुनः उसे उज्ज्वल रूप में व्यापक बनाने चाहते थे। आर्यसमाज का छठा नियम है : "संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।" शिक्षा की दृष्टि से इस नियम का विश्लेषण करने पर स्पष्ट रूप से यह दिखायी पड़ता है कि वह व्यक्ति का संतुलित विकास चाहते थे और जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए शारीरिक उन्नति को भी एक आवश्यक अंग मानते थे। साथ ही वह व्यक्ति को सामाजिक अर्थात् नैतिक दृष्टि से उच्च बनाना चाहते थे। कहने का तात्पर्य है, वह व्यक्ति के जीवन का समग्र दृष्टिकोण से मूल्यांकन करते थे।

वैदिक परंपरा और मनोवैज्ञानिक सिद्धांत के अनुकूल स्वामीजी सामान्यजनों के लिए प्रगतिशील बोध (Progressive realization) में विश्वास करते थे अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में विद्याध्ययन करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे, उसका पालन करे, फिर वानप्रस्थ का जीवन व्यतीत करे और अंत में संन्यास ग्रहण करे। चारों आश्रमों में व्यक्ति सभी कार्य करते हुए अपना ध्येय जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति ही रखे। किंतु स्वामी जी के ही जीवन को देखने से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जिन व्यक्तियों में क्षमता एवं योग्यता हो और जो अपने संवेगों पर सरलतापूर्वक नियंत्रण स्थापित कर

सकें, वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी रह कर ब्रह्मचर्याश्रम से संन्यासाश्रम में प्रवेश कर सकते हैं और जीवन के चरम लक्ष्य की प्रत्यक्ष उपलब्धि (Direct realization) भी कर सकते हैं।

दार्शनिक दृष्टिकोण से आधुनिक युग में भारत के हितैषियों की शृंखला में प्रथम स्थान ग्रहण करने का श्रेय स्वामी दयानंद को है। उन्होंने भारत की जिस आदर्शवादी परंपरा की ज्योति को पुनः प्रदीप्त किया, उसका प्रकाश चतुर्दिक् व्याप्त होता गया क्योंकि मन सर्वत्र एक है और विचार संपूर्ण वायुमंडल में संचरण करते हैं।

आगामी अध्यायों में हम जिन दार्शनिकों का अध्ययन करेंगे उन सब ने स्वामी दयानंद के निम्नांकित शैक्षिक सिद्धांतों का अपने दृष्टिकोण से समर्थन किया है—

(१) जीवन को समग्र दृष्टि से देखना। परम उद्देश्य की प्राप्ति में अन्य सभी उद्देश्य निहित। व्यक्ति और समाज का समन्वय। समाज परम उद्देश्य की पूर्ति में बाधक नहीं।
(२) ब्रह्मचर्य में विश्वास।
(३) वर्णाश्रम-धर्म का समर्थन।
(४) दार्शनिक दृष्टि से 'धर्म' का मूल्यांकन और रूढ़िवादी रूप का परित्याग। धार्मिक शिक्षा अनिवार्य।
(५) मातृभाषा पर बल।

जीवन-दर्शन पर आधारित शिक्षा-संस्थाएँ

शिक्षा और जीवन के संबंध में स्वामी दयानंद के विचार आदर्शमात्र ही नहीं हैं, उनके विचारों में पूर्ण व्यावहारिकता भी है, जिसका अनुसरण करके जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है। यही कारण है कि उनके शिक्षा-सिद्धांतों और आदर्शों के आधार पर शिक्षा प्रदान करने वाली अनेक संस्थाएँ आज देश में महत्वपूर्ण कार्य कर रही हैं। इन संस्थाओं में 'कांगड़ी तथा ज्वालापुर गुरुकुल महाविद्यालय', हरिद्वार तथा वृंदावन गुरुकुल का प्रमुख स्थान है। दयानंद की शिक्षाओं के अनुकूल ये संस्थाएँ ब्रह्मचर्य और प्राचीन वैदिक शिक्षा को पुनरुज्जीवित करने में प्रयत्नशील हैं। यहाँ छः वर्ष से लेकर आठ वर्ष तक के बालकों को भर्ती किया जाता है। उनकी शिक्षा हिंदी के माध्यम से होती है और संस्कृत-साहित्य तथा आर्य-संस्कृति का अध्ययन विशेष रूप से कराया जाता है। इसके अतिरिक्त दयानंद के नाम पर देश में शिक्षा-केन्द्रों का जाल बिछा हुआ है, जिनमें यत्किंचित् रूप में वैदिक धर्म की शिक्षा दी जाती है।

बालकों के गुरुकुलों की भाँति देहरादून, बड़ौदा और सासनी (अलीगढ़) में कन्यागुरुकुल स्थापित हैं, जहाँ केवल बालिकाओं को शिक्षा दी जाती है। यहाँ बालकों की भाँति बालिकाओं को ब्रह्मचर्य का पालन कराया जाता है और वैदिक प्रणाली का अनुसरण

किया जाता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि स्वामीजी वैदिक शिक्षा-पद्धति, शिक्षा-प्रसार और जीवनोन्नति के महान प्रवर्त्तक एवं मार्गदर्शक थे, जिनके जीवन और आदर्शों से प्रेरणा लेकर शिक्षा और जीवन के क्षेत्र में क्रांतिकारी सफलताएँ प्राप्त की जा सकती हैं।

सहायक साहित्य

स्वामी दयानंद सरस्वती

१. सत्यार्थप्रकाश
२. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका
३. संस्कारविधि
४. यजुर्वेदभाष्यभूमिका
५, वेदांगप्रकाश
६. आर्याभिविनय
७. पंचमहायज्ञविधि
८. संस्कृतवाक्यप्रबोध
९. काशीशास्त्रार्थ
१०. भ्रान्तिनिवारण
११. वेदान्तिध्वान्तनिवारण
१२. भ्रमोच्छेदन
१३. वेदविरुद्धमतखंडन
१४. आर्योद्देश्यरत्नमाला

अन्य लेखक

1. Dr. Chiranjiva Bharadwaja : *Translation of Satyarthaprakasha*
2. Ganga Prasad Upadhyaya : *Translation of Satyarthaprakasha*
3. Ganga Prasad Upadhyaya : *The Origin, Scope and Mission of the Aryasamaj*
4. Ganga Prasad Upadhyaya : *Shankar, Ramanuja and Dayananda*
5. Ganga Prasad Upadhyaya : *Philosophy of Dayananda*
6. Ganga Prasad Upadhyaya : *Raja Ram Mohan Roy, Keshava Chandra Sen and Dayananda*
7. Sri Aurobindo : *Bankim, Tilak and Dayananda*
8. Vishwa Prakash : *Life and Teaching of Swami Dayananda*
9. H. B. Sarda : *Dayananda* Commemoration Volume, 1933
10. B. Sharma and Mahatma Atma Ram : *Sanskar Chandrika, A Commentary on Swami Dayananda's 'Sanskar-Vidhi'*

स्वामी विवेकानंद

जीवन और कार्य

महात्मा ईसा के विचारों और शिक्षाओं के प्रचार के लिए जो प्रयत्न सेंट पाल ने किया था, लगभग वैसा ही प्रयास विवेकानंद ने रामकृष्ण परमहंस के उपदेशों के लिए किया। दक्षिणेश्वर मंदिर में श्री रामकृष्ण ने अपने दिव्य स्पर्श द्वारा ज्ञान का जो बीज उनके हृदय में बोया, उसे विवेकानंद ने सारे विश्व में प्रसारित करके विश्व-धर्म का विकास किया। उन्होंने पाश्चात्य जगत् को वेदांत-सिद्धांत तथा भारत को व्यावहारिक वेदांत की शिक्षा दी और इस प्रकार लोक-जीवन के उद्धार एवं उत्थान का मार्ग दिखलाया। अपने जीवन के केवल चालीस वर्षों में ही स्वामीजी ने संसार के विभिन्न भागों में अपने गुरु रामकृष्ण परमहंस के नाम पर मठों और आश्रमों की स्थापना करके वेदांत-शिक्षा तथा लोक-सेवा का महान कार्य आरंभ किया।

बाल्यावस्था और शिक्षा

स्वामी विवेकानंद का जन्म, सन् १८६३ ई० में, भारत के विख्यात नगर कलकत्ता में हुआ था। वह जाति के बंगाली क्षत्रिय थे और संन्यास लेने के पूर्व उनका नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। कालेज में शिक्षा प्राप्त करते समय नरेन्द्रनाथ एक प्रसन्न-चित्त, खेल-कूद में भाग लेने वाले युवक थे, किंतु उनके मन में ज्ञान प्राप्त करने की अपार जिज्ञासा थी। कुश्ती, घूँसेबाज़ी, तैराकी तथा घुड़सवारी में वह बड़े निपुण थे, किंतु साथ ही कविता और दर्शन के प्रेमी भी थे। अपने विद्यार्थी-जीवन में ही वह पाश्चात्य दर्शन की सभी प्रणालियों से पूर्ण परिचित हो चुके थे तथा समकालीन दार्शनिकों के विचारों से अवगत थे। अंग्रेज़ी भाषा के कवियों में वर्ड्सवर्थ तथा शेली उनके प्रिय कवि थे। नरेन्द्रनाथ की तीव्र प्रतिभा से प्रभावित होकर उनके कालेज के प्रधानाचार्य, मिस्टर हेस्टी, ने

कहा था, 'नरेन्द्रनाथ सचमुच प्रतिभाशाली है। मैंने संसार के बहुत दूर-दूर देशों की यात्राएँ
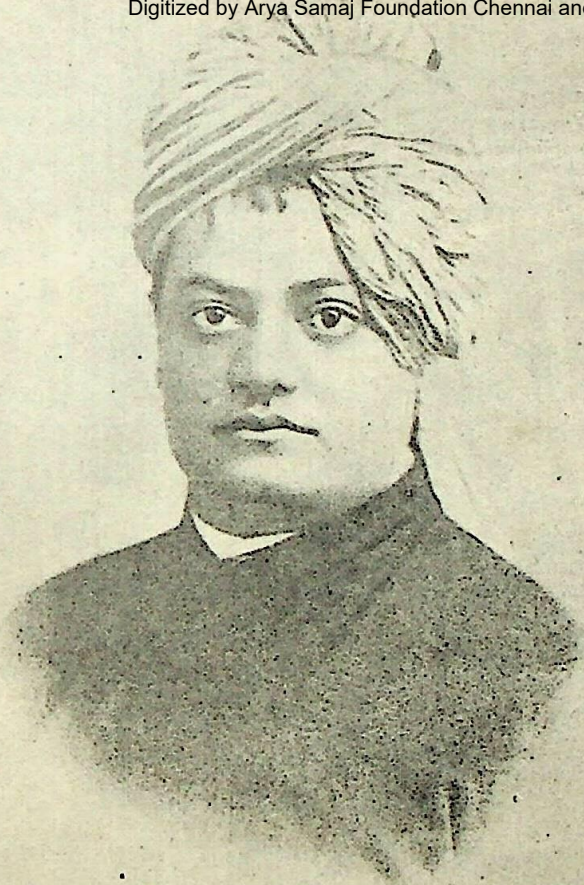
की हैं, किंतु किशोरावस्था में ही, इसके समान योग्य और महान संभावनाओं, वाला युवक मुझे जर्मन विश्वविद्यालयों में भी नहीं मिला।'

मिस्टर हेस्टी ने ही नरेन्द्रनाथ को एक दिन श्री रामकृष्ण परमहंस का परिचय दिया था। कक्षा में वर्ड्सवर्थ की एक कविता की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा कि इस कविता में जिस मानसिक पवित्रता तथा एक वस्तु पर चित्त को केन्द्रित करने के अनुभव का वर्णन है, वह मैंने केवल श्री रामकृष्ण परमहंस में देखा है। यदि दक्षिणेश्वर जाओ, तो तुम्हें इसका दूसरा अनुभव हो सकता है। मिस्टर हेस्टी के ये शब्द नरेन्द्रनाथ के मन में बैठ गये और वह श्री रामकृष्ण के दर्शन के लिए दक्षिणेश्वर मंदिर गये।

गुरु का प्रथम साक्षात्कार

नरेन्द्रनाथ की दक्षिणेश्वर-यात्रा उनके जीवन की अपूर्व घटना थी। इसने उनके जीवन की धारा को ही परिवर्तित कर दिया, जिसके कारण हिंदू-धर्म के इतिहास में एक नये अध्याय का प्रारंभ हुआ। दक्षिणेश्वर पहुँचकर उन्होंने श्री रामकृष्ण से प्रश्न किया, 'क्या आपने ईश्वर का साक्षात्कार किया है ?' उत्तर मिला, 'हाँ, मैं जैसे तुम्हें देख रहा हूँ, ठीक वैसे ही उसे भी। ईश्वर की अनुभूति प्राप्त की जा सकती है। कोई भी उसे देख सकता है और उससे वार्त्तालाप कर सकता है, किंतु इसकी चिंता कौन करता है। लोग अपने स्त्री-बच्चों, धन-संपत्ति के लिए विकल हैं। यदि कोई सचमुच ईश्वर के लिए व्याकुल हो तो वह स्वयं प्रत्यक्ष हो सकता है।' श्री रामकृष्ण के वचनों से नरेन्द्रनाथ को पूर्ण संतोष हुआ क्योंकि इसके पूर्व किसी ने उन्हें इतना संतोषपूर्ण उत्तर नहीं दिया था।

दिव्य अनुभूति की प्राप्ति

नरेन्द्रनाथ जब दूसरी बार श्री रामकृष्ण के दर्शन के लिए गये, तो उन्हें स्पष्ट रूप से उनकी दिव्य-शक्ति का अनुभव हुआ। श्री रामकृष्ण ने अपने मन में कुछ बुदबुदाते हुए अपनी दृष्टि उन पर केंद्रित कर दी और धीरे से उन्हें अपने निकट खींच कर अपना दाहिना चरण उनके शरीर पर रख दिया। इस स्पर्शमात्र से नरेन्द्रनाथ को विचित्र अनुभव होने लगा। उन्हें लगा, जैसे कमरे की दीवारें और सारी वस्तुएँ तीव्र गति से घूमती हुई विलीन होती जा रही हैं और उनके साथ ही सारा संसार एक रहस्यमय शून्य में समाता जा रहा है। वह भयभीत होकर चीख पड़े, जैसे मर रहे हों। रामकृष्ण ने हँसते हुए उनकी छाती पर हाथ रखा और कहा, 'अच्छा, अब शांत हो जाओ।' उनके इतना कहते ही नरेन्द्रनाथ की वह दिव्य अनुभूति समाप्त हो गयी और वह स्वाभाविक स्थिति में आ गये। इस घटना ने इनके मस्तिष्क को आमूलतः परिवर्तित कर दिया। वह श्री रामकृष्ण के शिष्य बन गये।

नरेन्द्रनाथ लगभग पाँच-छः वर्षों तक श्री रामकृष्ण के निकट-संपर्क में रहे। वह सप्ताह में एक या दो बार गुरु के पास जाते थे और प्रायः कुछ दिनों तक उनके साथ रहते थे। इस संपर्क के फलस्वरूप धीरे-धीरे उनका अंतःकरण आलोकित होता गया और श्री रामकृष्ण ने यह अनुभव कर लिया कि ये उनके आध्यात्मिक उत्तराधिकारी हो सकते हैं। साधना के आरंभिक दिनों में तो इन्हें गुरु की शिक्षाओं पर हँसी आती थी क्योंकि इनके ऊपर ब्रह्मसमाज का प्रभाव था, किंतु बाद में ये समझने लगे कि श्री रामकृष्ण अलौकिक अनुभूति से संपन्न हैं और वह अपनी शक्ति को दूसरे के शरीर में प्रविष्ट करा सकते हैं। श्री रामकृष्ण के प्रभाव में आ जाने पर नरेन्द्रनाथ ने बौद्धिक क्षेत्र से अध्यात्म के क्षेत्र में प्रवेश किया। बौद्धिक क्षेत्र में रहने के कारण संभव है कि नरेन्द्रनाथ दर्शन के प्रसिद्ध प्राध्यापक हो जाते, किंतु इस दिव्य अनुभूति से उन्हें वंचित रहना पड़ता। श्री रामकृष्ण ने इन्हें जीवन के एक महान उद्देश्य की पूर्ति के लिए योग्य बनाया। अपने शरीर का त्याग करने के तीन दिन पूर्व उन्होंने नरेन्द्रनाथ को अपने पास बुलाया, अपनी तपोनिधि को इन्हें सौंप दिया और कहा, 'आज अपना सब कुछ तुम्हें देकर मैं रंक बन गया। मैंने योग द्वारा जिस शक्ति को तुम्हारे भीतर प्रविष्ट कराया है, उससे तुम अपने जीवन में महान कार्य करोगे। अपने इस कार्य को पूर्ण करने के पश्चात् ही तुम वहाँ जाओगे जहाँ से आये हो।'

संन्यास, भ्रमण और अनुभव

गुरु की मृत्यु के उपरांत इन्होंने अपने गुरुभाइयों को एकत्र किया और उनके सम्मुख गुरु के जीवन और उनकी शिक्षाओं के महत्व पर प्रकाश डाला। इन्होंने इस बात की आवश्यकता को अनुभव कराने की चेष्टा की कि प्रत्येक शिष्य को श्री रामकृष्ण के संदेश का संसार में प्रचार करना चाहिए। इनकी बातों का इतना प्रभाव पड़ा कि श्री रामकृष्ण के युवक शिष्यों ने गार्हस्थ्य जीवन का त्याग करके संन्यास ग्रहण किया, बड़ानगर में एक आश्रम की स्थापना की और उनके संदेश के प्रचार में लग गये। नरेन्द्रनाथ ने भी अपना नाम परिवर्तित कर लिया। पहचान में आने से बचने के लिए इन्हें अपना नाम कई बार बदलना पड़ा। 'सर्वधर्म-सम्मेलन' में भाग लेने के लिए जब ये अमेरिका जाने लगे तब अंतिम बार स्थायी रूप से इन्होंने अपना नाम विवेकानंद रखा और इसी नाम से सारे संसार में विख्यात हुए। गुरु के देहावसान के दो वर्ष पश्चात् विवेकानंद ने संपूर्ण भारत का भ्रमण किया। इन्होंने प्रायः पैदल चल कर ही सारे देश की यात्रा की, अनेक कठिनाइयों को सहन करते हुए, भूखे-प्यासे रह कर, इस यात्रा में इन्होंने भारत की आत्मिक एकता और देश की समस्याओं का अध्ययन किया। द्वार-द्वार घूम कर विवेकानंद ने ग्रामीण जनों की दरिद्रता का करुण दृश्य देखा, राजाओं और अमीरों के वैभव की झाँकी देखी और यह अनुभव किया कि जातियों-उपजातियों तथा धर्मों-संप्रदायों में विभाजित

इस देश की जनता में कौन-सी क्षमताएँ और कौन-सी कमज़ोरियाँ हैं। इन्होंने उस मौलिक तत्व को भी जानने का प्रयत्न किया, जिसके कारण देश की जनता में सांस्कृतिक एकता बनी हुई है। इस यात्रा में उन्हें जो व्यापक अनुभव हुए, वे उनके भावी जीवन में बड़े उपयोगी सिद्ध हुए।

मातृभूमि की सेवा का संकल्प

देश-भ्रमण करते हुए स्वामीजी कन्याकुमारी पहुँचे। भारत के दक्षिणी सीमान्त पर स्थित कन्याकुमारी के मंदिर में इन्होंने देवी का दर्शन किया और फिर समुद्र में उभरी हुई एक चट्टान पर बैठ कर तपस्या में समाधिस्थ हो गये। कन्याकुमारी में प्राप्त अनुभवों का वर्णन करते हुए इन्होंने लिखा 'देश भर में अनेक संन्यासी भ्रमण करते हुए जनता को आध्यात्मिक उपदेश देते हैं, किंतु यह पागलपन है। क्या हमारे गुरुदेव नहीं कहा करते थे कि भूखा रहना धर्म के लिए हितकर नहीं है। ये असंख्य दीन जन केवल अज्ञान के कारण जड़तापूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। यदि विरक्त संन्यासी इन दीनों के कल्याण का संकल्प करें, गाँव-गाँव घूम कर शिक्षा का प्रसार करें, मौखिक शिक्षा दें, चित्रों-मानचित्रों तथा अन्य साधनों से लोगों को शिक्षित बनायें तो आगे चल कर क्या इसका परिणाम शुभ नहीं होगा?' एक राष्ट्र के रूप में हम अपने व्यक्तित्व को भूल गये हैं और यही विस्मृति हमारे देश की दुर्दशा का कारण है। हमें पुनः अपने राष्ट्र को उसका भूला हुआ व्यक्तित्व प्रदान करना होगा और यहाँ की जनता को जागृत करना होगा।' अस्तु, कन्याकुमारी में स्वामीजी ने देश-सेवा का व्रत लिया, उन्होंने दीन-हीन, दलित और उपेक्षित भारतीय जनता के कल्याण-साधन का संकल्प किया। यहीं से स्वामी विवेकानंद ने एक देशभक्त संन्यासी का जीवन प्रारंभ किया और भारतीय जनता की हित-साधना को अपने योग का एक प्रधान अंग बनाया।

अमेरिका-प्रस्थान : विश्वधर्म-सम्मेलन

कन्याकुमारी से स्वामी विवेकानंद मद्रास पहुँचे। यहाँ अनेक उत्साही नवयुवक उनके अनुयायी बन गये। उन्होंने अमेरिका में होने वाले विश्वधर्म-सम्मेलन में भाग लेने के लिए स्वामीजी को भेजने के लिए मार्ग-व्यय एकत्र किया। ३१ मई, सन् १८९३ ई० को स्वामीजी ने अमेरिका के लिए प्रस्थान किया क्योंकि सम्मेलन ११ सितंबर से शिकागो में आरंभ होने वाला था। विश्वधर्म-सम्मेलन में, अपने प्रथम भाषण द्वारा ही, इन्होंने एक आश्चर्यजनक सनसनी पैदा कर दी। इन्होंने कहा, 'अमेरिका के भाइयो और बहनो! आपने जिस आत्मीयता के साथ मेरा स्वागत किया है, उससे मेरा हृदय अवर्णनीय आनंद से भर गया है। इसके लिए मैं आपको, संसार के प्राचीनतम धर्म के संन्यासियों की ओर से धन्यवाद देता हूँ, विभिन्न जातियों और संप्रदायों के करोड़ों हिंदुओं के नाम

पर धन्यवाद देता हूँ। हम न केवल सहिष्णुता में विश्वास करते हैं, वरन् सभी धर्मों को सत्य मानते हैं। मुझे ऐसे देश का निवासी होने का गर्व है, जिसने विश्व के अनेक धर्मों के अनुयायी अपराधियों एवं शरणार्थियों को शरण दिया है।' उनका यह भाषण संक्षिप्त था, किंतु इसमें इन्होंने हिंदू-धर्म द्वारा प्रतिपादित विश्व-सहिष्णुता के सिद्धांत का सूत्र बतलाया। इस सम्मेलन में स्वामीजी ने कई अवसरों पर भाषण दिये और बतलाया, 'पूर्व के देशों को धर्म-शिक्षा की ज़रूरत नहीं है, वरन् उन्हें रोटी की आवश्यकता है। वह रोटी चाहते हैं, किंतु उन्हें दिया जाता है पत्थर। यह भूखे देश का अपमान है कि रोटी के स्थान पर उसे धर्म-शिक्षा दी जाय। यह एक व्यक्ति का अपमान है कि भूखा होने पर उसे भोजन के स्थान पर धर्म-शिक्षा दी जाय। ईसाइयों को न तो हिंदू होना है और न बौद्ध तथा न हिंदुओं और बौद्धों को ईसाई होना है। आज आवश्यकता है परस्पर सभी धर्मों के तत्त्वों को अपने भीतर आत्मसात् करने की एवं अपने व्यक्तित्व की रक्षा करते हुए विकास करने की।'

शिकागो सम्मेलन में सफलता प्राप्त होने के कारण स्वामीजी का उत्साह और बढ़ गया। वह अमेरिका में तीन वर्ष तक रुके रहे और वहाँ आँधी की तीव्र गति से भ्रमण करते हुए वेदांत की शिक्षा का प्रचार किया। प्रत्येक स्थान पर लोगों ने सम्मानपूर्वक इनकी बातों को सुना। वेदांत पर दिये गये भाषणों से अमेरिका-निवासियों की आँखें खुल गयीं। इसी बीच वह तीन मास के लिए इंगलैंड गये। इंगलैंड-निवासियों ने भी इनका सम्मान किया। स्वामीजी अमेरिका में अपने कार्य को संगठित करना चाहते थे, अतः पुनः लौट आये और न्यूयॉर्क में 'वेदांत सोसायटी' की स्थापना की। इस सोसायटी द्वारा कर्मयोग, भक्तियोग, और ज्ञानयोग पर उनके दिये हुए भाषणों का पुस्तकाकार प्रकाशन हुआ। इन्होंने अमेरिका के अपने शिष्य संन्यासियों को वेदांत तथा योग की शिक्षा दी। अपने कार्य को गतिशील रखने के लिए भारत से संन्यासियों को वहाँ भेजा और कई अमेरिकी शिष्यों को भारत बुलाया। इस प्रकार स्वामीजी ने पूर्व और पश्चिम में पारस्परिक विचारविनिमय का आधार प्रस्तुत किया।

इंगलैंड में

१५ अप्रैल, सन् १८९७ ई० को स्वामीजी ने न्यूयॉर्क से लंदन के लिए प्रस्थान किया। लंदन पहुँच कर उन्होंने अबाधगति से कार्य करना प्रारंभ कर दिया। वह वेदांत-कक्षाओं में शिक्षा देते, सार्वजनिक सभाओं में भाषण देते और क्लबों तथा सोसायटियों में वेदांत का प्रचार करते थे। उनके इंगलैंड-निवास के समय प्रो० मैक्स-मूलर, भारतीय दर्शन के विशेषज्ञ, ने विशेष रूप से निमंत्रण देकर स्वामीजी को अपने घर बुलाया। उन्होंने ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी के कालेजों, पुस्तकालयों, आदि को इन्हें दिखाया और कहा, 'श्री रामकृष्ण परमहंस के शिष्य से प्रतिदिन भेंट होने का सौभाग्य नहीं मिलता।' इंगलैंड में भी

स्वामीजी के अनेक शिष्य बन गये। वेदांत के प्रचार में अधिक परिश्रम करने का परिणाम इनके लिए हानिकर सिद्ध हुआ। इनका स्वास्थ्य गिरने लगा, अतः शिष्यों ने विश्राम के लिए इन्हें योरोप भेज दिया और स्वामीजो ने जेनेवा आदि नगरों में निवास किया। योरोप से इंगलैंड लौट कर स्वामीजी ने पुनः माया-सिद्धांत तथा व्यावहारिक वेदान्त पर भाषण दिया। दो मास तक निरंतर परिश्रम करने के कारण इनका स्वास्थ्य पुनः गिरने लगा, अतः वे स्वदेश लौट आये।

देश में संगठन और प्रचार-कार्य

जब स्वामीजी इंगलैंड से भारत लौटे, तब समस्त देशवासियों ने एक स्वर से इनका हार्दिक स्वागत किया। विदेशों में मातृभूमि के सम्मान के लिए इन्होंने जो गौरवपूर्ण कार्य किये थे, उनसे देशवासियों के मन में इनके प्रति अपार श्रद्धा की भावना उत्पन्न हो गयी थी। स्वामीजी ने हिमालय से लेकर लंका तक यात्रा की, स्थान-स्थान पर वेदांत, लोक-सेवा और नारी-सम्मान के पक्ष में व्याख्यान किया। इस यात्रा में राजाओं महाराजाओं, सभा-समितियों ने उनके कार्य में योग दिया और अंत में सन् १८९७ ई० में जनता की सेवा के लिए इन्होंने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। स्वामीजी के अन्य गुरुभाई संन्यासियों ने इसका विरोध किया क्योंकि उनका विश्वास था कि वेदांत द्वारा व्यक्तिगत मुक्ति और आत्मबोध ही संभव हैं। स्वामीजी ने अपने गुरुभाइयों को रामकृष्ण के मानवतावादी संदेश से परिचित कराया और लोकसेवा के कार्य में उन्हें नियोजित किया।

इस समय स्वामीजी को यह आभासित होने लगा कि उन्हें बहुत दिनों तक संसार में नहीं रहना है। ११ अगस्त, सन् १८९७ ई० को बरेली में उन्होंने स्वामी अच्युतानन्द से कहा, 'मुझे केवल पाँच-छः वर्ष इस संसार में रहना है।' किंतु इतना जानने पर भी उन्होंने अपने कार्य में तनिक भी शिथिलता न आने दी। वह पंजाब, राजपूताना तथा काश्मीर की यात्रा करते हुए हिमालय के पर्वतीय प्रदेशों से होकर अमरनाथ गुफ़ा तक गये। अमरनाथ की यात्रा का स्वामीजी के आध्यात्मिक जीवन में वही महत्व था, जो श्री रामकृष्ण से मिलने का था। अमरनाथ पहुँच कर उन्होंने हिम-शीतल जल में स्नान किया और मात्र कौपीन धारण करके अमरनाथ महादेव के मंदिर में प्रविष्ट हुए। मंदिर में पहुँच कर उन्हें एक दिव्य अनुभूति प्राप्त हुई। कई दिनों तक वह शिव का नाम-स्मरण करते रहे। अमरनाथ का वर्णन करते हुए उन्होंने अपने एक शिष्य को बताया, 'जबसे मैं अमरनाथ की यात्रा करके लौटा हूँ, तभी से शिव मेरे मानस में निवास करते हैं।'

अक्तूबर मास में स्वामीजी अमरनाथ की यात्रा करके वेल्लूर वापस आये। पर्वतीय यात्रा के कारण उनका शरीर शिथिल हो गया था। इस समय वेल्लूर मठ का निर्माण हो

रहा था। दुर्बल होते हुए भी दिसंबर में, मठ के उद्घाटनोत्सव में उन्होंने भाग लिया। सन् १८९९ ई० के आरंभ से यह मठ रामकृष्ण के अनुयायियों का स्थायी केन्द्र बन गया। इस मठ के निर्माण से स्वामीजी का स्वप्न पूरा हो गया। थोड़े दिनों बाद, हिमालय में अल्मोड़े से ५० मील की दूरी पर एक दूसरे मठ 'अद्वैत-आश्रम' का निर्माण हुआ। इन मठों के निर्माण से स्वामीजी को हार्दिक संतोष हुआ क्योंकि इन्हीं के द्वारा वह वेदांत तथा लोक-सेवा के प्रचार की कल्पना करते थे।

अमेरिका के लिए पुनः प्रस्थान

वेल्लूर मठ तथा अद्वैत आश्रम के निर्माण-कार्यों से निश्चित होकर स्वामीजी ने एक बार पुनः अमेरिका जाने की इच्छा व्यक्त की क्योंकि अमेरिका में वेदांत-प्रचार का जो कार्य उन्होंने आरंभ किया था, उसका निरीक्षण करना चाहते थे। सन् १८९९ ई० के जून मास में उन्होंने स्वामी तुरीयानंद तथा सिस्टर निवेदिता के साथ अमेरिका के लिए प्रस्थान किया। भारत से इंगलैंड पहुँच कर स्वामीजी ने पंद्रह दिनों तक लंदन में निवास किया और फिर वहाँ से अमेरिका पहुँचे। अमेरिका पहुँच कर स्वामीजी ने तीव्र गति से प्रचार एवं संगठन का कार्य आरंभ किया, यद्यपि इनका स्वास्थ्य ठीक नहीं था। वहाँ उन्होंने स्वामी अभेदनंदा से कहा, 'हमारे दिन पूरे हो आये हैं। इस रक्त और मांस के पिंजड़े में अधिक दिनों तक नहीं रहना है।' इन दिनों सैनफ्रांसिस्को एवं केलीफ़ोर्निया में उन्होंने राजयोग तथा साधना की शिक्षा दी और वेदांत पर प्रवचन किया। इस बार स्वामी जी लगभग एक वर्ष तक अमेरिका में रहे।

निर्वाण

दिसंबर, सन् १९०० ई० में स्वामीजी अमेरिका से भारत लौट आये। यद्यपि उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं था, तथापि वह घूम-घूम कर भाषण देते रहे, मठ के कार्यों का संचालन तथा ब्रह्मचारियों की कक्षाएँ लेते रहे। इस प्रकार अपने व्यस्त जीवन में सारे कार्यों को संपन्न करते हुए उन्तालीस वर्ष की अल्पायु में स्वामीजी ने ४ जुलाई, सन् १९०२ ई० को निर्वाण प्राप्त किया।

जीवन-दर्शन

श्री रामकृष्ण परमहंस ने स्वंय अपने जीवन में वेदांत के सत्य का साक्षात्कार किया था। उन्होंने 'परमात्मा आत्मा में और आत्मा परमात्मा में है,' इस सत्य की अनुभूति की और इसी परम सत्य की अनुभूति को उन्होंने अपने प्रिय शिष्य विवेकानंद को प्रदान किया। स्वामी विवेकानंद की महानता इस बात में है कि उन्होंने एक पंडित की भाँति

नहीं, वरन् स्वानुभवी अधिकारी की भाँति अपने अनुभूत ज्ञान की शिक्षा दी क्योंकि सत्य के साक्षात्कार की गहराई तक वह पहुँचे हुए थे। इस गहरे तल से, वह रामानुज की भाँति केवल सत्य के रहस्यों को, जातिच्युत, कुजात और विदेशियों को अवगत कराने के लिए वापस आये।

यद्यपि स्वामी विवेकानंद भारत के रत्नभंडार, वेदों और उपनिषदों के रहस्योद्‌घाटनकर्त्ता और भाष्यकार के रूप में मान्य हैं, तथापि यह कभी भी नहीं भूलना चाहिए कि स्वामी विवेकानंद ने ही, अद्वैतदर्शन की सर्वश्रेष्ठता की घोषणा करते हुए, भारतीय दर्शन में द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत-सिद्धांतों को उस एक विकास-मार्ग का सोपान बताया, जिसका अंतिम लक्ष्य अद्वैत की अनुभूति है। स्वामी विवेकानंद के अनुसार वेदांत की प्रमुख विशेषता यह है कि 'वह पूर्णतया निर्वैयक्तिक (निरपेक्ष) है। इसके उद्‌भव का श्रेय किसी एक व्यक्ति या एक महापुरुष को नहीं है। इसके केन्द्र में किसी एक व्यक्ति को प्रमुखता नहीं है। फिर भी यह उन दर्शनों के विरुद्ध कुछ नहीं कहता, जिनकी रचना व्यक्ति-विशेष को केन्द्र मान कर हुई है। वास्तव में, वेदांत-दर्शन में उन सभी संप्रदायों, साधना-मार्गों का अंतर्भाव हो गया है, जो भारत में विद्यमान हैं।' इस प्रकार वेदांत-दर्शन की कई व्याख्याएँ हुई हैं : इनका आरंभ द्वैतवादी दर्शन से हुआ है और पर्यवसान अद्वैत में। अतः स्वामी विवेकानंद का कथन है कि द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत-वेदांत के ये विभिन्न रूप परस्पर विरोधी नहीं हैं। द्वैत और विशिष्टाद्वैत अपने आप में पूर्ण दर्शन नहीं हैं, वरन् वे उच्च से उच्चतर और उच्चतम प्रगतिशील-बोध (Progressive realization) के क्रमिक विकास में, आदर्श तक पहुँचने के सोपान हैं, जहाँ पहुँच कर सभी वस्तुएँ उस परम एकता में लीन हो जाती हैं, जिसका कि वर्णन अद्वैत-दर्शन में है। यह अद्वैत उस महान और सहज सिद्धांत का अंग है, जिसके अनुसार एक या अनेक में भेद नहीं, वरन् वे उसी परम सत्य के रूप हैं। एकता और अनेकता का बोध एक व्यक्ति के जीवन में भिन्न समय पर और भिन्न मनोवृत्तियों पर आधारित है। इस तथ्य को श्री रामकृष्ण ने इस प्रकार व्यक्त किया है : 'ईश्वर निराकार भी है और साकार भी। उसमें साकारता और निराकारता दोनों अनुस्यूत हैं।'

स्वामी विवेकानंद को इस बात का श्रेय है कि उन्होंने वेदांत-दर्शन को व्यावहारिक रूप दिया। यदि 'एक और अनेक' एक ही है, तो केवल नाना प्रकार की पूजा-विधि ही नहीं वरन् सभी प्रकार के कार्य, संघर्ष करने एवं रचना करने की सभी विधियाँ साक्षात्कार के साधन हैं, अतः धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष कार्यों में कोई भेद नहीं। श्रम करना ही प्रार्थना करना है। विजय प्राप्त करना ही त्याग है। यह जीवन स्वयं ही धर्म है, इसे धारण करने में उनका उतना ही दृढ़ विश्वास है, जितना उसके त्याग या उपेक्षा में।

इसी अनुभूति ने विवेकानंद को कर्म का महान उपदेष्टा बनाया। यह कर्म ज्ञान और भक्ति से विरक्त नहीं है, वरन् उसके माध्यम से ज्ञान और भक्ति अभिव्यक्ति होते हैं। उनके विचार में जिस प्रकार भिक्षुओं के विहार या मंदिर के द्वार ईश्वर से मिलने के उपयुक्त स्थान हैं, उसी प्रकार कार्य-कौशल, पठन और कृषिक्षेत्र भी हैं। उनका कहना है कि मानव-सेवा और ईश्वर-सेवा (पूजा), मनुष्यत्व और धर्म, सत्यनिष्ठता और आध्यात्मिकता में कोई भेद नहीं है। उनके सभी शब्द, एक दृष्टिकोण से, उनकी इसी मूल आस्था से ओतप्रोत हैं। उन्होंने एक बार कहा था कि कला, विज्ञान और धर्म एक ही परम सत्य को व्यक्त करने के तीन विभिन्न साधन हैं, किंतु इसे समझने के लिए हमें प्रथम अद्वैत-वाद के सिद्धांत को जान लेना होगा।

हमने यह देखा कि वेदांत के तीन प्रधान प्रकार हैं, किंतु इस भेद के होते हुए भी वे सभी ईश्वर में विश्वास करते हैं। वे तीनों यह भी विश्वास करते हैं कि वेद ईश्वर-वाक्य हैं (ठीक उसी रूप में नहीं जिस रूप में मुसलमान क़ुरान को या ईसाई बाइबिल को मानते हैं)। उन तीनों का यह विश्वास बड़े ही अद्‌भुत ढंग का है, उनके विचार में वेद ईश्वरीय ज्ञान की अभिव्यक्ति हैं। क्योंकि ईश्वर अपौरुषेय है, अनादि है और अपने अनादि रूप में यह ज्ञान ईश्वर के साथ है अतः वेद अनादि (अपौरुषेय) हैं। सृष्टि-चक्र के विषय में भी, इन तीनों के विश्वासों में समानता पायी जाती है। सृष्टि-चक्र के संबंध में उन तीनों के विचार इस प्रकार हैं—ब्रह्मांड के सभी पदार्थ एक ही आदिपदार्थ से निकले हैं, जिसे आकाश कहते हैं। और सब शक्तियाँ गुरुत्वाकर्षण और विकर्षण आदि, एक ही आदिशक्ति से निकली हैं जिसे प्राण कहते हैं। प्राण के आकाश में क्रियाशील होने से ब्रह्मांड की रचना होती है। सृष्टि-चक्र के आरंभ में आकाश गतिशून्य, अव्यक्त रहता है, तब प्राण अधिकाधिक क्रियाशील होता है और आकाश से स्थूल से स्थूलतम रूपों वनस्पति, पशु, मनुष्य, तारे आदि की रचना करता है। अनंत काल तक यह विकास-प्रक्रिया चलती रहती है और तब पुनः प्रत्यावर्त्तन आरंभ होता है। सभी पदार्थ सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते हुए आकाश और प्राण में मिल जाते हैं। फिर दूसरा चक्र आरंभ होता है। आकाश और प्राण के परे भी एक सत्ता है, जिसे महत् कहते हैं। आकाश और प्राण इसी में विलीन हो जाते हैं। यह महत् विश्वमन है। यह समस्त ब्रह्मांड में व्याप्त विचार-शक्ति है, जिससे प्राण और आकाश उत्पन्न होते हैं। विचार उस सत्ता की सूक्ष्मतम अभिव्यक्ति है, जो आकाश और प्राण से भी सूक्ष्म है। यही विचार अपने को दो रूपों (प्राण और आकाश) में विभक्त करता है। सृष्टि के आदि में भी यह विश्व-मन विद्यमान रहता है, यही अपने को रूपांतरित करके आकाश और प्राण के रूप में परिवर्तित करता है और इन्हीं दोनों के संयोग से संपूर्ण ब्रह्मांड की उत्पत्ति होती है।

ब्रह्म और माया

हमने देखा कि स्वामी विवेकानंद ने तीनों वेदांत-संप्रदायों को जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति के मार्ग में सोपान के रूप में माना है। इस मार्ग का अंतिम सोपान अद्वैत है और यही जीवन का चरम लक्ष्य है, जहाँ पहुँच कर आत्मा और परमात्मा का पार्थक्य समाप्त हो जाता है। अतः दार्शनिक समस्याओं—ईश्वर का स्वरूप, आत्मा का स्वरूप आदि का समाधान उन्होंने तीनों दृष्टिकोणों से किया है।

ईश्वर

पहला संप्रदाय द्वैतवादी संप्रदाय है। द्वैतवादियों का विश्वास है कि इस सृष्टि का कर्त्ता और शासक ईश्वर है और वह शाश्वत रूप में प्रकृति और मानव-आत्मा से पृथक् है। ईश्वर, प्रकृति और सभी आत्माएँ शाश्वत हैं। प्रकृति और आत्मा व्यक्त होते एवं परिवर्त्तित होते हैं, किंतु ईश्वर सदैव तद्वत ही रहता है। द्वैतवादियों के अनुसार ईश्वर व्यक्ति-रूप है, किंतु मनुष्य की भाँति वह शरीरवान नहीं है; हाँ, उसमें मनुष्य के गुण, दया, न्याय, शक्ति आदि हैं। पदार्थों के विना वह सृष्टि नहीं कर सकता है और प्रकृति वह तत्व है जिससे वह संपूर्ण विश्व की रचना करता है।

भारत के बहुसंख्यक लोग द्वैतवादी हैं। स्वामी विवेकानद के अनुसार संसार के नब्वे प्रतिशत मनुष्य, जो किसी भी धर्म में विश्वास करते हैं, द्वैतवादी हैं। योरप और एशिया के सभी धर्म द्वैतवादी हैं। उन्हें द्वैतवादी बनना पड़ा है क्योंकि सामान्य मनुष्य उस वस्तु के विषय में सोच नहीं सकता है, जो साकार या रूप-रंग-युक्त न हो।

सभी द्वैतवादी सिद्धान्तों के विषय में पहली कठिनाई इस प्रश्न का उत्तर देना है कि यह कैसे संभव है कि न्यायपरायण, दयालु, अनादि गुणों के भांडार ईश्वर के शासन में, इस संसार में, इतनी बुराइयाँ हों। यह प्रश्न सभी द्वैतवादी धर्मों में उठा है किंतु हिंदू, धर्म में इस प्रश्न को सुलझाने के लिए 'शैतान' की कल्पना नहीं की गयी है। हिंदू-धम में इस दोष का भागी स्वयं मनुष्य ही माना गया है और ऐसा करना सरल भी था। कारण यह है कि हिंदू यह विश्वास नहीं करते कि आत्माओं की सृष्टि शून्य से हुई है। उनकी मान्यता है कि जैसा हम बोते हैं वैसा ही काटते हैं, मनुष्य अपने भविष्य का निर्माण स्वयं करता है। प्रत्येक व्यक्ति प्रतिदिन आगामी कल के जीवन का निर्माण कर रहा है। यदि हम अपने कर्मों द्वारा भविष्य का निर्माण कर सकते हैं, तो यही नियम अतीत के विषय में भी क्यों नहीं व्यवहार्य होगा अर्थात् जिसने जैसा कर्म किया, उसी का फल वह अपने वर्त्तमान जीवन में भोग रहा है।

द्वैतवादियों का दूसरा विचित्र सिद्धांत यह है कि प्रत्येक आत्मा को अंततः मुक्ति प्राप्त करना है, इस गुणों और दुर्गुणों से भरे हुए संसार से परे जाना है। वे एक ऐसे स्थान में विश्वास करते हैं, जो इस संसार से परे है, जहाँ शाश्वत आनंद है, जहाँ केवल

शिवं का ही निवास है, जहाँ पहुँच कर आत्मा निरंतर ईश्वर के संपर्क में रहती है और जहाँ पहुँचकर वह सदा के लिए ईश्वरीय आनंद का उपभोग करती है। उनका विश्वास है कि नीचातिनीच से लेकर श्रेष्ठातिश्रेष्ठ तक, सभी प्राणियों को देर या सवेर, एक न एक दिन उस लोक की प्राप्ति करनी है, जहाँ फिर उसे किसी प्रकार का दुःख न होगा। किंतु इस संसार का अंत कभी नहीं होगा और वह सृष्टि-क्रम के कल्पों के चक्र में घूमता ही रहेगा और फिर आत्माएँ भी अनंत हैं, जिनका कि इस संसार से निस्तार होना है।

प्रत्येक आत्मा के आकर्षण का केन्द्र ईश्वर ही है। द्वैतवादियों का कथन है कि मिट्टी में सनी हुई सुई चुंबक की ओर आकर्षित नहीं होगी, किंतु ज्योंही उस पर से मिट्टी को हटा दिया जायगा, वह चुंबक से आकर्षित होकर उसकी ओर खिंचेगी। ईश्वर चुंबक है; मानव-आत्मा सुई की भाँति है, जो अपने दुष्कर्म-रूपी कीचड़ से आवृत्त है। ज्योंही यह आत्मा शुद्ध हो जायगी, यह अपने स्वाभाविक आकर्षण के गुण के वश होकर ईश्वर की ओर आकर्षित होगी और फिर सदा के लिए उसका सान्निध्य प्राप्त कर लेगी, किंतु शाश्वत रूप में उससे पृथक् रहेगी। पूर्णता-प्राप्त आत्मा अपनी इच्छा के अनुसार कोई भी आकार ग्रहण कर सकती है। ऐसी दशा प्राप्त कर लेने पर आत्मा महान शक्तिशालिनी हो जाती है, सिवाय इसके कि न तो यह सृष्टि-रचना कर सकती है और न सृष्टि के कार्यों की व्यवस्था, क्योंकि ये ईश्वर के कार्य हैं। किंतु पूर्णता प्राप्त आत्मा आनंदपूर्ण हो जाती है और सदा के लिए ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त कर लेती है।

वास्तविक वेदांत-दर्शन का आरंभ विशिष्टाद्वैतवाद से होता है। विशिष्टाद्वैतवादियों का कथन है कि कार्य कारण से कभी भिन्न नहीं होता। कार्य और कुछ नहीं, वरन् कारण का ही पुनरुत्पादित रूप है। यदि ईश्वर कारण है और विश्व कार्य है, तो इस विश्व को स्वयं ईश्वर रूप होना चाहिए। वे दृढ़ता के साथ कहते हैं कि ईश्वर इस विश्व का निमित्त कारण और उपादान कारण दोनों है। वह स्वयं ही इस विश्व का स्रष्टा और उपादान है, जिससे संपूर्ण प्रकृति की अभिव्यक्ति हुई है। अतः इस संप्रदाय के अनुसार यह विश्व स्वयं ईश्वर है, वही विश्व का उपादान है। वेदों से हमें ज्ञात होता है कि जिस प्रकार ऊर्णनाभि (मकड़ी) अपने शरीर के भीतर निहित द्रव पदार्थ से ही अपने शरीर के चारों ओर तंतुओं का जाला बुनती है, उसी प्रकार यह संपूर्ण विश्व उस ईश्वर से उत्पन्न हुआ है।

यदि कारण का ही पुनरुत्पादित, परिवर्त्तित रूप कार्य है, तो प्रश्न उठता है कि यह भौतिक, जड़ एवं अचेतन विश्व ईश्वर से कैसे उत्पन्न होता है, जो कि स्वयं भौतिक न होकर शाश्वत रूप से चैतन्य है। यह कैसे संभव है कि शुद्ध एवं पूर्ण ईश्वररूपी कारण का कार्य उससे पूर्णतया भिन्न हो? इस विषय में विशिष्टाद्वैतवादियों का कथन है कि ईश्वर, प्रकृति और आत्मा ये तीनों सत्ताएँ एक हैं। ईश्वर मानो आत्मा है और आत्माएँ और क्षितत्र मानो उसके शरीर हैं। जिस प्रकार हमारा शरीर है और उसके भीतर हमारी

आत्मा का निवास है, उसी प्रकार सारा विश्व और सारी आत्माएँ ब्रह्म का शरीर है, वह आत्माओं की भी आत्मा है। इस प्रकार ईश्वर विश्व का उपादान कारण भी है। शरीर परिवर्त्तित हो सकता है, तरुण या वृद्ध; मज़बूत या कमज़ोर हो सकता है, किंतु आत्मा इससे प्रभावित नहीं होती। यह वह शाश्वत सत्ता है, जो शरीर के माध्यम से अपने को व्यक्त करती है। शरीर जन्म लेता है और मरता है, किंतु आत्मा अपरिवर्त्तनशील है। यह संपूर्ण विश्व ईश्वर का शरीर है और इसी अर्थ में वह ईश्वर रूप है, किंतु विश्व में होने वाले परिवर्त्तनों का प्रभाव ईश्वर पर नहीं पड़ता। इसी उपादान से वह विश्व की रचना करता है और प्रत्येक कल्प के समाप्त होने पर यह शरीर-रूपी विश्व सूक्ष्मतर रूप में परिणित एवं संकुचित हो जाता है। दूसरे सृष्टि-चक्र के आरंभ होने पर यही सूक्ष्म उपादान पुनः विस्तृत हो जाता है और नये संसार के रूप में विकसित होता है।

द्वैतवादी और विशिष्टाद्वैतवादी दोनों यह स्वीकार करते हैं कि आत्मा प्रकृत्या शुद्ध है, किंतु अपने ही कर्मों के कारण यह विकारयुक्त हो जाती है। इस क्रिया को विशिष्टाद्वैतवादियों ने द्वैतवादियों की अपेक्षा और सुंदर शब्दों में इस प्रकार कहा है कि आत्मा की शुद्धता और पूर्णता कर्मों के कारण संकुचित हो जाती है और अब हमारा प्रयास यही है कि हम आत्मा की स्वाभाविक चैतन्यता, शुद्धता और शक्ति को पुनः प्राप्त एवं व्यक्त करें। जीवात्माएँ गुणों का समूह हैं, किंतु सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता का गुण उनमें नहीं है। प्रत्येक दुष्कर्म आत्मा की वास्तविक प्रकृति को संकुचित करता है और प्रत्येक सत्कर्म से आत्मा का विस्तार होता है। पर सभी आत्माएँ ईश्वर का अंश हैं। जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि से असंख्य चिनगारियाँ उसी गुणवाली निकलती हैं, उसी प्रकार अनादि सत्ता या ईश्वर से आत्माओं की उत्पत्ति हुई है। प्रत्येक आत्मा का उद्देश्य उसी ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करना है। विशिष्टाद्वैतवादियों का ईश्वर भी व्यक्तित्वपूर्ण है, अनेक आनंदपूर्ण गुणों का भंडार है; केवल वही विश्व की सारी वस्तुओं में प्रविष्ट है। वह सर्वत्र और सभी वस्तुओं में व्याप्त या सर्वांतर्यामी है। और जब धर्मग्रंथ यह कहते है कि ईश्वर सब कुछ है, तो इसका अर्थ यही होता है कि ईश्वर सर्वव्यापी है, वह सब में प्रविष्ट है और सब कुछ ईश्वर में प्रविष्ट है। इसका अर्थ यह नहीं है कि ईश्वर दीवार है, वरन् यह कि ईश्वर दीवार में भी व्याप्त है। संसार में एक भी अणु, एक भी कण ऐसा नहीं है जहाँ ईश्वर न हो। आत्माएँ सीमाबद्ध हैं, वे सर्वत्र वर्त्तमान नहीं हैं। जब आत्मा की शक्ति का विस्तार होता है और वह पूर्ण हो जाती है, तब वह जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जाती है और निरंतर ईश्वर के सान्निध्य में रहती है।

वेदांत-दर्शन का अंतिम सोपान 'अद्वैत' है। 'यह वेदांत—दर्शन और धर्म का सुंदरतम पुष्प है'। अद्वैत की स्थिति में पहुँच कर मानव-चेतना की उच्चतम अभिव्यक्ति होती है और मानव-चेतना उस रहस्य के भी परे पहुँच जाती है, जो अभेद्य प्रतीत होता है।

'यह अद्वैतवादी वेदांत इतना निगूढ़ और उन्नत है कि सामान्य जनों का धर्म नहीं हो सकता है। यहाँ तक कि अपनी जन्मभूमि भारत में भी, जहाँ इसे तीन हज़ार वर्षों से प्रधानता प्राप्त रही है, यह सामान्य जनता में व्याप्त नहीं हो सका।'† स्वामी विवेकानंद का कथन है कि इसका कारण यह है कि हम दुर्बल हो गये हैं क्योंकि हम दूसरे का सहारा लेना चाहते हैं। अद्वैतवादी यह घोषणा करते हैं कि यदि ईश्वर है, तो उसे विश्व का निमित्त कारण और उपादान कारण दोनों होना चाहिए। वह केवल सृष्टिकर्त्ता ही नहीं है, वरन् सृष्टि भी है। वह स्वयं ही विश्व है। यह कैसे हो सकता है? शाश्वत सत्, क्षणिक एवं नाशवान् रूप में कैसे परिवर्त्तित हो सकता है? इस संबंध में अद्वैतवादियों का एक सिद्धांत है जिसे विवर्त्तवाद कहते हैं। द्वैतवाद और सांख्य के अनुसार यह विश्व आदिप्रकृति का विकास है। कुछ अद्वैतवादियों और कुछ द्वैतवादियों के अनुसार यह संपूर्ण विश्व ईश्वर से उत्पन्न हुआ है। शंकराचार्य के अनुयायी अद्वैतवादियों के अनुसार संपूर्ण विश्व ब्रह्म का प्रातिभासिक विकास-मात्र (Apparent evolution.) है। ब्रह्म इस विश्व का उपादान कारण है, किंतु वास्तविक रूप में नहीं, वरन् अध्यास रूप में। इस कथन को सिद्ध करने के लिए रज्जु और सर्प का प्रसिद्ध उदाहरण दिया जाता है। रज्जु में जो सर्प दिखायी पड़ता है, रज्जु में जो सर्प की प्रतीति होती है, उसका अस्तित्व होता है, किंतु यह सत्य नहीं होता क्योंकि रज्जु सर्प में वास्तविक रूप में परिवर्त्तित नहीं होती। इसी भाँति यह संपूर्ण विश्व अपनी सत्ता में ईश्वर रूप है। यह शाश्वत है किंतु इसमें जो भी परिवर्त्तन दिखायी पड़ते हैं, वे अध्यास-मात्र हैं। इसके तीन कारण हैं—देश, काल और निमित्त, जिन्हें उच्चतर मनोवैज्ञानिक सामान्यीकरण के अनुसार नाम और रूप भी कह सकते हैं। इसी नाम और रूप की भिन्नता के कारण एक वस्तु से दूसरी वस्तु में भेद किया जाता है। ये नाम और रूप ही भेद के कारण हैं। तात्त्विक दृष्टि से उनमें कोई भेद नहीं होता। वेदांतवादी कहते हैं कि रज्जु में सर्प की प्रतीति अध्यास के कारण होती है। जब अध्यास समाप्त हो जाता है, तो सर्प की प्रतीति समाप्त हो जाती है। इसी अध्यास के कारण मनुष्य ईश्वर के प्रतिभास रूप जगत् को देखता है, किंतु ईश्वर को नहीं। जब वह ईश्वर का दर्शन कर लेता है, तब उसकी दृष्टि से यह व्यावहारिक जगत् ओझल हो जाता है। इस भेद का कारण अविद्या या माया है, यही अध्यास की सृष्टि करती है, जिसके कारण एक ब्रह्म की सत्ता खंड-खंड रूप में दिखायी पड़ती है। माया पूर्णतया शून्य और असत् नहीं है। माया का वर्णन न सत् कहकर हो सकता है और न असत् कहकर। माया सत् इसलिए नहीं है, क्योंकि सत् तो केवल वही शाश्वत ब्रह्म है, और असत् इसलिए नहीं है क्योंकि यदि असत् होती तो इस व्यावहारिक जगत् की उत्पत्ति किस प्रकार करती। अतः वेदांतियों ने उसे अनिर्वचनीय कहा है। माया ही विश्व की रचना का वास्तविक कारण है। ब्रह्म विश्व की रचना के लिए उपादान प्रस्तुत करता है और माया उसे नाम और रूप प्रदान करती है।

---

†Vivekananda : Jnana Yoga, p. 226

अद्वैतवाद में व्यक्तिगत आत्मा का कोई स्थान नहीं है। अद्वैतवादियों का कथन है कि व्यक्तिगत आत्माओं की सृष्टि माया द्वारा हुई है। अतः वास्तव में आत्माओं की कोई अपनी सत्ता नहीं है। पर जब समस्त विश्व में एक ही सत्ता है, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि 'मैं हूँ' और 'तुम भी हो'। अद्वैतवाद के अनुसार हम सभी प्राणी एक हैं। पार्थक्य और बुराई का कारण द्वैत-भाव है। जब मनुष्य अपने को विश्व के कर्त्ता, अनादि सत्ता के साथ देखने लगता है अर्थात् यह समझने लगता है कि वह उसका अभिन्न अंग है, तो उसकी सारी पार्थक्य की भावना का नाश हो जाता है, सारे भय और दुःख नष्ट हो जाते हैं। 'पार्थक्य में लघुता है और एकत्व में 'महानता'। अद्वैत की महान स्थिति में पहुँच कर हम उस ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं, जो पूर्ण आनंद स्वरूप हैं; 'मैं' और 'तुम' का द्वैत-भाव; जो कि संसार के सभी दुःखों का जन्मदाता है, जिसके कारण संसार में वीभत्स दृश्य दृष्टिगोचर होते हैं; इस स्थिति में अपने आप शांत हो जाता है और सभी प्राणियों के साथ एकात्म्य का बोध होने लगता है, अतः इस प्रकार ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार होता है और परमानंद की प्राप्ति होती है।

भारतीय धार्मिक विचारधारा के तीन सोपानों—द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद और अद्वैतवाद की चर्चा की जा चुकी है। प्रथम में हमने परमात्मा के प्रकृति और आत्माओं से परे अस्तित्व को देखा, द्वितीय में परमात्मा को संसार और आत्माओं में व्याप्त पाया और अद्वैत में तीनों का एकीकरण। स्वामी विवेकानंद के अनुसार यही वेदों का अंतिम शब्द है।

स्वामी विवेकानंद का कथन है कि जैसी स्थिति समाज की वर्त्तमान समय में है उसमें ये तीनों सोपान आवश्यक हैं। ये एक दूसरे को अस्वीकार नहीं करते, वरन् परस्पर पूरक हैं। अद्वैतवादी या विशिष्टाद्वैतवादी द्वैतवाद को ग़लत नहीं बताते, उसका भी दृष्टिकोण सही मानते हैं, किंतु उसे निम्नस्तरीय स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि 'द्वैतवाद भी सत्य की ओर गतिशील है, सत्य के पथ पर है। अतः सभी व्यक्तियों को अपने दृष्टिकोण से इस विश्व को देखने दो। किसी को पीड़ा मत दो और न किसी की स्थिति को अस्वीकार करो। यदि हो सके तो उसी स्तर पर उसकी सहायता करो और उसे उच्च स्तर तक पहुँचाओ, अन्यथा न उसे कष्ट दो और न उसे नष्ट करो।' कारण, एक न एक दिन सभी सत्य तक स्वयंमेव पहुँच जायेंगे। यहाँ पर विवेकानंद सृष्टि में विकास के चेतन और अचेतन क्रम की ओर संकेत करते हैं। उनका कहना है कि सभी प्राणियों का विकास हो रहा है। 'सहस्रों व्यक्तियों में से कुछ व्यक्ति इस विचार के प्रति जागरूक हैं कि वे एक दिन मुक्ति प्राप्त करेंगे। अगणित मनुष्य भौतिक पदार्थों से सतुष्ट हैं, किंतु कुछ ऐसे भी हैं, जो सचेत हैं और यहाँ से ऊब कर अपनी पूर्णावस्था (अद्वैत) की पुनः प्राप्ति करना चाहते हैं। ये चैतन्य रूप से संघर्ष कर रहे हैं, जबकि शेष व्यक्ति यही अनजाने में कर रहे हैं।'

मनुष्य का वास्तविक स्वभाव

अद्वैत-दर्शन के अनुसार विश्व में केवल एक ही वस्तु सत् है और वह है ब्रह्म। अन्य सभी वस्तुएँ अवास्तविक और माया की शक्ति द्वारा ब्रह्म से उत्पादित हैं। उस ब्रह्म की पुनः प्राप्ति ही हमारा उद्देश्य है। हममें से प्रत्येक व्यक्ति ब्रह्म है, जिसमें माया मिली हुई है। माया ही मनुष्य के वास्तविक स्वभाव को छिपाये हुए हैं, किंतु माया के कारण मनुष्य का वास्तविक स्वभाव परिवर्तित नहीं होता। छोटे से छोटे कृमि से लेकर श्रेष्ठ मानव-प्राणी तक में यही दैवी स्वभाव विद्यमान है। शाश्वत या असीम अनेक नहीं हो सकता। यदि आत्मा असीम है, तो वह एक होगी। अपनी और दूसरे के आत्मा को पृथक्-पृथक् रूप में देखना, अर्थात् यह मेरी आत्मा है और यह तुम्हारी, सत्य नहीं है। अतः सत्पुरुष एक है, असीम है, सर्वव्यापक आत्मा है और मनुष्य कितना ही महान क्यों न हो, उस सत्पुरुष (ईश्वर) की छाया-मात्र है। यह सत्पुरुष (आत्मा) कार्य और कारण से परे है, देश और काल द्वारा बँधा नहीं है, अतः वह परममुक्त है। न वह कभी परतंत्र था और न कभी होगा। उसकी छाया-रूप प्रत्यक्ष मनुष्य देश, काल और निमित्त की सीमा में आवद्ध है। कुछ दार्शनिकों का कहना है वह छाया-रूप पुरुष आवद्ध दिखायी पड़ता है, किंतु वास्तव में वह आवद्ध नहीं है। यही हमारी आत्मा की वास्तविकता है कि वह सर्वव्यापी है, आध्यात्मिक प्रवृत्ति वाली और असीम है। प्रत्येक आत्मा असीम है, अतः उसके जन्म और मरण का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर यह असीम सत्तापूर्ण, अपरिवर्त्तनशील और गतिहीन है, क्योंकि परिवर्त्तन केवल सीमित के ही अंदर संभव है और गति सदैव सापेक्ष्य है। इस विश्व का कोई भी कण अन्य कणों की सापेक्ष्यता में ही परिवर्त्तित हो सकता है; किंतु यदि सारे विश्व को एक समझा जाय, यदि इस विश्व के अतिरिक्त कुछ और है ही नहीं, तब किसकी सापेक्ष्यता में वह गति करेगा। हमारी वास्तविकता विश्वव्यापकता में है, सीमावद्धता में नहीं।

व्यक्तित्व के संबंध में जनसाधारण की धारणा बड़ी भ्रमपूर्ण है। व्यक्तित्व क्या है? व्यक्तित्व का निवास शरीर या मन में नहीं है। बाल्यावस्था में बालक के मूँछ नहीं होती, किंतु जब वह बड़ा हो जाता है, तो उसके मूँछ-दाढ़ी निकल आती है। अतः यदि व्यक्तित्व को शरीर-सापेक्ष्य मान लिया जाय, तो कहना होगा कि उस बालक का व्यक्तित्व समाप्त हो गया। इसी प्रकार यदि व्यक्तित्व को शरीर-सापेक्ष्य मान लिया जाय, तो हमारी एक आँख या एक हाथ के न रहने पर हमारे व्यक्तित्व को समाप्त हुआ समझा जायेगा। इस कल्पना का परिणाम यह होगा कि एक शराबी को शराब नहीं छोड़ना चाहिए क्योंकि इससे उसके व्यक्तित्व का लोप हो जायगा, पर वास्तविकता यह है कि किसी मनुष्य को अपनी आदतों को छोड़ने से डरना नहीं चाहिए क्योंकि इससे उसके व्यक्तित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार व्यक्तित्व का निवास स्मृति में नहीं है। कल्पना

कीजिए कि सिर में एक आघात के कारण अमुक व्यति को स्मरणशक्ति लुप्त हो जाती है और वह अपने विगत जीवन के बारे में भूल जाता है, तब क्या कहा जायगा कि अमुक व्यक्ति का व्यक्तित्व समाप्त हो गया ? व्यक्तित्व के विषय में यह बड़ा ही संकुचित विचार है। हम अभी तक व्यक्ति नहीं हैं, हम केवल व्यक्तित्व की प्राप्ति के लिए संघर्ष कर रहे हैं। हम असीम व्यक्तित्व को ओर बढ़ रहे हैं और यही मनुष्य का वास्तविक स्वभाव है।

इसी उपर्युक्त धारणा से अद्वैत-नैतिकता का सिद्धांत भी प्राप्त होता है, जिसे एक शब्द में कहा गया है, 'आत्म-त्याग'। अद्वैतवादी कहते हैं कि तुच्छ निजीकृत आत्मा (Little personalized self) ही हमारे सारे दुःखों का कारण है। यह निजीकृत आत्मा ही हममें अन्य प्राणियों से अपने को पृथक् करने की भावना उत्पन्न करती है, जिससे घृणा, द्वेष, दुःख, संघर्ष तथा अन्य बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं। यदि इसका विचार छोड़ दिया जाय, तो सभी संघर्ष शांत हो जायेंगे, सभी दुःख समाप्त हो जायेंगे, अतः इसका त्याग करना होगा। हममें सदैव अन्य प्राणियों के लिए, यहाँ तक कि छोटे से छोटे जीव के लिए, अपने जीवन को उत्सर्ग करने के लिए भी प्रस्तुत रहना चाहिए। जब कोई व्यक्ति एक छोटे से छोटे कीड़े के लिए भी अपने जीवन का त्याग करने को उद्यत हो जाता है, तव वह पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। इसी स्थिति की प्राप्ति अद्वैतवादी करना चाहते हैं। व्यक्ति जिस क्षण इतना त्याग करने को तैयार हो जाता है, उसी क्षण उस पर पड़ा हुआ अज्ञान का आवरण हट जाता है और वह अपने वास्तविक स्वभाव की अनुभूति कर लेता है। इसी जीवन में वह सारे विश्व के साथ अपने आत्मा की एकता का अनुभव करने लग जाता है। ऐसा होते ही व्यावहारिक जगत् का अस्तित्व समाप्त हो जाता है और वह आत्मानुभूति की प्राप्ति कर लेता है। किंतु जब तक इस शरीर के कर्म शेष रहते हैं, उसे जीवित रहना होता है। अज्ञान-आवरण के हट जाने पर भी जब मनुष्य जीवित रहता है, तो ऐसी दशा को वेदांती 'जीवन्मुक्ति' कहते हैं। अतः जब वेदांती अपने वास्तविक स्वभाव को जान लेता है, तो उसकी दृष्टि में व्यावहारिक जगत् की सत्ता नहीं रह जाती। वह संसार के सब कार्य करता रहता है, पर उसका संसार दुःखमय नहीं होता। उसके लिए दुःख का बंधन सत्, चित् और आनंद में परिवर्तित हो जाता है। दूसरे शब्दों, में संसार वही रहता है, सब कार्य वही रहते हैं, पर संसार के प्रति उसका दृष्टिकोण बदल जाता है।

अनेकता में एकता

हम देखते हैं कि इस संसार में सुख के साथ छाया की भाँति दुःख भी लगा हुआ है। जीवन के साथ मृत्यु भी उसकी छाया की भाँति लगी हुई है। साथ-साथ रहना ठीक भी है क्योंकि ये दोनों परस्पर विरोधी नहीं हैं। एक ही चीज के दो भिन्न पहलू हैं। इनका

पृथक्-पृथक् अस्तित्व नहीं है, वरन् ये एक ही अस्तित्व की भिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं : जीवन-मरण, सुख-दुःख तथा अच्छा-बुरा । द्वैतवादियों का यह कथन कि अच्छे-बुरे का अस्तित्व पृथक्-पृथक् है, इनकी दो अलग-अलग सत्ताएँ हैं और ये दोनों अनादिकाल से चले आ रहे हैं, हास्यास्पद है । यथार्थतः ये सब एक ही तथ्य की विविध अभिव्यक्तियाँ हैं, जो एक समय अच्छे रूप में और दूसरे समय बुरे रूप में अभिव्यक्त होती हैं । इनमें प्रकार का भेद नहीं, अपितु मात्रा का भेद है । ये तीव्रता की मात्रा के विचार से एक दूसरे से भिन्न होते हैं । हम देखते हैं कि एक ही नाड़ी-तंत्र अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की संवेदनाओं का वहन समान रूप से करता है—जब वह नाड़ी-तंत्र आहत हो जाता है, तो किसी प्रकार की संवेदनाओं को ग्रहण नहीं करता है—न सुखात्मक भावों की न दुःखात्मक भावों की । अतः जीवन-मरण, सुख-दुःख आदि एक ही हैं, भिन्न नहीं क्योंकि, एक ही वस्तु कभी सुख देती है और कभी दुःख । उदाहरणार्थ, मांसाहार से मांसाहारी व्यक्ति को प्रसन्नता होती है, किंतु मारे जाने वाले पशु को पीड़ा होती है । कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो समान रूप से सबको आनंद प्रदान करे । वेदांत का कहना है कि अच्छे और बुरे को दो मत सोचो । दोनों एक हैं । उनमें मात्रा का भेद है । वे विभिन्न रूपों में एक ही मन में विभिन्न प्रकार की भावना उत्पन्न करते हैं ।

इस संबंध में यदि हम फ़ारस के पुराने आदिम सिद्धांत पर विचार करें, तो ज्ञात होता है कि फ़ारस-निवासी दो ईश्वर में विश्वास करते थे : जितनी अच्छी वस्तुएँ हैं, वह अच्छा ईश्वर बनाता है और जितनी बुरी चीज़ें हैं, वह बुरा ईश्वर बनाता है । इस तरह विचार करने पर ज्ञात होता है कि प्रकृति के प्रत्येक नियम के दो अंग होते हैं : एक अंग पर एक ईश्वर अपनी कला दिखाता है और चला जाता है और दूसरे पर दूसरा ईश्वर । यहाँ कठिनाई यह उत्पन्न होती है कि दोनों ईश्वर का कार्य-क्षेत्र एक, ही जगत् है और दोनों परस्पर संगति स्थापित करके चलते हैं : एक, एक भाग को कष्ट देता है और दूसरा, दूसरे भाग को सुख । द्वैत की अभिव्यक्ति का यह बड़ा ही आदिम रूप है । इसी द्वैत के अधिक विकसित सिद्धांत के अनुसार भी यही संगति की कठिनाई उठती है ।

तथ्य यह है कि यह संसार न तो आशावादी है और न निराशावादी, वरन् दोनों का सम्मिश्रण है । वेदांत इन दोनों से विरत होने का मार्ग बताता है । उसका कहना है कि अच्छे और बुरे दोनों को त्याग दो, किंतु तब शेष क्या रहता है ? अच्छे-बुरे इन दोनों के पीछे कोई वस्तु है, जो तुम्हारी है "वही तुम्हारा यथार्थ रूप है । यह यथार्थ अच्छे-बुरे दोनों के परे है । यह यथार्थ अपने को अच्छे और बुरे दोनों रूपों में व्यक्त कर रहा है । इन व्यक्त रूपों पर नियंत्रण रखो तभी तुम अपने वास्तविक रूप को व्यक्त करने में स्वतंत्र रहोगे । पहले आत्मस्वामित्व प्राप्त करो, स्वावलंबी बनो, इन नियमों के बंधनों से परे हो जाओ क्योंकि ये नियम निरंकुश रूप से तुम्हें शासित नहीं करते । ये तुम्हारे जीवन के अंग-मात्र हैं । पहले समझ लो कि तुम प्रकृति के दास नहीं हो, न थे और न होगे । तुम्हारी प्रकृति

तुम्हें कितनी ही असीमित क्यों न लगे, पर वह तुम्हारी आत्मा के सामने सीमित है। इस एकत्व को जान लेने पर तुम अच्छे-बुरे दोनों को नियंत्रित कर सकोगे। यही सारा आशावाद है।"†

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि यह सत्य है कि एक ही असीम सत्ता सभी प्राणियों में व्याप्त है, तो क्या वह प्राणियों के दुःखों से दुखी नहीं होगी, प्राणियों के अशुद्ध होने पर अशुद्ध नहीं होगी ? उपनिषदों का कहना है कि ऐसा नहीं होता। जिस प्रकार सूर्य सभी प्राणियों के नेत्रों के प्रकाश का कारण है, फिर भी यदि किसी की आँख ख़राब है, तो उसका प्रभाव सूर्य पर नहीं पड़ता, इसी प्रकार शारीरिक कष्ट, या संसार के दुःखों से प्राणियों की आत्मा अविक्षुब्ध, अप्रभावित रहती है; अतः जो विविधता के बीच एकता का साक्षात्कार करते हैं, उन्हीं को असीम शांति का अनुभव होता है।

आत्मा, मन और शरीर

अद्वैत-दर्शन के अनुसार प्रत्येक मनुष्य के तीन अंग होते हैं : शरीर, मन और आत्मा। शरीर आत्मा का वाह्य आवरण है और मन अंतस्थ आवरण है। यह आत्मा ही वास्तविक ज्ञाता है, वास्तविक आनंदभोक्ता है और शरीर की जीवनी-शक्ति है। यह आत्मा मन के द्वारा शरीर में कार्य करता है। शरीर में केवल आत्मा ही अभौतिक सत्ता है। शरीर, मन और आत्मा तीनों के संबंधों को समझने के लिए हमें मनोविज्ञान की सहायता लेनी पड़ेगी। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि विभिन्न वेदांत पद्धतियाँ एक ही मनोविज्ञान का सहारा लेती हैं, वह है सांख्यदर्शन का मनोविज्ञान। सामान्यतः स्वीकृत सांख्यमनोविज्ञान के अनुसार इन तीनों के संबंध जानने के लिए हम प्रत्यक्षीकरण (नेत्र द्वारा) का उदाहरण लेंगे। प्रत्यक्षीकरण में नेत्र का स्थान प्रथम है, जो दृष्टि का वाह्य साधन है। नेत्रों से दृष्टींद्रिय—दृष्टि संबंधी तंतु और उसके केन्द्र (Optic nerve and its centres)—जुड़ी रहती है। यह दृष्टि का आंतरिक साधन है और उसके विना नेत्र होते हुए भी व्यक्ति देख नहीं सकता। प्रत्यक्षीकरण के लिए दृष्टींद्रिय का मन से संयुक्त होना आवश्यक है। दृष्टींद्रिय द्वारा जो संवेदनाएँ ग्रहण की जाती हैं, उन्हें मन से संबंध स्थापित करने के उपरांत, यदि व्यक्ति को उन संवेदनाओं के प्रति क्रियाशील होना है, तो उन्हें बुद्धि तक पहुँचना भी आवश्यक है। कारण यह है कि बुद्धि ही मन का निर्णायक और प्रतिक्रिया करने वाला पक्ष है। जब बुद्धि संवेदनाओं के प्रति क्रियाशील होती है, उसी समय मन को वाह्य संसार का बोध होता है और अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार ही से 'इच्छा' जागृत होती है, पर इतने पर ही प्रत्यक्षीकरण की क्रिया समाप्त नह हो जाती है। जिस प्रकार कैमरे द्वारा चित्र खींचने के लिए एक स्थिर प्लेट या फिल्म की आवश्यकता पड़ती है, जो कि प्रकाश के क्रमिक प्रभावों को ग्रहण कर सके, उसी

† Viveka and : 'Jnana Yoga' p 199

प्रकार मन के विभिन्न विचारों को एकत्र करने के लिए शरीर और मन की अपेक्षा एक स्थिर वस्तु चाहिए और वह वस्तु आत्मा अथवा पुरुष है।

सांख्यदर्शन के अनुसार बुद्धि महन् से उत्पन्न हुआ उसका परिवर्त्तित एवं किंचित् व्यक्त रूप है। महत् गूंजपूर्ण विचारों में परिवर्त्तित होता है और परिवर्त्तित होकर तन्मात्राओं के रूप में परिणत हो जाता है और पदार्थ के सूक्ष्म कणों में वदल जाता है। इन्हीं सब के संयोग से विश्व की उत्पत्ति हुई है। सांख्य ने महत् से भी परे एक अव्यक्त स्थिति की कल्पना की है, जहाँ मन की व्यक्तावस्था भी नहीं रहती, केवल कारण विद्यमान रहते हैं—इसे प्रकृति कहते हैं। इस प्रकृति से भी पूर्णतया परे पुरुष या सांख्य के आत्मा की स्थिति है। यह पुरुष सर्वव्यापी है, निर्गुण है, यह भोक्ता नहीं, वरन् साक्षी-मात्र है। यह पुरुष स्फटिक की भाँति रंगहीन है, जिसके सम्मुख यदि अन्य रंग रख दिये जायँ, तो वह रंगीन प्रतीत होने लगता है, किंतु वास्तव में रंगीन होता नहीं है। वेदांतवादी सांख्य द्वारा प्रतिपादित पुरुष और प्रकृति के इस रूप का खंडन करते हैं। उनका कहना है कि सांख्य द्वारा प्रतिपादित प्रकृति और पुरुष के बीच एक चौड़ी खाँई है, जिसको पाटना आवश्यक है। वेदांतवादियों का कहना है, कि जब पुरुष रंगहीन है तो विभिन्न रंग उसमें कैसे प्रतिभासित हो सकते हैं? इसीलिए वेदांती पहले से ही आत्मा और प्रकृति की एकता को स्वीकार करते हैं।

सार्वभौम विज्ञान-धर्म

"स्वामी विवेकानंद की रचनात्मक प्रतिभा का परिचय दो शब्दों में दिया जा सकता है: संतुलन और समन्वय।"† उनके विचार "में वेदांतदर्शन विज्ञान के प्रति असहिष्णु नहीं है। जब विज्ञान का अध्यापक दृढ़तापूर्वक यह कहता है कि सभी वस्तुएँ एक ही शक्ति की अभिव्यक्ति हैं, तब क्या वह उस ईश्वर का स्मरण नहीं कराता, जिसके विषय में उपनिषद् हमें बताते हैं? जिस प्रकार एक ही अग्नि विश्व में प्रवेश करके अपने को नाना रूपों में व्यक्त करती है, उसी प्रकार एक ही 'आत्मा' संसार की विभिन्न आत्माओं में अपने को व्यंजित करती है, यद्यपि वह इन आत्माओं से परे और असीम है। वेदांत और विज्ञान दोनों के सिद्धांत समान हैं। "तर्क का पहला सिद्धांत यह है कि 'विशिष्ट' (वस्तु) की व्याख्या 'सामान्य' (वस्तु) द्वारा होती है जब तक कि हम सार्वभौम तक नहीं पहुँचते। ज्ञान की दूसरी व्याख्या यह है कि एक वस्तु की व्याख्या उसके भीतर से होनी चाहिए, बाहर से नहीं।" अद्वैत इन दोनों सिद्धांतों को स्वीकार करता है। यही कारण है कि विवेकानंद अद्वैत-धर्म को सार्वभौम विज्ञान-धर्म (Universal Science Religion) कहते हैं। उनके विचार में आवश्यकता इस बात की है कि सभी प्रकार के धर्मों में सहयात्री की

---

† Romain Rolland : "The Life of Vivekananda", p. 326

भावना हो। उनका धर्म सार्वभौमवाद और आध्यात्मिक बंधुत्व है। प्रत्येक मार्ग, चाहे वह धार्मिक हो या धर्म-निरपेक्ष, वह वैश्व सत्य के एक अंश का प्रतिनिधित्व करता है और अपनी शक्ति द्वारा उस अंश को एक विशिष्ट रूप प्रदान करता है। उनका कहना है कि मनुष्य कभी मिथ्या से सत्य की ओर नहीं अग्रसर होता, वरन् सत्य से सत्य की ओर अग्रसर होता है। अपूर्ण सत्य से पूर्ण सत्य की ओर बढ़ता है। उनका धार्मिक संकेत (Religious watch-word) है 'स्वीकृति' न कि 'सहनशीलता', अर्थात् हमें सब धर्मों को स्वीकार करना चाहिए, उनके प्रति केवल सहिष्णुता की भावना ही नहीं होनी चाहिए।

विश्व-बंधुत्व की भावना से प्रेरित होकर उनका कहना है "मैं अतीत काल में प्रचलित सभी धर्मों को स्वीकार करता हूँ, उन सबके द्वारा पूजा करता हूँ, उनमें से प्रत्येक के द्वारा ईश्वर की पूजा करता हूँ.........ईश्वरीय पुस्तक समाप्त हो गयी या अब भी निरंतर दैवी प्रकाश देती चल रही है ? यह अद्भुत पुस्तक है—संसार की ये आध्यात्मिक अभिव्यक्तियाँ। वेद, बाइबिल क़ुरान तथा अन्य सभी पवित्र ग्रंथ उस पुस्तक के असंख्य पृष्ठ हैं और अभी असंख्य पृष्ठ खुलने को हैं—हम वर्त्तमान में स्थित हैं, किंतु असीम भविष्य को स्वीकार करने के लिए तैयार हैं। हम अतीत को स्वीकार करते हैं, वर्त्तमान के प्रकाश का आनंद लेते हैं और भवितव्यता के लिए अपने हृदय के वातायनों को खोलते हैं। हम अतीत के सभी प्राग्दर्शियों को प्रणाम करते हैं, वर्त्तमान के सभी महान पुरुषों और भविष्य में होने वाले महान पुरुषों को प्रणाम करते हैं।"*

विवेकानंद के अद्वैत-धर्म में मानव-व्यक्तित्व के विकास के लिए पर्याप्त अवसर है। वह उपनिषदों की प्राचीन उक्तियों में विश्वास करते थे, 'विश्व में जो कुछ भी वर्त्तमान है, वह ईश्वर द्वारा आच्छादित है।' क्योंकि प्रत्येक सजीव प्राणी में परमात्मा है, अतः प्रत्येक मनुष्य को अपने में निहित दिव्यता का विकास करना चाहिए। प्रत्येक आत्मा तात्विकतया दिव्य है। अतः जीवन का उद्देश्य है अंतर और बाह्य प्रकृति के पूर्ण नियंत्रण द्वारा अंतस्थ दिव्यता का बोध। यह कार्य किसी भी योग—कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग अथवा राजयोग द्वारा संभव हो सकता है। पर स्वयं स्वामीजी को 'सत्य तक पहुँचाने वाले इन चारों योग-मार्गों पर अधिकार प्राप्त था। उन्होंने इन चारों मार्गों पर एक साथ चलते हुए एकता की ओर यात्रा की, वह सभी मानव-शक्तियों की समस्वरता के मूर्तरूप थे।'†

यह सत्य है कि दिव्यता का बोध या ब्रह्म का ज्ञान ही मानव-जीवन का चरम उद्देश्य है, किंतु 'मनुष्य ब्रह्म में लीन नहीं रह सकता है। यह लीनता तो सविशेष क्षणों के लिए होती है' किन्तु "इस दशा की प्राप्ति (इस लीनता की प्राप्ति) बड़ी कठिन है और

---

* Romain Rolland : 'The Life of Vivekananda', p. 3.9.

† Ibid. p. 326

यह बहुत देर तक ठहरती भी नहीं है। (यहाँ प्रश्न उठता है कि) लीनता के क्षणों के अतिरिक्त शेष समय कैसे व्यतीत किया जाय ? यही कारण है कि इस दशा का बोध प्राप्त करने वाले ऋषियों ने अपने आत्मा का दर्शन सभी प्राणियों में किया है और इस ज्ञान का अधिकार प्राप्त कर उन्होंने प्राणियों की सेवा में अपने को अर्पित कर दिया है। इस प्रकार वे इस शरीर द्वारा संपन्न होने वाले शेष कर्मों का भोग करते हैं। इसी दशा को शास्त्रों ने 'जीवन्मुक्ति' (जीवन में ही मुक्ति) कहा है।"† इसी कारण से विवेकानंद ने विश्ववाद तथा आध्यात्मिक बंधुत्व की भावना पर बल दिया है। इनमें से बंधुत्व की भावना का अर्थ 'प्रेम' और 'सेवा' से है। पाश्चात्य जगत् में 'सेवा करना', इसके अंतर्गत आत्महीनता का भाव निहित रहता है, परंतु स्वामी विवेकानन्द के दर्शन में सेवा करने या प्रेम करने का अर्थ यह नहीं कि सेवा करने वाला व्यक्ति सेवित व्यक्ति से नीचा है, वरन् दोनों बराबर हैं। 'सेवा करने से मनुष्य गिरता नहीं है, बल्कि इसी में स्वामीजी ने जीवन की पूर्णता स्वीकार की है।'‡ वेदांत यह शिक्षा नहीं देता है कि तुम स्वयं को दूसरे के सामने झुकाओ। इसके विपरीत, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के भीतर परमात्मा का निवास है, अतः सबसे पहले प्रत्येक को अपने में श्रद्धा उत्पन्न करनी चाहिए। जिसे स्वयं पर श्रद्धा एवं विश्वास नहीं है, वही स्वामीजी के विचार में नास्तिक है। स्वामीजी कहते हैं, 'यह श्रद्धा स्वार्थ पर आधारित श्रद्धा एवं विश्वास नहीं है। इसका अर्थ है सब प्राणियों में श्रद्धा क्योंकि सभी प्राणी एक हैं।' इसी आध्यात्मिक संबंध के आधार पर स्वामी विवेकानंद ने रामकृष्ण आश्रम की शाखाओं की स्थापना भारत और विदेशों में की और ये शाखाएँ विश्व-बंधुत्व का प्रचार बड़ी सफलता से कर रही हैं।

शिक्षा-दर्शन

स्वामी विवेकानंद का जीवन-दर्शन उनके समन्वयवादी दृष्टिकोण का द्योतक है। उनके शिक्षा-दर्शन में भी हमें इसी दृष्टिकोण की झलक मिलती है। उन्होंने व्यावहारिक एवं पारमार्थिक जगत्, धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष कृत्य, प्राच्य एवं पाश्चात्य जगत् तथा दर्शन एवं विज्ञान के बीच के व्यवधान को दूर करने का प्रयत्न किया, इन्हें परस्पर निकट लाने का प्रयास किया। उन्होंने शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम, पाठन-विधि आदि शिक्षा-क्षेत्र से संबंधित प्रश्नों के विषय में भी स्पष्ट रूप से यह इंगित करने की चेष्टा की है कि यह जगत् जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति में बाधक नहीं है। चिंतन और क्रिया में विरोध नहीं है। दूसरे शब्दों में ज्ञान, कर्म और भक्ति परस्पर संबंधित हैं।

भारतीय परंपरा के अनुसार स्वामी विवेकानंद भी आत्मानुभूति को जीवन का

---

† 'The Complete Works' Vol. VII, p. 105
‡ Romain Rolland : 'The Life of Vivekananda', p. 322

परम लक्ष्य मानते हैं। आत्मानुभूति को हम दूसरे शब्दों में 'मोक्ष-प्राप्ति' अथवा 'मुक्ति' भी कह सकते हैं। स्वामीजी ने 'कर्मयोग' में कहा है, "हमारे चतुर्दिश जितनी भी चीज़ें दृष्टिगोचर होती हैं वे सब मुक्ति के लिए संघर्ष कर रही हैं। अणु से लेकर मनुष्य तक, निर्जीव पदार्थ के एक कण से लेकर पृथ्वी की उच्चतम सत्ता—मानव-आत्मा तक, सब मुक्ति के लिए संघर्षरत हैं। वास्तव में समस्त सृष्टि इसी मुक्ति के लिए किये जाने वाले संघर्ष का परिणाम है। सभी वस्तुओं में अनंत विस्तार की प्रवृत्ति होती है। सृष्टि में हम जो कुछ भी देखते हैं, उन सबके मूल में इसी मुक्ति के लिए संघर्ष है। इसी प्रवृत्ति के वशीभूत होकर संत ईश्वर की प्रार्थना करता है, लुटेरा लूट-मार करता है। जब कार्य करने की पद्धति उचित नहीं होती है, तब हम उसे पाप कहते हैं और जब कार्य-पद्धति उचित और श्रेष्ठ होती है, तब हम उसे पुण्य कहते हैं, किंतु प्रवृत्ति एक ही होती है—मुक्ति के लिए संघर्ष। संत अपने बंधन के कारणों को जानकर बंधनों से मुक्त होना चाहता है, अतः वह ईश्वर की पूजा करता है। चोर इस विचार से बाध्य होकर चोरी करता है कि उसके पास कुछ चीजें नहीं होती हैं, वह उनके अभाव से मुक्ति पाना चाहता है और इसीलिए चोरी करता है। मुक्ति प्राप्त करना ही सबका उद्देश्य है, चाहे वह जड़ हो अथवा चेतन; और चेतन या अचेतन रूप में सभी वस्तुएँ इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए संघर्ष कर रही हैं। संत जिस प्रकार की मुक्ति प्राप्त करता है, वह चोर की मुक्ति से भिन्न प्रकार की है। संत द्वारा प्राप्त की गयी मुक्ति उसे असीम के सुख और अकथनीय आनंद की ओर अग्रसर करती है, किंतु चोर की मुक्ति उसके आत्मा के बंधनों को और दृढ़ करती है।"† अतः शिक्षा का मुख्य कार्य है मनुष्य को सम्यक् प्रकार की मुक्ति का चुनाव करने के योग्य बनाना।

वेदांत में अटल विश्वास रखते हुए स्वामी विवेकानंद का कथन है, "भौतिकवाद कहता है कि मुक्ति की आवाज़ भ्रमपूर्ण है, आदर्शवाद कहता है कि आवाज़ जो बंधन के विषय में बताती है, वह भ्रमपूर्ण है। वेदांत कहता है, तुम मुक्त हो और मुक्त नहीं भी हो। भौतिक जगत् में तुम कभी मुक्त नहीं हो, किंतु आध्यात्मिक जगत् में सदैव मुक्त हो।"‡ मुक्ति मनुष्य के अधिकार में है, किंतु वह इसके विषय में सदैव सचेत नहीं रहता है। बुद्धिमान और मूर्ख व्यक्ति में यही अंतर है कि बुद्धिमान मुक्ति के विषय में सचेत रहता है, जबकि मूर्ख इसे जानता भी नहीं है। शिक्षा का उद्देश्य है मनुष्य को मुक्ति के संबंध में सचेत करना और बताना कि उसे अपनी शक्तियों का उपयोग मुक्ति के लिए, परम सत्य के साक्षात्कार के लिए करना चाहिए। अतः शिक्षा मुक्ति प्राप्त करने का सचेतन क्रम है।

---

† Vivekananda : 'Karma Yoga', p. 127-129

‡ 'Teachings of Swami Vivekananda', p. 221

व्यक्तिगत एवं सामाजिक उद्देश्य

मुक्ति के लिए संघर्ष करना, मनुष्य की वास्तविक प्रकृति और व्यक्ति तथा समाज के बीच के उचित संबंध की ओर संकेत करता है। क्या व्यक्ति और समाज में परस्पर विरोध है ? पूर्व और पश्चिम में इस प्रश्न के उत्तर में मतभेद है। पश्चिम में प्लेटो के समय से ही इस प्रश्न पर विवाद रहा है कि व्यक्ति और समाज दोनों में से किसको प्रधानता दी जाय ? व्यक्ति प्रधान है या समाज ? वर्त्तमान काल में, वैयक्तिकता के महान समर्थक नन (Nunn) ने आत्म-साक्षात्कार के रूप में इन दोनों में सामंजस्य-स्थापन का प्रयत्न किया है। आरंभ में वह जीव-वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह प्रमाणित करते हैं कि प्रत्येक की अपनी वैयक्तिकता होती है, पर बाद में वह आदर्शवादी विचार धारा के सर्वथा अनुकूल इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति केवल समाज में ही रहकर आत्म-साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है। भारतीय अद्वैत दर्शन के अनुसार व्यक्ति और समाज में सामंजस्य स्थापन की आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि यदि व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप को जान ले तो उसके और समाज के बीच का विरोध स्वयमेव समाप्त हो जायगा।

पाश्चात्य जगत में व्यक्ति और समाज के बीच विरोध का मुख्य कारण है कि वहाँ लोग व्यक्तित्व का संबंध स्थूल शरीर से जोड़ते हैं। भारतीय आदर्शवादी दृष्टिकोण के अनुसार विवेकानंद का कथन है कि यदि व्यक्तित्व शरीर में है, तो वह नष्ट हो जायगा। "एक शराबी को इसलिए शराब नहीं छोड़नी चाहिए कि उसका व्यक्तित्व नष्ट हो जायगा। एक चोर को इसलिए एक अच्छा आदमी नहीं बनना चाहिए क्योंकि इस प्रकार वह अपना व्यक्तित्व खो देगा। किसी भी व्यक्ति को इस भय से अपनी आदतों को नहीं छोड़ना चाहिए....वैयक्तिकता स्मृति में भी नहीं रहती। कल्पना कीजिए कि सिर पर एक आघात के कारण मेरी स्मृति लुप्त हो गयी, तब तो मेरी वैयक्तिकता चली गयी, मैं समाप्त हो गया। हमारे बचपन की, दो-तीन वर्ष की अवस्था की बातें हमारी स्मृति में नहीं रह पातीं। यदि स्मृति और अस्तित्व एक हैं, तो जो कुछ हम भूल जाते हैं, वह समाप्त हो जाता है। अपने जीवन के उस भाग को जिसे हम स्मरण नहीं कर पाते, वह हमसे पृथक् हो जाता है (अर्थात् जीवन का उतना भाग हमने व्यतीत ही नहीं किया)। वैयक्तिकता का यह बड़ा ही संकीर्ण स्वरूप है। हम अभी तक व्यक्ति (Individuals) नहीं हैं; हम वैयक्तिकता के लिए संघर्ष कर रहे हैं और यह वैयक्तिकता है वही अनंत (असीम आत्मा); यही मनुष्य की वास्तविक प्रकृति है। आत्मा ही इकाई है क्योंकि वही अनंत है, अविभाज्य है, उसके विभाग नहीं हो सकते। यह अविभाज्य इकाई शाश्वत है और यही इकाई, व्यक्ति (Individual) है, वास्तविक मनुष्य है। प्रत्यक्ष मनुष्य केवल उस वैयक्तिकता को, जो कि परे है, अभिव्यक्त करने का संघर्ष-मात्र है; विकास आत्मा में नहीं होता है।"†

---

† Vivekananda : 'Jnana, Yoga', p. 38-39

जर्मन दार्शनिक हीगल ने इस सिद्धांत को भ्रमात्मक अथवा ग़लत रूप में उपस्थित किया है। उसने कहा है, 'जब तक मनुष्य पूर्ण अभिव्यक्ति प्राप्त नहीं कर लेता और पूर्ण प्राणी नहीं बन जाता, तब तक अभिव्यक्ति उच्च से उच्चतर होगी।' पूर्णता का अर्थ है असीमता और अभिव्यक्ति का अर्थ है सीमाबद्धता। हीगल के सिद्धांत से हम एक स्वतः विरोधी परिणाम पर पहुँच जाते हैं जिसका तात्पर्य यह है कि हम असीम-सीमित (Unlimited limited) हो जायेंगे। संसार के सभी धर्म स्वीकार करते हैं कि मनुष्य अपने स्थान से भ्रष्ट होकर पशु की दशा में आया और अब वह इस बंधन से मुक्त होने का प्रयत्न कर रहा है। किंतु हम कभी भी यहाँ असीम को अभिव्यक्त करने में समर्थ नहीं होंगे। कारण, इंद्रियों से बँधकर यहाँ हमारे लिए पूर्णता प्राप्त करना पूर्णतया असंभव है। पूर्णता प्राप्त करने के लिए हमें इस क्रम को उलट देना होगा, अर्थात् हमें अपनी पशु-अवस्था से असीमता की ओर बढ़ना होगा। हम अंततः पूर्णता प्राप्त करेंगे, किंतु इसके लिए हमें अपनी अपूर्णता का त्याग करना होगा। इस उद्देश्य की प्राप्ति का साधन है—त्याग। त्याग का अर्थ है पृथक् सत्ता का तिरोभाव और वास्तविक वैयक्तिकता का अनुभव।

स्वार्थ-त्याग, अथवा दूसरों की भलाई करना सभी नैतिक पद्धतियों का केन्द्रीय विचार है। जब मनुष्य पूर्णतया स्वार्थत्यागी हो जाता है, तब वह असीम हो जाता है, जो कि वास्तविक मनुष्य (Real Man) का स्वरूप है। अतः हमारी वास्तविक वैयक्तिकता 'सार्वभौमिकता में है, सीमाबद्धता में नहीं।' इस दृष्टिकोण से देखने पर व्यक्ति और समाज के बीच कोई विरोध नहीं है। मनुष्य की वास्तविक वैयक्तिकता अथवा व्यक्तित्व के विकास द्वारा, शिक्षा के व्यक्तिगत एवं सामाजिक, दोनों उद्देश्यों की पूर्ति की जा सकती है।

व्यक्तित्व-विकास के साधन

इस संसार में मनुष्य अपने व्यक्तित्व (Personality) का निर्माण करने के लिए स्वतंत्र है। विवेकानंद व्यक्तित्व को शरीर और विचार से भी ऊपर बताते हुए कहते हैं कि मनुष्य में, निजी आकर्षण होता है जो दूसरों को प्रभावित करता है, केवल उसके शब्दों द्वारा प्रभावोत्पादन नहीं हो सकता है। यहाँ तक कि 'प्रभावोत्पादन में विचारों का महत्त्व एक-तिहाई होता है और व्यक्तित्व का दो-तिहाई।'‡ इस तथ्य का प्रमाण इतिहास में प्राप्त होता है जिससे पता चलता है कि नेताओं के विचारों और शब्दों ने लोगों को इतना प्रभावित नहीं किया जितना कि उनके व्यक्तित्व ने। वास्तविकता तो यह है कि नये, मौलिक और सत्यतापूर्ण विचार तो इन व्यक्तियों द्वारा इस संसार को इनेगिने

‡ Vivekananda : 'Powers of the Mind', pp. 8

ही दिये गये हैं। अतः सभी प्रकार की शिक्षा और प्रशिक्षण का ध्येय होना चाहिए—मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण। व्यक्तित्व प्राप्त करने पर व्यक्ति जो चाहता है, वह कार्य कर सकता है। मनुष्य का व्यक्तित्व ही दूसरे व्यक्तियों को क्रियाशील बना सकता है। स्वामी जी कहते हैं कि हमारे देश में प्राचीन काल में उन नियमों के अन्वेषण का प्रयास किया गया था, जिनके द्वारा मानव-व्यक्तित्व का विकास होता है। 'योग-विज्ञान' का यह दावा है कि इन नियमों और प्रणालियों पर उचित ध्यान देने से प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को उन्नत और शक्तिशाली बना सकता है। यह व्यावहारिक सिद्धांत सारी शिक्षा का रहस्य है। यह योग-सिद्धांत सार्वभौम रूप से व्यवहार्य है। गृहस्थ, सैनिक, धनी, ग़रीब, व्यवसायी, अध्यात्मवादी या दार्शनिक सब समान रूप से इससे लाभान्वित हो सकते हैं और अपने व्यक्तित्व का निर्माण कर सकते हैं।

जिस प्रकार विभिन्न विज्ञानों की अपनी पद्धति हैं, उसी प्रकार धर्म की भी अपनी पद्धति है। धर्म के परम उद्देश्य 'मुक्ति' को प्राप्त करने की पद्धति को भारतीय दर्शन में 'योग' कहते हैं। इस शब्द की व्युत्पत्ति भी उसी संस्कृत धातु से हुई है, जिससे अंग्रेजी शब्द 'योक' (Yoke) बना है और जिसका अर्थ है 'संयुक्त होना', अपनी वास्तविकता अर्थात् ईश्वर से संयुक्त होना। इस प्रकार एकीकरण अथवा योग की कई पद्धतियाँ हैं, जो मनुष्य के विभिन्न स्वभावों और मनोवृत्तियों के अनुकूल हैं। इनमें से मुख्य-मुख्य योगों का वर्णन निम्न प्रकार किया जा सकता है :—

१. कर्मयोग—कार्य एवं कर्त्तव्य-पालन के द्वारा मनुष्य को अपनी दिव्यता की अनुभूति।
२. भक्तियोग--सगुण ईश्वर की भक्ति और प्रेम के द्वारा दिव्यता की अनुभूति।
३. ज्ञानयोग—ज्ञान के द्वारा मनुष्य को स्वयं अपनी दिव्यता की अनुभूति।
४. राजयोग—मन के नियंत्रण द्वारा मनुष्य को अपनी दिव्यता की अनुभूति।

ये विभिन्न योग एक ही केन्द्र, ईश्वर की ओर ले जाने वाले विभिन्न मार्ग हैं। †

योग के ये विभिन्न मार्ग एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। इनमें से किसी का भी कठिन अभ्यास करने से मनुष्य निश्चय रूप से जीवन के अंतिम लक्ष्य तक पहुँच सकता है। अभ्यास ही इनकी सफलता का रहस्य है। प्रत्येक योग में आत्म-साक्षात्कार के तीन स्तर हैं जिन्हें साधक को पार करना पड़ता है—श्रवण, मनन और निदिध्यासन। पहले श्रवण करना होता है, तब मनन और अंत में अभ्यास। यदि श्रवण के उपरांत कोई तथ्य कठिन होने के कारण समझ में नहीं आता है, तो निरंतर श्रवण और मनन करने से वह समझ में आ जाता है। सार रूप में कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति द्वारा सिखाया-पढ़ाया नहीं जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने आप में स्वयं अपना शिक्षक है। बाहरी

† 'The Complete Works', Vol. V, pp. 20, 22

शिक्षक आंतरिक शिक्षक को कार्य करने और वस्तुओं को समझने के लिए प्रोत्साहित कर सकता है, संकेत अथवा सुझाव दे सकता है। अपनी ही ग्रहणशीलता और विचारणा द्वारा व्यक्ति को सभी चीजें स्पष्ट हो जाती हैं। स्वयं व्यक्ति को अपनी आत्मा द्वारा ही ज्ञान का अनुभव करना होता है और यही अनुभूति तीव्र इच्छा-शक्ति के रूप में विकसित हो जाती है। "सर्वप्रथम अनुभूति होती हैं; पुनः वह इच्छा में परिवर्त्तित होती है और इसी इच्छा-शक्ति से कार्य करने की असीम शक्ति उत्पन्न होती हैं। यह शक्ति प्रत्येक शिरा, धमनी और मांस-पेशियों में होती हुई तुम्हारे संपूर्ण शरीर को स्वार्थरहित कर्म-योग के साधन के रूप में परिवर्त्तित कर देती है और क्रमशः पूर्ण आत्मत्याग और पूर्ण स्वार्थत्याग के इच्छित फल प्राप्त होते हैं। यह उपलब्धि किसी रूढ़ि, विश्वास, सिद्धांत या आस्था पर आधारित नहीं है।"† इसके लिये व्यक्ति को स्वयं प्रयत्नशील होना है।

भारतीय योग-विज्ञान मनुष्य को पूर्ण बनने या जीवनमुक्त होने में सहायता प्रदान करता है। 'जीवन-मुक्त' की व्याख्या हम स्वामी विवेकानंद के जीवन-दर्शन के संबंध में कर चुके हैं। जीवन-मुक्ति के आदर्श में विश्वबंधुत्व की भावना एवं लक्ष्य निहित है। पर इस विश्वबंधुत्व का आधार आध्यात्मिक है। सभी प्राणियों के अंतर में ईश्वर का निवास है। अतः सभी प्राणी 'एक' हैं, आध्यात्मिक सूत्र द्वारा परस्पर गुंथे हुए हैं। इसलिए प्रत्येक प्राणी को अन्य सभी प्राणियों के प्रति श्रद्धा होनी चाहिए। अन्य प्राणियों में श्रद्धा तभी उत्पन्न हो सकती है, जब व्यक्ति अपने में श्रद्धा रखता हो। अतः स्वयं पर श्रद्धा और विश्वास व्यक्तित्व-विकास के साधन का एक आवश्यक अंग है।

शिक्षा का लक्ष्य : मनुष्य-निर्माण

जीवन के महान लक्ष्य मुक्ति की प्राप्ति के लिए, उपर्युक्त विचारश्रृंखला के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक को अपने व्यक्तित्व का विकास करना होगा। प्रश्न उठता है कि व्यक्तित्व से क्या तात्पर्य है? वेदांत-दर्शन के अनुसार मनुष्य परमात्म-शक्ति का ही अंश है, उसकी प्रकृति आध्यात्मिक है, अतः शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए 'मनुष्य का निर्माण' अर्थात् मनुष्य के स्वाभाविक गुणों का विकास। 'मनुष्य' बनने के लिए उसकी अंतर्निहित शक्तियों का सर्वतोन्मुखी विकास होना चाहिए। स्वामीजी ने अपने समय की शिक्षा-प्रणाली में इस महान तथ्य के अभाव को लक्ष्य किया और इसीलिए उन्होंने ऐसी शिक्षा पर ज़ोर दिया जो मनुष्यत्व के विकास में योग प्रदान करे।

वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली की त्रुटियों को बताते हुए स्वामीजी ने उसे नकारात्मक कहा है। उनका कथन है कि आज की शिक्षा मनुष्य का सक्रिय विकास नहीं करती। वह विदेशी है तथा केवल क्लर्क पैदा करने वाली है। उसका उद्देश्य बड़ा ही संकुचित है, वह केवल बालक को सूचनाएँ प्रदान करने का साधन है। स्वामीजी का

† Vivekananda : 'Karma Yoga,' pp. 103, 104

विचार है कि शिक्षा अधिकाधिक सूचना प्राप्त करने का साधनमात्र नहीं है। शिक्षा द्वारा प्राप्त बहुत सी सूचनाएँ मनुष्य आजीवन आत्मसात नहीं कर पाता है और वे उसके मस्तिष्क में उपद्रव मचाया करती हैं। यदि एक व्यक्ति केवल पाँच सद्विचारों को भी आत्मसात कर ले और उनके अनुसार अपने चरित्र का निर्माण कर ले तो वह उस व्यक्ति से अधिक शिक्षित है जिसे सारा पुस्तकालय कंठस्थ है। यदि 'शिक्षा' का अर्थ केवल 'सूचना' है, तो यह कहा जा सकता है कि 'पुस्तकालय सबसे बड़े संत और विश्वकोश सबसे महान ऋषि' हैं, क्योंकि उनमें जानकारी की असंख्य बातें भरी पड़ी हैं।

स्वामीजी के अनुसार प्रचलित शिक्षा-पद्धति व्यक्ति में आत्मविश्वास की भावना नहीं जाग्रत करती है और न व्यक्ति को विचारों की मौलिकता के लिए प्रेरणा और अवसर ही प्रदान करती है। वह व्यक्ति को अपने हाथ-पैरों का उपयोग करने के लिए भी प्रशिक्षित नहीं करती। अतः जो शिक्षा मनुष्य को भावी जीवन के लिए तैयार नहीं करती, उसके चरित्र का निर्माण नहीं करती, सिंह के समान शक्ति-शाली नहीं बनाती तथा विश्वबंधुत्व की भावना उत्पन्न नहीं करती, उस शिक्षा को सार्थक नहीं कहा जा सकता। वर्तमान परिस्थिति को ध्यान में रखकर स्वामीजी ऐसी शिक्षा पर बल देते हैं जिससे चरित्र का उत्थान हो, मानसिक बल की वृद्धि हो, बुद्धि का विकास हो और जिसके द्वारा मनुष्य स्वावलंबी बन सके। सभी प्रकार की शिक्षा और प्रशिक्षण का चरमलक्ष्य 'मनुष्य का निर्माण' होना चाहिए। शिक्षा, वास्तव में, उसी को कहा जा सकता है जिसके द्वारा इच्छाशक्ति और उसकी अभिव्यक्ति को नियंत्रित करके फलप्रद बनाया जा सके। "आज हमारे देश के लोगों को फ़ौलादी मांसपेशियों, लौह धमनियों तथा दुर्जेय इच्छाशक्ति की आवश्यकता है, जो विश्व के रहस्यों का भेदन कर सके और लक्ष्य की पूर्ति कर सके, भले ही इसके लिए सागर की अतल गहराई में प्रवेश करके मृत्यु का सामना ही क्यों न करना पड़े।"† "इसी प्रकार मनुष्य का निर्माण करने वाले धर्म की हमें आवश्यकता है; इसी प्रकार मनुष्य का निर्माण करने वाले सिद्धांतों की हमें आवश्यकता है; इसी प्रकार, मनुष्य का निर्माण करने वाली सर्वतोन्मुखी शिक्षा की हमें आवश्यकता है।"‡

शिक्षा से तात्पर्य

स्वामी विवेकानंद के विचार में 'शिक्षा, मनुष्य में अंतर्निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति है।'* यह पूर्णता कहीं बाहर से नहीं आती, वरन् मनुष्य के भीतर ही छिपी रहती है। वेदांत के आत्मा संबंधी सिद्धांत में दृढ़ विश्वास होने के कारण, स्वामीजी का कथन है कि सब प्रकार का ज्ञान, चाहे वह धर्म-निरपेक्ष हो अथवा धर्म-प्रधान, मनुष्य की आत्मा

† 'The Complete Works', Vol. III p. 18
‡ Ibid. p. 224
* Ibid. p. 304

में निहित है। गुरुत्वाकर्षण का सिद्धांत अपने प्रतिपादन के लिए न्यूटन की प्रतीक्षा नहीं कर रहा था। वह तो उसके मस्तिष्क में पहले से ही विद्यमान था। समय आने पर न्यूटन ने केवल उसका अन्वेषण-मात्र किया। अतः मनोवैज्ञानिक शब्दावली में कहा जा सकता है कि 'सीखना, वास्तव में खोज निकालना है।' संपूर्ण ज्ञान और शक्ति का अधिष्ठान मानव-आत्मा है, किंतु उस पर अज्ञान का आवरण पड़ा रहता है। यह आवरण जब धीरे-धीरे हटता जाता है तब हम कहते हैं कि 'हम सीख रहे हैं।' ज्यों-ज्यों यह आवरण उठता जाता है, त्यों-त्यों हम ज्ञान की ओर अग्रसर होते जाते हैं। जिस मनुष्य के ज्ञान पर पड़ा हुआ यह अज्ञान-आवरण जितना ही अधिक हट जाता है, वह उतना ही अधिक ज्ञानी कहलाता है। जिस व्यक्ति के ज्ञान पर यह अज्ञान-आवरण जितना ही मोटा होता है, वह उतना ही अज्ञानी होता है। जिसके ज्ञान पर पड़ा हुआ यह पर्दा पूर्णतया हट जाता है, वह पूर्ण ज्ञाता या त्रिकालदर्शी हो जाता है। जिस प्रकार चकमक पत्थर में अग्नि वर्त्तमान रहती है और रगड़ने से वह प्रकट हो जाती है उसी प्रकार मनुष्य के मन में ज्ञान निहित होता है और संकेत रूपी रगड़ पाकर वह अभिव्यक्त होता है। पेड़ से सेव को गिरते हुए देखकर न्यूटन को यह संकेत मिला कि पृथ्वी में आकर्षणशक्ति है। पेड़ से सेव का गिरना एक संकेत था, जिसने न्यूटन के मस्तिष्क में पहले से स्थित संपूर्ण विचार-शृंखलाओं को पुनर्जाग्रत किया और अंत में उसने एक नवीन विचार-सरणि का अन्वेषण किया, जिसे गुरुत्वाकर्षण का सिद्धांत कहा जाता है। सब प्रकार के ज्ञान का स्रोत मानव-आत्मा है। शिक्षा मानव-आत्मा में अंतर्निहित इसी ज्ञान का अन्वेषण और प्रकाशन करती है। शिक्षा की इस वेदांतिक परिभाषा की तुलना हम किसी सीमा तक पेस्टालाज़ी द्वारा की गयी शिक्षा की परिभाषा से कर सकते हैं, जिसके अनुसार शिक्षा 'मनुष्य में अंतर्निहित शक्तियों का प्राकृतिक, प्रगतिशील एवं विरोध-हीन विकास है।'

स्वामी विवेकानंद के शिक्षण-पद्धति-संबंधी विचार वेदांत-सिद्धांत पर आधारित हैं और तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर फ़्रॉबेल के विचारों से भी मिलते-जुलते हैं। विवेकानंद और फ़्रॉबेल, दोनों बालक की उपमा एक पौधे से देते हैं। जिस प्रकार बरगद के बीज में विकास करके एक बड़ा वृक्ष बनने की शक्ति विद्यमान रहती है, उसी प्रकार बालक के जीवनाधार-तत्व में अगाध बुद्धि निवास करती है। पौधे के प्राकृतिक विकास की भाँति ही बालक का भी अपनी प्रकृति के अनुरूप विकास होता है। जिस प्रकार हम पौधे को केवल पोषक तत्व देते हैं, उसकी रक्षा करते हैं और वह उनको ग्रहण करके भी अपनी प्रकृति के अनुसार ही बढ़ता है, उसी प्रकार बालक को शिक्षा देते समय हमें केवल उसके मार्ग की बाधाओं को दूर करना चाहिए तथा उसके सम्मुख विकास का क्षेत्र प्रस्तुत करना चाहिए, ताकि अवसर-प्राप्ति के अभाव में उसमें अंतर्निहित विपुल शक्तियाँ नष्ट न हो जायें। यहाँ यह सिद्धांत, जैसा ऊपर भी कहा जा चुका है, स्पष्ट हो जाना चाहिये कि बालक स्वयं अपना शिक्षक है। बालक अपने आप शिक्षित होता है। शिक्षक का कार्य तो केवल

उसके भीतर निहित ज्ञान को जाग्रत करना और उसका मार्ग-प्रदर्शन करना है, ताकि वह अपनी बुद्धि द्वारा अपने हाथ, पैर, कान और आँख आदि इंद्रियों का समुचित उपयोग कर सके। शिक्षक को चाहिए कि बालक की प्रवृत्तियों और आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए शिक्षा प्रदान करे। इसका मुख्य कारण यह है कि बालक में पूर्वजन्म के संस्कार अवशेष रहते हैं, जो उसकी प्रवृत्तियों को नियंत्रित करते हैं। शिक्षक को चाहिए कि वह इन संस्कारों का निरीक्षण करे और बालक की व्यक्तिगत प्रवृत्तियों का ध्यान रखे। उसे बालक की विशेष रुचियों या झुकावों को प्रोत्साहित करना चाहिए और यदि कोई बालक बहुत ही अयोग्य है, तो भी उसे हताश नहीं करना चाहिए। बालकों के मस्तिष्क पर सक्रिय या रचनात्मक विचारों (Positive ideas) का प्रभाव डालना चाहिए। नकारात्मक विचार (Negative ideas) जैसे बालकों से यह कहना कि तुम मूर्ख हो या तुम कभी कुछ सीख नहीं सकते, उन्हें शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से दुर्बल बना देते हैं। कभी-कभी तो इन नकारात्मक बातों का इतना गंभीर प्रभाव बालक पर पड़ता है कि वह वैसा ही बनने भी लगता है। बालकों से कोमल और उत्साहवर्द्धक शब्दों में बात करनी चाहिए। यदि उन्हें सक्रिय या रचनात्मक विचार दिये जायँ तो वे पूर्ण मनुष्य बनेंगे और स्वावलंबी होंगे। भाषा, साहित्य, कविता और कला आदि सभी विषयों में हमें उनके कार्यों और विचारों की त्रुटियों की ओर संकेत नहीं करना चाहिए, वरन् यह बताना चाहिए कि वे किस प्रकार इन कार्यों को और भी अच्छी तरह कर सकते हैं।

पाठ्य-विषय

हमने प्रारंभ में ही देखा कि स्वामी विवेकानंद का दृष्टिकोण समन्वयकारी है। दार्शनिक होने का अर्थ उनके अनुसार यह नहीं है कि जीवन के चरम लक्ष्य के अतिरिक्त अन्य विषयों पर विचार ही न किया जाय। जीवन के उच्च लक्ष्य की प्राप्ति भी इसी संसार में निवास करते हुए और इसी शरीर के द्वारा की जा सकती है, अतः स्वामी विवेकानंद ने पाठ्य-विषय के अंतर्गत उन सभी विषयों के ज्ञान को अनिवार्य बताया है जो इस संसार से संबंधित हैं। भारतीय विषयों के अध्ययन के साथ ही, उन्होंने अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य विज्ञान के अध्ययन का भी समर्थन किया है। उनका कथन है कि हमें प्राविधिक शिक्षा (Technical Education) तथा उन सभी विषयों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए जिससे उद्योगों की उन्नति हो, हम नौकरियों पर अवलम्बित न रह कर उद्यम करके स्वतंत्रता से धनोपार्जन कर सकें और अपने दुर्दिन के लिए पर्याप्त धन-संग्रह कर सकें। अध्ययन के विषय में स्वामीजी के विचार बहुत ही संक्षिप्त किंतु बड़े महत्त्वपूर्ण और व्यावहारिक हैं। वह अपने देश के ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों के अध्ययन के साथ ही अंतर्राष्ट्रीय प्रगति के साथ गतिशील रहने के लिए अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य विज्ञान को प्रमुखता देते हैं। इसका कारण यह है कि आज के

युग में विज्ञान की उन्नति के बिना देश की उन्नति असंभव है। उन्होंने औद्योगिक तथा प्राविधिक शिक्षण के महत्त्व को समझ लिया था क्योंकि राष्ट्र की समृद्धि उद्योगों पर ही अवलंबित है। अतः कहा जा सकता है कि आध्यात्मिक पूर्णता के साथ ही लौकिक समृद्धि को भी वह अनिवार्य मानते थे तथा अध्ययन के अंतर्गत इन सभी विषयों का समावेश चाहते थे।

शिक्षण-विधि

चित्त की एकाग्रता—स्वामीजी का विचार है कि मन की एकाग्रता ही वह विधि है जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। मन की एकाग्रता ही शिक्षा का सारतत्त्व है। जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने का यही सर्वोत्तम साधन है। साधारण मनुष्य से लेकर महान योगी तक, सभी अपने इच्छित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए इसी विधि, चित्त की एकाग्रता का प्रयोग करते हैं। विचारों की एकाग्रता के अभाव में या चित्त की अस्थिरता के कारण ही मनुष्य भयंकर भूलें करता है। जो मनुष्य प्रशिक्षित होता है या जिसका मन एकाग्र होता है वह कभी भूल नहीं करता। मनुष्य के चित्त की एकाग्रता के अनुपात में भिन्नता के कारण ही मनुष्यों में अंतर होता है। महान और साधारण व्यक्ति में यही अंतर होता है कि महान व्यक्ति का चित्त एकाग्र और साधारण व्यक्ति का मन कम एकाग्र या चंचल होता है। एकाग्रता ही वह तथ्य है जिसके कारण मनुष्य और पशु में भेद माना जाता है। पशुओं का प्रशिक्षण करने वाले यह बताते हैं कि पशुओं को प्रशिक्षित करना कितना कठिन कार्य है। उन्हें जो भी सिखाया जाता है उसे वे शीघ्र ही भूल जाते हैं। चित्त की एकाग्रता को हम ज्ञान-भंडार की कुंजी कह सकते हैं जिसे उपलब्ध करने से मनुष्य ज्ञान-रत्न के भंडार का स्वामी बन सकता है। अब प्रश्न यह उठता है कि चित्त की एकाग्रता प्राप्त कैसे की जाय? हम यह जानते हैं कि किसी एक वस्तु पर चित्त को एकाग्र करना कितना कठिन है क्योंकि जब हम किसी वस्तु पर अपने मन को एकाग्र करते हैं तो उस बीच हमारे मन में अनेक प्रकार के विचार उठकर एकाग्रता में बाधा डालने लगते हैं। इन बाधाओं पर विजय प्राप्त करने तथा चित्त को एकाग्र करने की शिक्षा हमें 'राजयोग' से प्राप्त होती है। अभ्यास तथा उपासना द्वारा मानसिक एकाग्रता प्राप्त की जा सकती है।

विवेकानंद का विश्वास है कि तथ्यों का संकलन शिक्षा का सारतत्त्व नहीं है, वरन् मन की एकाग्रता ही शिक्षा का मुख्य तत्व है। उनका कहना है, "यदि मुझे फिर अध्ययन करना पड़े तो मैं तथ्यों का अध्ययन बिल्कुल न करूँ। मैं चित्त को एकाग्र करने तथा मन को समाधिस्थ करने की शक्ति को विकसित करूँ और फिर मन को वश में

---

† 'The Complete Works', Vol. III p. 18

‡ 'The Complete Works', Vol. III p. 224

करके उस पूर्ण मानसिक यंत्र के सहारे अपनी इच्छाशक्ति के अनुसार तथ्यों का संकलन करूँ।"†

ब्रह्मचर्य और श्रद्धा—एकाग्रता की प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है। बारह वर्षों तक अखंड ब्रह्मचर्य धारण करके ही चित्त को एकाग्र करने की शक्ति प्राप्त की जा सकती है। महान बौद्धिक तथा आत्मिक शक्ति प्राप्त करने का यही एक-मात्र साधन है। 'प्रत्येक दशा में सदैव मन, वचन और कर्म की पवित्रता ही ब्रह्मचर्य है।' अपवित्र चिंतन उतना ही बुरा है जितना अपवित्र कर्म। विवेकानंद के विचार में देश की वर्त्तमान असंतोषजनक दशा का कारण है—संयम का अभाव। अतः तात्कालिक आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक छात्र को पूर्ण ब्रह्मचर्य के अभ्यास की शिक्षा दी जाय। ब्रह्मचर्य के बिना मनुष्य को स्वयं अपने में श्रद्धा या विश्वास उत्पन्न नहीं होता। एकाग्रता की ही भाँति श्रद्धा के कम या अधिक अनुपात में होने के कारण भी मनुष्य एक दूसरे से भिन्न है। श्रद्धा या अपने प्रति विश्वास के अभाव में जब एक व्यक्ति स्वयं को शक्तिहीन समझने लगता है तो वह वस्तुतः निःशक्त हो जाता है। विवेकानंद का कथन है, "तुम्हारे भीतर स्वयं के प्रति श्रद्धा या विश्वास का होना आवश्यक है। तुम पाश्चात्य जातियों में भौतिक शक्ति की जो समृद्धि देखते हो वह उनकी श्रद्धा का ही परिणाम है। वे अपनी मांसपेशियों (स्थूल-शक्ति) में विश्वास रखती हैं। पर यदि (स्थूल-शक्ति की अपेक्षा) तुम आत्मा में विश्वास करो तो कितना अधिक कार्य कर सकोगे!"‡

अतः बालक को जन्म से ही श्रद्धा या आत्मविश्वास की शिक्षा दी जानी चाहिए। श्रद्धा या आत्मविश्वास एक महान जीवन-रक्षक, श्रेष्ठ और उच्च सिद्धांत है। बालकों में आत्मविश्वास का होना अत्यंत आवश्यक है "क्योंकि वे परमपिता परमात्मा के बालक हैं, दिव्य ज्योति के स्फुलिंग हैं, वे सब कार्य करने में समर्थ हैं।' हमारे पूर्वजों के हृदय में यही आत्मविश्वास था जिसके कारण उन्होंने हमारी प्राचीन संस्कृति को जन्म दिया।

गुरुकुलवास—पहले कहा जा चुका है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व अथवा उसका निजी आकर्षण होता है, जो दूसरे को प्रभावित करता है। इस सिद्धांत के अनुसार स्वामी विवेकानंद शिक्षण-क्रिया में गुरु-शिष्य के परस्पर संबंध पर अधिक बल देते हैं। इसी कारण वह भारत की प्राचीन शिक्षा-प्रणाली से पूर्णतया सहमत हैं। उनके अनुसार प्राचीनकाल में गुरु और शिष्य, गुरुकुल में साथ-साथ रहते थे जिससे उनमें व्यक्तिगत संपर्क और संबंध स्थापित रहता था। उस समय विद्या का व्यवसाय नहीं होता था।

---

† 'The Complete Works', Vol. VI, p. 30

‡ 'The Complete Works', Vol. III p. 376

गुरुकुलों में आजकल की भाँति विद्या बेची नहीं जाती थी। आजकल की शिक्षा-पद्धति में गुरु और शिष्य का संबंध उतना घनिष्ठ नहीं रह गया है, अतः अब अध्यापकों का प्रभाव भी बालकों पर बहुत कम पड़ता है।

विद्यार्थी और शिक्षक के आवश्यक गुण—भारतीय आदर्शवादी परंपरा के अनुसार यदि शिक्षणक्रिया को सफल होना है तो विद्यार्थी और शिक्षक में कुछ विशेष गुणों की आवश्यकता है। विद्यार्थी के लिए यह आवश्यक है कि वह पवित्र हो, उसमें ज्ञान प्राप्त करने के लिए जिज्ञासा हो तथा वह निरंतर प्रयत्नशील रहे। उसे मन, वचन और कर्म से पूर्णतया शुद्ध होना चाहिए। ज्ञानपिपासा के सम्बन्ध में तो यह पुराना नियम है कि हम जिस वस्तु की इच्छा करते हैं वही प्राप्त होती है, अतः यदि हमें ज्ञान-प्राप्ति की पिपासा होगी तो वह अवश्य प्राप्त होगा। हम केवल उसी वस्तु को प्राप्त कर सकते हैं जिस पर दत्तचित्त हो कर अपना ध्यान केन्द्रित करें, किंतु इसके लिए निरंतर संघर्ष करके अपनी निम्न मनोवृत्तियों को दबाने की उस समय तक आवश्यकता पड़ती है जब-तक कि हम अपनी उच्चतम आकांक्षा की प्राप्ति न कर लें। जो विद्यार्थी इस ध्रुव धारणा और निश्चय के साथ अपना कार्य आरंभ करता है उसे अंत में सफलता अवश्य मिलती है। सफलता प्राप्त करने के लिए यह भी आवश्यक है कि विद्यार्थी गुरु में श्रद्धा रखे। गुरु में श्रद्धा या भक्ति के बिना, गुरु के सम्मुख शीश झुकाये बिना तथा गुरु का सम्मान किये बिना शिष्य कभी उन्नति नहीं कर सकता। विवेकानंद का कथन है कि यद्यपि विद्यार्थी को चाहिए कि वह अपने गुरु की पूजा ईश्वर की भाँति करे तथापि उसे अंधविश्वासी की भाँति गुरु की सभी बातों को स्वीकार भी नहीं कर लेना चाहिए, क्योंकि एक व्यक्ति के प्रति इतने अधिक विश्वास से विद्यार्थी में मानसिक हीनता की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है, उसमें मूर्तिपूजा जैसी भावना आ जाती है। अतः उसे विवेक से काम लेना चाहिए।

शिक्षक के गुणों का उल्लेख करते हुए स्वामीजी ने कहा है कि शिक्षक को पूर्ण ज्ञानी होना चाहिए। "उसे धर्मग्रंथों का सारतत्त्व जानना चाहिए। सारे संसार के लोग बाइबिल, क़ुरान और वेद पढ़ते हैं, परंतु वे तो केवल शब्द, वाक्य-रचना, शब्द-व्युत्पत्ति और भाषा-विज्ञान हैं, धर्म की शुष्क अस्थियाँ हैं। जो शिक्षक केवल शब्दों में उलझा रह जाता है, उन्हीं पर जोर देता है....वह आत्मा से परिचित नहीं हो पाता। एक सच्चे अध्यापक को ग्रंथों की मूल आत्मा का ज्ञान होना चाहिए।"† जो अध्यापक कोरे शब्दों से शिक्षार्थी को संतुष्ट करना चाहता है, जो धर्म का ज्ञान तो रखता है, किंतु धर्म के सत्य को अपने जीवन में नहीं उतारता, वह धर्म के रहस्य को या धर्म के तत्त्व को नहीं पहचानता।

आदर्श शिक्षक का दूसरा गुण है निष्पाप होना। स्वयं सत्य का ज्ञान प्राप्त करने

† 'The Complete Works' Vol. III p. 48

और दूसरों को उसकी शिक्षा देने के लिए यह अनिवार्य है कि वह हृदय और आत्मा से पवित्र हो। जब शिक्षक स्वयं परम पवित्र होता है तभी उसके शब्दों का कुछ मूल्य होता है। शिक्षक का कार्य बालक की ज्ञानात्मक और मानसिक शक्तियों को उत्तेजित करना मात्र नहीं है, वरन् बालक को 'कुछ हस्तांतरित करना' भी है और यह है अपने व्यक्तित्व का प्रभाव। यही बालक को उसकी देन है, अतः शिक्षक को अनिवार्य रूप से पवित्र होना चाहिए।

शिक्षक के तीसरे गुण का संबंध उसकी आंतरिक प्रेरणा 'भावना' से है। शिक्षक को किसी स्वार्थवश, रुपये-पैसे के लिए या प्रसिद्धि के लिए शिक्षा नहीं देनी चाहिए। उसे प्रेम, मानव-प्रेम की भावना से प्रेरित होना चाहिए। केवल प्रेम के माध्यम से ही बालक में आत्मशक्ति पहुँचायी जा सकती है। स्वार्थसाधन, अर्थ या ख्याति की भावना से यह माध्यम नष्ट हो जाता है।

शिक्षक को अपने विद्यार्थी के प्रति सहानुभूति रखनी चाहिए तथा उसकी प्रवृत्तियों तथा धारणाओं का अध्ययन पूर्णरूप से करना चाहिए। उसे विद्यार्थी की सद्प्रवृत्तियों को सदैव प्रोत्साहित करना चाहिए और किसी भी मूल्य पर किसी प्रकार भी नष्ट न होने देना चाहिए। 'सच्चा शिक्षक वही है जो क्षणभर में अपने को हजारो व्यक्तियों में परिणित कर सके' अर्थात् हज़ारों बालकों के स्थान पर अपने को रख कर उनकी समस्याओं और संस्कारों को 'देख और समझ सके और अपनी आत्मा का संचार अपने शिष्य की आत्मा में कर सके। केवल ऐसा ही शिक्षक वास्तव में शिक्षा दे सकता है, दूसरा नहीं।

चरित्र-संबंधी शिक्षा

स्वामी विवेकानंद ने शिक्षा में चरित्र-निर्माण के उद्देश्य को विशेष महत्त्वपूर्ण माना है। मनुष्य के इस चरित्र-निर्माण में उसके विचारों का प्रमुख स्थान होता है। जिस मनुष्य का विचार जैसा होता है उसी के अनुरूप उसका चरित्र भी बनता है। उनके विचार में मनुष्य का चरित्र प्रवृत्तियों का समन्वित या पुंजीभूत रूप होता है। मनुष्य का मानसिक झुकाव जिस प्रकार का होता है उसी प्रकार का उसका चरित्र भी होता है। सुख और दुःख मनुष्य की आत्मा पर विभिन्न प्रकार के चित्र अंकित कर जाते हैं और इन चित्रों का जो समन्वित प्रभाव मनुष्य पर पड़ता है उसी से उसके चरित्र का निर्माण होता है। 'हम और कुछ नहीं हैं, वरन् अपने विचारों द्वारा निर्मित या उनके प्रतिबिंब हैं। विचार हमारे भीतर विद्यमान रहते हैं, वे दूर-दूर तक संचरण करते हैं, वे हमसे क्या नहीं करा सकते?' अतः हम सबको अपने विचारों का बहुत ध्यान रखना चाहिए।

स्वामीजी का कथन है कि हमारे चरित्र के निर्माण में भलाई और बुराई दोनों का समान योग है। कुछ दशाओं में तो विपत्तियाँ सुख की अपेक्षा अधिक महान शिक्षक का

कार्य करती हैं। संसार के महापुरुषों के चरित्र पर विचार करने से ज्ञात होता है कि अनेक दशाओं में सुख की अपेक्षा आपदाओं ने, वैभव की अपेक्षा दरिद्रता ने और प्रशंसा की अपेक्षा आघातों ने उनके जीवन के अंतःप्रकाश को अधिक प्रज्वलित और व्यक्त किया है। देखा जाता है कि जब हृदय में प्रेम का आविर्भाव होता है, जब आपदाओं की आँधियाँ चलने लगती हैं तथा साहस और आशा का प्रकाश बुझता हुआ प्रतीत होने लगता है, तभी महान आध्यात्मिक झोकों के बीच हमारे अंतःकरण में स्थित प्रकाश ज्योतित हो उठता है।

स्वामीजी ने मनुष्य के मन की उपमा एक सरोवर से दी है। जिस प्रकार सरोवर में उठने वाली कंपन या लहर शांत होकर भी नष्ट नहीं होती, उसी प्रकार हमारे मन में उठने वाली तरंगें शांत होकर भी पूर्णतया नष्ट नहीं होतीं, वल्कि मन पर अपना एक छाप छोड़ जाती हैं। भविष्य में पुनः उस छाप के उभरने की संभावना बनी रहती है। हमारे प्रत्येक कार्य, हमारे शरीर के प्रत्येक स्पंदन, हमारे प्रत्येक विचार मन पर ऐसे प्रभाव छोड़ जाते हैं कि वे बाहर से दृष्टिगोचर न होने पर भी अचेतनावस्था में मन के भीतरी तल में अपना कार्य किया करते हैं। हमारे जीवन का प्रत्येक क्षण इन्हीं प्रभावों से निर्धारित होता है। प्रत्येक व्यक्ति का चरित्र इन्हीं समन्वित प्रभावों से बनता है। यदि ये प्रभाव अच्छे होते हैं, तो मनुष्य का चरित्र उत्तम होता है और यदि ये बुरे होते हैं तो चरित्र निकृष्ट होता है। उदाहरण के लिए यदि कोई मनुष्य निरंतर बुरे शब्दों को सुनता है, बुरे विचार सोचता है और बुरे काम करता है तो उसका मन बुरे प्रभावों से आच्छादित हो जाता है और विना उसकी जानकारी के ये प्रभाव उसके चरित्र और कार्य को प्रभावित करते हैं। वास्तव में मनुष्य के मन पर पड़ने वाले बुरे प्रभाव निरंतर क्रियाशील रहते हैं और इनका परिणाम यह होता है कि मनुष्य में निकृष्ट कार्य करने की दृढ़ भावना उत्पन्न होती है और वह वैसे ही कार्य करता है। वह बुरे प्रभावों के वश में हो कर यंत्रवत निम्न कोटि के कार्य करता है।

इसी प्रकार अच्छे विचारों और कार्यों का भी प्रभाव मनुष्य के चरित्र पर पड़ता है। जो मनुष्य सद्विचारों में लीन रहता है उसके मन पर उनका प्रभाव पड़ता है और वह अच्छे कार्य करता है। फलस्वरूप मनुष्य में अच्छे कार्य करने की एक प्रबल प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है जिसके कारण वह सदैव शुभ कार्यों को ही करता रहता है। इन सुंदर विचारों से उसका मन इस प्रकार आवृत्त हो जाता है कि वह बुरे कार्य करने को तत्पर नहीं होता। जब ऐसी स्थिति आ जाती है तब कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति का चरित्र सुंदर और दृढ़ है। किसी मनुष्य के चरित्र की कसौटी उसके महान कार्य नहीं, वरन् सामान्य कार्य होते हैं। यदि किसी व्यक्ति के चरित्र को परखना हो तो उसके सामान्य क्रियाकलापों पर ध्यान देना चाहिए, छोटे-छोटे सामान्य, दैनिक कार्य किसी व्यक्ति के वास्तविक चरित्र का बोध करा देते हैं। महान अवसरों पर तो छोटे या

सामान्य व्यक्ति के मन में भी महान विचार उत्पन्न हो जाते हैं, किंतु वास्तव में महान वही व्यक्ति होता है जिसका आचरण सदैव प्रत्येक स्थिति में ऊँचा रहे।

इसके अतिरिक्त अच्छे या बुरे, जिस प्रकार के अधिक प्रभाव हमारे मन पर पड़ते हैं और जब वे संगठित हो जाते हैं तब हमारी आदत उन्हीं के अनुरूप बन जाती है। आदत को प्रतिस्वभाव (Second n tu) कहा भी गया है। इन्हीं आदतों और पूर्व-जन्म के संस्कारों के आधार पर मनुष्य के चरित्र का निर्माण होता है। हमारा जीवन जैसा भी है वह हमारी आदतों का परिणाम है। बुरी आदतों के रोकने का एकमात्र उपाय है अच्छी आदतें डालना। उसके लिए निरंतर सद्विचारों और सत्कार्यों में लगा रहना आवश्यक है। कभी भी यह नहीं कहना चाहिए कि अमुक व्यक्ति बुरा है क्योंकि वह केवल एक विशेष प्रकार के चरित्र या बुरी आदतों का प्रतिनिधित्व करता है और उसकी इन आदतों का सुधार अच्छी आदतों द्वारा किया जा सकता है। चरित्र बार-बार की आदतों से बनता है और अच्छी आदतों के बार-बार दुहराने से ही उसका सुधार किया जा सकता है।

चरित्र-गठन की उपर्युक्त प्रक्रिया पर ध्यान देने से हमें यह पता चलता है कि अपनी सभी प्रत्यक्ष बुराइयों का कारण हम स्वयं ही हैं। इसके लिए किसी देवी-देवता को दोषी ठहराना उचित नहीं है। हमें यह भी नहीं सोचना चाहिए कि किसी अन्य शक्ति की सहायता या परमात्मा की अनुकंपा के बिना हमारा उद्धार नहीं हो सकता। कारण, मनुष्य की दशा रेशम के कीड़ों की भाँति है। जिस प्रकार रेशम का कीड़ा अपने भीतर के तत्वों से ही रेशम के धागे को अपने चारों ओर बुन लेता है और अंत में उसी में बंद हो जाता है उसी प्रकार मनुष्य अपने स्वयं के कर्म-सूत्रों में अपने को बाँध लेता है और अज्ञान के कारण अपने को बंदी समझता है। इस बंधन से मुक्त होने के लिए किसी बाहरी सहायता की आवश्यकता नहीं है, वरन् यह सहायता हमें अपने भीतर से ही प्राप्त हो सकती है।

हम जो भूलें अथवा ग़लतियाँ करते हैं उनका एक मात्र कारण हमारी दुर्बलता है और यह दुर्बलता अज्ञान से उत्पन्न होती हैं। इस अज्ञान का कारण भी हम स्वयं ही हैं। उदाहरण के लिए जब हम अपनी आँखों पर हथेली रख लेते हैं तो अंधेरा हो जाता है और जब उसे हटा लेते हैं तो प्रकाश दिखायी देने लगता है। यह प्रकाश तब भी वर्त्तमान था, किंतु हमें इसलिए दिखायी नहीं दे रहा था कि हमने अपनी आँखों को हथेली से मूँद लिया था। अतः हमने स्वयं अपने को अज्ञान के अंधकार में डाल रखा है। अपनी इच्छा-शक्ति का निरंतर विकास और अभ्यास करने से मनुष्य ऊँचा उठ सकता है। अपनी भूलों और गलतियों के लिए बैठ कर रोने की आवश्यकता नहीं है, वरन् अपने चरित्र का निर्माण करने और अपने वास्तविक स्वभाव को विकसित एवं पुष्ट करने की आवश्यकता है।

धार्मिक शिक्षा

स्वामी विवेकानंद के धर्म-संबंधी विचारों का उल्लेख, उनके जीवन-दर्शन पर प्रकाश डालते समय, हम पहले कर चुके हैं। उनके अनुसार 'धर्म' ही शिक्षा की आत्मा है। किंतु धर्म से विवेकानंद का तात्पर्य किसी धर्म-विशेष—हिंदू, बौद्ध, ईसाई—से नहीं है। अपने गुरु श्री रामकृष्ण परमहंस की भाँति वह धर्म के औपनिषदिक रूप—'एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति'—को स्वीकार करते हैं, अर्थात् सत्य तो एक ही है, परंतु पंडित लोग उस सत्य की व्याख्या नाना प्रकार से करते हैं। श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है, "किसी भी प्रकार जो मुझे प्राप्त कर लेता है, मैं उसकी श्रद्धा को दृढ़ और अचंचल बनाता हूँ। मनुष्य किसी भी प्रकार मुझे प्राप्त करे, फिर भी मैं उसकी सेवा करता हूँ।....सभी मार्ग, 'धर्म' मेरे द्वारा बनाये गये हैं।" †

धर्म, एक साधना—स्वामीजी के विचार में वास्तविक धर्म, 'सिद्धांतों, अंधविश्वासों और शास्त्रीय तर्कों में नहीं है। धर्म अनुभूति या आत्मा-साक्षात्कार है।'* जिस प्रकार केवल शल्य- चिकित्सा की पुस्तकों को पढ़कर कोई व्यक्ति शल्य-चिकित्सक (सर्जन) नहीं बन सकता, उसी प्रकार केवल धर्मग्रंथों का अध्ययन करके कोई व्यक्ति धार्मिक नहीं बन सकता। जिस प्रकार किसी देश का मानचित्र देखकर उस देश को देखने की जिज्ञासा की पूर्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार केवल धर्म-ग्रंथ पढ़कर व्यक्ति धर्म या परमात्मा को तब तक नहीं समझ सकता जब तक साधना का आश्रय लेकर स्वयं ईश्वर का अनुभव नहीं करता। जिस प्रकार किसी देश का मानचित्र हमारी जिज्ञासा को और अधिक जाग्रत करता है और हम उस देश के विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए उत्सुक होते हैं, उसी प्रकार धार्मिक ग्रंथ हमें ईश्वर का बोध करने के लिए उत्सुक बनाते हैं। मंदिर, गिरजाघर, धर्मग्रंथ आदि धर्म की अनुभूति के आरंभिक सोपान हैं, किंडर गार्टन या बाल-पोथी हैं, जिन्हें पढ़कर धर्म के उच्च क्षेत्र की ओर अग्रसर होने में बालक को प्रोत्साहन और दृढ़ता प्राप्त होती है। ‡

आत्म-साक्षात्कार या अनुभूति की प्राप्ति हृदय द्वारा ही हो सकती है। बुद्धि उस ऊँचे स्तर तक कभी नहीं पहुँचा सकती, जहाँ हृदय की पहुँच है। हृदय बुद्धि के परे उस स्तर को प्राप्त करता है जहाँ दैवी-ज्ञान का प्रकाश है। 'हमारे हृदय के माध्यम से ही ईश्वर हमें संदेश देता है।' वर्त्तमान शिक्षा का सबसे बड़ा दोष यही है कि यह केवल

---

† 'भगवद् गीता', अध्याय ४. श्लोक ११

* 'The Complete Works,' Vol. I, p. 43

‡ 'The Complete Works,' Voll, I p. 43

बौद्धिक है, इसमें हृदय का परिष्कार नहीं किया जाता, हृदय का प्रशिक्षण नहीं हो पाता, अतः आधुनिक शिक्षा अधूरी है। इसका सबसे बड़ा दोष तो यह है कि यह अधूरी शिक्षा मनुष्य को स्वार्थी बनाती है।

धार्मिक शिक्षा की विधि—छात्रों को धार्मिक शिक्षा देने की विधि है पाठशालाओं में संतों की पूजा, अर्चा का प्रारंभ। उनके सम्मुख राम, कृष्ण और बुद्ध जैसे प्राचीन काल के महान पुरुषों तथा रामकृष्ण परमहंस जैसे आधुनिक काल के महात्माओं का आदर्श रखना चाहिए, जिससे वे उनका अनुसरण कर सकें। किंतु भारत की वर्त्तमान परिस्थिति में सेवा और साहस के प्रतीक हनुमान का चरित्र आदर्श है। गीता के प्रवक्ता श्रीकृष्ण तथा शक्ति की प्रतीक दुर्गा की पूजा होनी चाहिए। श्रीकृष्ण के जीवन के लीला-पक्ष को कुछ समय के लिए स्थगित कर देना चाहिए क्योंकि इससे देश में शक्ति का पुनः संचार करने में सहायता नहीं मिलेगी। संगीत की कीर्तन आदि शैलियों को तत्काल छोड़कर, ध्रुपद आदि तालों का श्रवण करना चाहिए। कारण यह है कि कीर्तन में लोग ढोल और करताल बजा बजाकर नाचते गाते हैं और आत्म-विभोरता, जो भगवत्-प्रेम की अत्यंत उच्च स्थिति है और जिसके लिए पूर्ण पवित्र जीवन व्यतीत करना अनिवार्य है, की नक़ल करते हैं। इस प्रकार के छद्म व्यवहार ने लोगों को अधोगामी बनाकर घोर तमस् में डुबा दिया है। कीर्तन से हृदय में केवल कोमल भाव जाग्रत होते हैं। परंतु देश की वर्त्तमान स्थिति को ध्यान में रखते हुए कीर्तन एवं शृंगाररस-प्रधान संगीत के स्थान पर ध्रुपद आदि गंभीर एवं वीररस-युक्त गायन की आवश्यकता है जिससे लोगों में पौरुष की भावना का विकास हो।

स्वामीजी का दृढ़ विश्वास है कि वेदमंत्रों की विद्युत्-ध्वनि द्वारा देश में पुनः जीवनी-शक्ति का संचार किया जा सकता है। वह बलपूर्वक आदेश करते हैं कि आज फिर हमें अपना प्रत्येक कार्य वीर पुरुषत्व की तपस्वी भावना से प्रेरित होकर करना चाहिए। यदि इस आदर्श के अनुकूल हम अपना चरित्र बना सकें तो हज़ारों व्यक्ति हमारा अनुसरण करके अपने व्यक्तित्व का निर्माण कर सकेंगे। परंतु ध्यान रहे कि आदर्श से तिल भर भी पीछे न हटना होगा, कभी भी साहस नहीं छोड़ना होगा। आहार-विहार, वेष-भूषा, खेलने-कूदने, गाने-बजाने, हर्ष-शोक आदि सभी कार्यों में प्रत्येक को उच्च नैतिक बल का प्रदर्शन करना चाहिए और अपने मन में क्षणभर के लिए भी दुर्बलता नहीं आने देनी चाहिए। 'महावीर का स्मरण करो, माँ दुर्गा का स्मरण करो, तुम देखोगे कि तुम्हारे हृदय की कायरता और दुर्बलता दूर हो जायेगी।'

स्वामी विवेकानंद ने 'धार्मिक' होने की व्याख्या नवीन ढंग से की है। प्राचीन धर्मों के अनुसार ईश्वर में विश्वास न करने वाला व्यक्ति नास्तिक है। अद्वैत की व्याख्या करते हुए स्वामीजी का कहना है कि नास्तिक वह व्यक्ति है जो स्वयं में श्रद्धा या विश्वास

नहीं रखता है। यहाँ 'स्वयं' से तात्पर्य किसी एक व्यक्ति की आत्मा से नहीं है, वरन् उस एक 'आत्मा' से है जो हम सभी में व्याप्त है। यही आत्म-विश्वास संसार को उच्च स्तर पर पहुँचा सकता है। यही विश्वास हमें केवल मानव से ही नहीं, वरन् पशु-पक्षियों से अर्थात् प्राणीमात्र से भी प्रेम करना सिखाता है। इसी भावना से प्रेरित होकर संसार के अनेक व्यक्ति महान आत्मा बन सके। अद्वैत की इस भावना में अद्भुत शक्ति है। यही वास्तविक धर्म है और ऐसा धर्म ही शक्ति है। धर्म के अभाव में ही मनुष्य शक्तिहीन हो जाता है। स्वामीजी के विचार में 'शक्तिहीनता ही पाप और बुराइयों की जननी है।' शक्तिहीन मनुष्य ही दूसरों को आघात पहुँचाने की चेष्टा करता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को अहर्निश 'सोऽहम्' का जप करते रहना चाहिए जिससे उसे अपनी वास्तविक प्रकृति का स्मरण रहे। प्रत्येक बालक के भीतर 'सोऽहम्' का विचार आरंभ ही से माँ के दूध के साथ प्रवेश करना चाहिए। अतः पहले बालक इस विचार का श्रवण करे, फिर इस पर मनन करे और तत्पश्चात् यह विचार स्वयमेव उसे महान कार्य करने के लिए प्रेरित करेगा।

धार्मिक होने के लिए आवश्यक है 'सत्य बोलना' क्योंकि सत्य ही शाश्वत है और यही सब आत्माओं की वास्तविक प्रकृति है। दूसरे शब्दों में, 'सत्य ही शक्ति-स्वरूप, शुद्ध-स्वरूप एवं ज्ञान-स्वरूप है। सत्य उसे ही कहा जा सकता है जो हमें शक्ति दे, प्रकाश दे और स्फूर्ति दे।' सत्य का मानदंड यही है कि जो वस्तुएँ हमें शारीरिक, मानसिक और आत्मिक दृष्टिकोण से निर्बल बनाएँ उन्हें विष समझकर त्याग देना चाहिए। जीवन के परम एवं शाश्वत सत्य हमें उपनिषदों से प्राप्त होते हैं। यदि हमें अपना उत्थान करना है तो उपनिषदों के सत्य को जीवन में व्यवहृत करना होगा। इस प्रकार न केवल व्यक्ति का कल्याण होगा, वरन् समस्त भारत का उत्थान होगा।

धार्मिक बनने के लिए सबसे प्रथम आवश्यकता यह है कि मनुष्य अपने शरीर को स्वस्थ बनाये। शारीरिक दुर्बलता हमारी एक-तिहाई विपत्तियों की जननी है। स्वामी विवेकानंद ने देश के नवयुवकों को परामर्श देते हुए कहा है, "सबसे पहले हमारे युवकों को स्वस्थ और शक्तिशाली बनना चाहिए, धर्म तो बाद की चीज़ है....तुम गीता पढ़ने की अपेक्षा फुटबाल खेलने के द्वारा स्वर्ग के अधिक निकट पहुँच सकते हो....यदि तुम्हारे शरीर में स्वस्थ रक्त है तो तुम कृष्ण की महान मेधा और महान शक्ति को अधिक अच्छी तरह समझ सकते हो। यदि तुम्हारा शरीर स्वस्थ है, अपने पैरों पर खड़े हो सकते हो और अपने भीतर मानव-शक्ति का अनुभव कर सकते हो तो तुम उपनिषदों और आत्मा की महत्ता को अधिक भलीभाँति समझ सकोगे।'† 'शक्ति ही शिव है और दुर्बलता पाप।'‡ 'असीम शक्ति ही धर्म है।'*

---

† 'The complete Works', Vol. III p. 242

‡ 'The complete Works', Vol. III, p. 120

* 'The complete Works', Vol. VII, p. 11

यह असीम शक्ति हमें कहाँ से प्राप्त होगी ? उपनिषदों के दर्शन का अनुसरण करने से। स्वामीजी का कथन है कि विश्वभर में केवल उपनिषद् ही ऐसा दर्शन है जिसमें ईश्वर या मनुष्य के लिए 'अभय' विशेषण का प्रयोग हुआ है। इस संबंध में स्वामी विवेकानंद ने सिकंदर महान से संबंधित एक घटना का वर्णन किया है। सिकंदर सिंधु नदी की घाटी पर खड़ा एक संन्यासी से बात कर रहा था। वह संन्यासी नग्न था और शिलाखंड पर बैठा हुआ था। सिकंदर उस संन्यासी की प्रतिभा एवं ज्ञान से अत्यधिक प्रभावित हुआ और उससे यूनान चलने का अनुरोध करने लगा। उसने संन्यासी को धन और मान आदि का लोभ दिखाया। सिकंदर की बातें सुनकर संन्यासी केवल मुस्कराया और जाने से इंकार कर दिया। इस पर सिकंदर ने धमकी दी कि 'यदि तुम नहीं चलोगे तो मैं तुम्हें मार डालूँगा।' संन्यासी ने प्रत्युत्तर में कहा 'जितना असत्य तुम इस समय बोल रहे हो उतना असत्य तो जीवनभर भी न बोले होगे। मुझे कौन मार सकता है ? क्योंकि मैं अजर अमर आत्मा हूँ।' यही 'शक्ति' है।

हमें शक्ति चाहिए 'और ''उपनिषद् शक्ति की खान हैं। उनमें इतनी शक्ति है कि वे सारे संसार में शक्ति का संचार कर सकते हैं। उनके द्वारा सारे विश्व को स्वस्थ, शक्तिशाली तथा तेजोमय बनाया जा सकता है। वे दुँदुभी के स्वर में संसार की सब जातियों और संप्रदायों के दुर्बल, दलित, दुखी व्यक्तियों को स्वावलंबी तथा स्वतंत्र बनने के लिए ललकारते हैं। 'शारीरिक स्वतंत्रता, मानसिक स्वतंत्रता और आध्यात्मिक स्वतंत्रता' यही उपनिषदों के सांकेतिक शब्द हैं।''*

स्त्री-शिक्षा

स्वामी विवेकानंद के समय में स्त्री और पुरुष का स्थान बराबर नहीं था। स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा हेय दृष्टि से देखा जाता था। उन्हें यह बात अनुचित प्रतीत हुई। स्वामीजी ने वेदांत द्वारा प्रतिपादित आत्मा के स्वरूप की चर्चा करते हुए कहा है कि यह समझना बड़ा कठिन है कि इस देश में स्त्रियों और पुरुषों में इतना भेद-भाव क्यों किया जाता है जब कि वेदांत ने यह घोषणा की है कि प्रत्येक प्राणी में एक ही आत्मा निवास करती है। इतिहास पर दृष्टि डालने से भी यही पता चलता है कि वेद और उपनिषद्-काल में मैत्रेयी तथा गार्गी जैसी विदुषी नारियाँ थीं जिन्हें ऋषियों का स्थान प्राप्त था। वास्तविकता यह है, उन्होंने बताया कि भारत को अवनति के काल में स्मृतियों और पुरोहितों ने स्त्रियों को उनके अधिकारों से वंचित कर दिया। स्वामी विवेकानंद का कथन है कि हमारे देश के पतन के जो अनेक कारण हैं उनमें मुख्य है शक्ति-रूपिणी नारी-जाति का निरादर। मनु ने भी कहा है कि ''जहाँ नारियों का सम्मान होता है वहाँ देवताओं का निवास होता है। जहाँ उनका अनादर होता है, वहाँ सारे प्रयत्न और कार्य व्यर्थ

---

* 'The Complete Works', Vol III, p. 238

होते हैं। उस परिवार या देश के उत्थान की कोई आशा नहीं है जिसमें स्त्रियाँ दुखी रहती हैं।"

स्वामी विवेकानंद के विचारानुसार नारी-शिक्षा के केन्द्र में धर्म की स्थापना होनी चाहिए। स्त्रियों के लिए धार्मिक-शिक्षण चरित्र निर्माण, तथा ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है। हिंदू नारियाँ संयम या पवित्रता के अर्थ ,तथा उसके महत्व को स्वयमेव जानती हैं क्योंकि यह विशेषता उन्हें आनुवंशिक उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त है। सबसे प्रथम उनके हृदय में आदर्श की भावना को तीव्र करना चाहिए ताकि इस आदर्श के कारण वे अपने चरित्र का निर्माण कर सकें। चरित्र-निर्माण के कारण वे अपने विवाहित या अविवाहित (यदि वे अविवाहित रहना चाहें तो), जीवन की किसी भी स्थिति में रंचमात्र भी भयभीत नहीं होंगी। अपने संयम से डिगने की अपेक्षा वे मृत्यु का वरण श्रेयस्कर समझेंगी। स्वामी विवेकानंद ने 'सीता' को भारतीय नारी के सतीत्व एवं आदर्शों का उच्चतम प्रतीक माना है।

शिक्षा के क्षेत्र में वालिकाओं को बालकों के समान शिक्षा देनी चाहिए। उन्हें ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे वे दूसरे के ऊपर आश्रित तथा कठिन समय में दुखी न रह सकें। बालकों की भाँति वालिकाओं को भी ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। यदि वे पूर्ण ब्रह्मचर्य-पालन करना चाहें तो कर सकती हैं। पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए उन्हें बौद्धिक विकास में अपना जीवन लगाना चाहिए क्योंकि यदि एक भी स्त्री ने 'ब्रह्म' का ज्ञान प्राप्त कर लिया तो उसके व्यक्तित्व की चमक से हज़ारों स्त्रियाँ अनुप्राणित होंगी, सत्य के प्रति जागरूक होंगी और इस प्रकार समाज और देश का महान कल्याण निश्चित हो जायगा। अतः केवल सच्चरित्र ब्रह्मचारिणियों को ही शिक्षण का कार्य करना चाहिए।

स्त्रियों के लिए इतिहास, पुराण, गृह-विज्ञान, कला, पारिवारिक जीवन के सिद्धांत तथा विकास में सहायक ग्रंथों का अध्ययन उचित है। इनके अतिरिक्त उन्हें सिलाई, पाक-कला, पारिवारिक कार्यों के नियम तथा शिशु-पालन की शिक्षा भी दी जानी चाहिए। जप, पूजा, उपासना आदि उनकी शिक्षा के अनिवार्य अंग होने चाहिए। पठन-पाठन के साथ ही उन्हें वीरता और शौर्य का भाव भी ग्रहण करना उचित है। आज उनके लिए आत्मरक्षा की कला सीखना भी आवश्यक हो गया है। इस संबंध में विवेकानंद ने झाँसी की रानी की प्रशंसा की है। आज के युग की पुकार है कि माताएँ पवित्र एवं निर्भय बनें; प्राचीन नारियों—संघमित्रा, लीला, अहिल्याबाई, मीराबाई—की परंपरा कायम रखें तथा वीर पुत्रों को जन्म दें। यदि नारियाँ पवित्र, विदुषी एवं वीरांगना होंगी तो उनके द्वारा उत्पन्न पुत्र अपने सत्कार्यों द्वारा देश को महिमामंडित करेंगे और तभी देश में सभ्यता, संस्कृति, ज्ञान, शक्ति और भक्ति की भावना जाग्रत होगी।

सर्वसाधारण के लिए शिक्षा

स्वामी विवेकानंद देश की अशिक्षित, अर्द्ध बुभुक्षित, अर्द्ध नग्न जानता को देख कर अत्यंत दुखी थे। सर्वसाधारण की ऐसी उपेक्षा को वह राष्ट्रीय अपराध मानते थे। जनता की इसी दुरवस्था को वह देश के पतन का कारण मानते थे। कोई राष्ट्र उसी अनुपात में उन्नत माना जाता है जिस अनुपात में वहाँ के लोग शिक्षित एवं प्रबुद्ध होते हैं। अतः हमारा प्रथम कर्त्तव्य है जनता के विसर्जित व्यक्तित्व का पुर्ननिर्माण। इसके लिए रास्ता यह है कि हमारे जिन ग्रंथों में महान आध्यात्मिक शक्ति का भंडार संचित है उनको थोड़े-से व्यक्तियों के एकाधिकार से बाहर निकाल कर सामान्य जनता तक पहुँचाया जाय। उन ग्रंथों को संस्कृत भाषा के द्वारा नहीं, वरन् जनता की अपनी भाषाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया जाय क्योंकि सब लोगों के लिए संस्कृत का ज्ञान कठिन है। 'उन्हें केवल मूल विचारों से परिचित कराना है, प्रभाव के रूप में शेष वे सब समझ लेंगे।' उन्हें यह ज्ञात होना चाहिए कि धर्म पर उनका भी वही अधिकार है जो ब्राह्मणों का। सामान्य जनता को यह अनुभव करना चाहिए कि वह भी दिव्य प्रकाश-रूप ईश्वर का अंश है। 'वेदांत की इन अवधारणाओं को जंगलों और गुफ़ाओं से बाहर आना चाहिए। उन्हें न्यायालयों, झोपड़ियों तथा मछुओं, विद्यार्थियों आदि विभिन्न वर्गों की सामान्य जनता तक पहुँचना चाहिए।' वेदांत की शिक्षाएँ सब के लिए हैं, चाहे किसी का व्यवसाय कुछ भी हो। यह पूछा जा सकता है कि मछुए या सामान्य जन उपनिषद् के विचारों को कैसे व्यावहारिक रूप दे सकते हैं? इसके लिए भी मार्ग बताया गया है। 'यदि मछुआ अपनी आत्मा को समझता है तो वह एक कुशल मछुआ होगा। यदि एक विद्यार्थी अपनी आत्मा को समझता है तो वह बुद्धिमान विद्यार्थी होगा।' यह तो सत्य है कि जैसे विचार होते हैं मनुष्य वैसे ही कार्य करता है। अतः अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होने पर व्यक्ति उसी के अनुरूप कार्य करने की चेष्टा करेगा।

सामान्य जनता के उत्थान के लिए स्वामीजी यह आवश्यक समझते हैं कि लोगों को अपनी दशा सुधारने का ज्ञान होना चाहिए। उन्हें यह जानना चाहिए कि संसार में उनके चारों ओर क्या हो रहा है, तभी उनमें उन्नति करने के लिए भावनाएँ एवं विचार जाग्रत हो सकेंगे। इस उद्देश्य की प्राप्ति का एकमात्र साधन है, जनता को शिक्षित करना। उन्हें गाँव-गाँव, घर-घर जाकर ही शिक्षा देनी होगी। कारण यह है कि गाँव के बालकों को जीविकार्जन के हेतु अपने पिता के साथ खेत पर काम करने के लिए जाना पड़ता है, वे शिक्षा-प्राप्त करने विद्यालय नहीं आ पाते हैं। इस संबंध में स्वामी जी सुझाव देते हैं कि यदि संन्यासियों में से कुछ को धर्मेतर विषयों की शिक्षा प्रदान करने के लिए भी संगठित कर लिया जाय तो बड़ी सरलतापूर्वक घर-घर घूम कर वे अध्यापन तथा धार्मिक शिक्षा दोनों काम कर सकते हैं। कल्पना कीजिए कि दो संन्यासी कैमरा, ग्लोब, कुछ मानचित्रों के साथ संध्या समय किसी गाँव में पहुँचे हैं। इन साधनों के

द्वारा वे अशिक्षित जनता को भूगोल, ज्योतिष आदि की शिक्षा देते हैं। इसी प्रकार कथा-कहानियों के द्वारा दूसरे देश के संबंध मे अपरिचित जनता को वे इतनी वातें बताते हैं जितनी वे पुस्तक द्वारा अपने जीवनभर में भी नहीं सीख सकते। क्या इन वैज्ञानिक साधनों द्वारा आज की जनता के अज्ञानमय अंधकार को शीघ्र दूर करने का यह एक उपयुक्त सुझाव नहीं है ? क्या संन्यासी स्वयं इस लोक-सेवा द्वारा अपनी आत्मा की ज्योति को और अधिक प्रदीप्त नहीं कर सकते ? इस प्रकार संन्यासियों के समय का सदुपयोग होगा और जनता में शीघ्रातिशीघ्र नवीन चेतना का संचार होगा। स्वामीजी कहते हैं कि जनता को इतिहास भूगोल, विज्ञान और साहित्य की शिक्षा के साथ और इन्हीं के द्वारा धर्म के पूर्ण सत्य का ज्ञान कराना चाहिए। जनता को वाणिज्य-व्यवसाय आदि के क्षेत्र में होने वाले नये अन्वेषणों का परिचय भी कराना चाहिए।

शिक्षा के माध्यम के संबंध में स्वामीजी का विचार है कि जनसाधारण को उनकी मातृभाषा द्वारा ही शिक्षा दी जानी चाहिए। उनका कहना है 'उन्हें विचार दो, सूचनाओं का संग्रह वे स्वयं कर लेंगे।' परंतु जन-साधारण की उन्नत स्थिति को स्थिर रखने के लिए उन्हें शिक्षा के साथ एक और वस्तु की आवश्यकता है और वह है 'संस्कृति'। मनुष्यों को सुसंस्कृत होना चाहिए। उन्हें अपनी संस्कृति से पूर्णरूप से न केवल परिचित होना चाहिए, वरन् संस्कृति का पालन करना चाहिए। जब तक सामान्य जनता का सांस्कृतिक विकास न होगा तब तक उनकी स्थिति में स्थायित्व नहीं आ सकता।

मातृ-भाषा और अपने देश की संस्कृति का समर्थन करने के साथ-साथ स्वामीजी संस्कृत भाषा एवं शिक्षा के प्रति अगाध श्रद्धा रखते थे। वह सामान्य शिक्षा के साथ संस्कृत की शिक्षा भी आवश्यक मानते थे क्योंकि 'संस्कृत शब्दों की ध्वनि ही जाति को सम्मान, बल एव शक्ति प्रदान करती है।' स्वामी विवेकानंद के अनुसार गौतम बुद्ध ने यह बड़ी भारी भूल की कि उन्होंने जनता के लिए संस्कृत भाषा के अध्ययन के प्रति उपेक्षा का भाव अपनाया। यद्यपि यह तो उन्होंने बुद्धिमानी की कि अपने विचारों को जनता तक शीघ्रातिशीघ्र पहुँचाने के लिए 'पाली' भाषा का आश्रय लिया, तथापि इसके साथ ही साथ उन्हें 'संस्कृत' भाषा का भी प्रचलन करना चाहिए था।

जीवन-दर्शन पर आधारित शिक्षा-संस्थाएँ

शिक्षा-संस्थाएँ दो प्रकार की होती हैं—अविधिक और सविधिक। अविधिक संस्थाओं के अंतर्गत घर, समाज, मठ, संघ आदि आते हैं और सविधिक के अंतर्गत पाठशाला, विद्यालय और गुरुकुल आदि। स्वामी विवेकानंद और उनके अनुयायियों द्वारा स्थापित मठ और समितियों की गणना अविधिक शिक्षा देने वाली संस्थाओं में है।

स्वामी विवेकानंद ने श्रीरामकृष्ण परमहंस की शिक्षा का प्रसार करने के लिये सन्

१८९७ ई० में 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की। उनके समय में भारत में सबसे पहले वेल्लूरमठ (हावड़ा) और तत्पश्चात् अद्वैतआश्रम (अल्मोड़ा) की स्थापना हुई। स्वामीजी ने वेदांत के प्रचार के लिए न्यूयार्क, अमेरिका में भी 'वेदांत सोसायटी' की स्थापना की। स्वामीजी द्वारा स्थापित 'रामकृष्ण मिशन' के निम्नांकित उद्देश्य हैं :—

१. वेदांत के अध्ययन तथा श्रीरामकृष्ण परमहंस द्वारा निरूपित वेदांत के सिद्धांतों के अध्ययन की उन्नति और प्रसार करना। व्यापक रूप में धर्मशास्त्रों का तुलनात्मक अध्ययन करना।

२. कला, विज्ञान और औद्योगिक विषयों के अध्ययन की उन्नति तथा उनकी शिक्षा का प्रसार करना।

३. उपर्युक्त विषयों में, अध्यापकों का प्रशिक्षण तथा उन्हें जनता तक पहुँचने में समर्थ बनाना।

४. जनता में शैक्षिक कार्य करना।

५. विद्यालयों, कालेजों, अनाथालयों, कारखानों, प्रयोगशालाओं तथा अस्पतालों आदि की स्थापना, उनका संचालन तथा उनकी सहायता।

६. उपर्युक्त कार्यों की उन्नति के लिए पुस्तक-पुस्तिकाओं का मुद्रण, प्रकाशन और विक्रय करना।

'रामकृष्ण मिशन' की कई सौ शाखाएँ आज भारत के सभी प्रदेशों में फैली हुई हैं जो वेदांत की शिक्षा देने के साथ ही स्कूल, कालेज, अस्पताल आदि चलाती हैं। भारत के अतिरिक्त बर्मा, श्रीलंका, फिजी, मारीशस, अमेरिका, दक्षिण अमेरिका, इंगलैंड और फ्रांस में भी रामकृष्ण मिशन की शाखाएँ वेदांत के प्रसार तथा संसार की भलाई का कार्य कर रही हैं।

सहायक साहित्य

स्वामी विवेकानन्द

1. *Education*
2. *Women of India*
3 *Teachings of Swami Vivekananda*
4. *Jnana-Yoga*
5. *Raja-Yoga*
6. *Karma-Yoga*
7. *Bhakti-Yoga*
8. *The Practical Vedanta.*
9. *Realisation and Its Methods.*
10. *The Science and Philosophy of Religion*
11. *Essentials of Hinduism*
12. *Advaita Vedanta*
13. *Powers of the Mind*
14. *The Complete Works of Swami Vivekananda [Eight Volumes]*
15. *Is Vedanta the Future Religion ?*

अन्य लेखक

1 *The Life of Swami Vivekananda*
by His Eastern and Western Disciples
2. Romain Rolland : *Life of Vivekananda and the Universal Gospel*
3. Sister Nivedita : *The Master as I saw Him*
4. Swami Abhedananda : *Swami Vivekananda and His Work in America*

डॉ० एनी बेसेंट

जीवन और कार्य

अपनी मातृभूमि के प्रति अनन्य प्रेम, उसके उत्थान के लिए उत्सर्ग की भावना तथा देशवासियों के प्रति ममता का भाव तो प्रत्येक महापुरुष में पाया जाता है, किंतु किसी अन्य देश को अपनी मातृभूमि मान कर उसके प्राचीन धार्मिक और सांस्कृतिक गौरव का विश्व में प्रचार तथा उसके भावी कल्याण के लिए जीवन अर्पण करने का उदाहरण संसार के इतिहास में विरला ही पाया जाता है। डा० एनी बेसेंट ऐसी ही विदुषी महिला थीं, जिन्होंने विदेशी होकर भी भारत को अपनी मातृभूमि स्वीकार की और यहाँ के धर्म, संस्कृति और अध्यात्म के प्रकाश को संसार में फैलाने के लिए आजीवन प्रयत्न किया। हिंदू धर्म और संस्कृति के पुनरुत्थान, शिक्षा की प्रगति तथा देश में स्व-शासन की स्थापना के लिए उन्होंने जो गौरवपूर्ण कार्य किया, वह हमारे देश के इतिहास का अविस्मरणीय अध्याय है। यद्यपि वह राजनीतिक क्षेत्र में महात्मा गाँधी के विचारों से मतभेद रखती थीं, फिर भी गाँधीजी ने उनके संबंध में कहा था, 'उनमें अपने विश्वासों के प्रति अपूर्व दृढ़ता तथा विचारों को व्यावहारिक रूप देने की अद्वितीय क्षमता थी। एनी बेसेंट के जीवन के अणु अणु में धर्म की भावना व्याप्त थी और उन्होंने धर्म एवं राजनीति के बीच की खाँई को दूर किया, क्योंकि धर्म के बिना स्वराज्य का कोई अर्थ नहीं होता है। उन्होंने भारत को एक गहरी निद्रा से जगाया।'

जन्म और प्रारंभिक जीवन

एनी बेसेंट का जन्म १ अक्तूबर, सन् १८४८ ई० को लंदन में, एक संपन्न आयरिश परिवार में हुआ था। माता-पिता बड़े ही व्यवहार-कुशल, सहिष्णु तथा उदार व्यक्ति थे। उनकी माता का स्वभाव सरल और दयालु था। माता-पिता के सदाचारपूर्ण जीवन का प्रभाव उनके ऊपर पड़ा और बाल्यकाल से ही उनमें निरीहता और दयालुता की भावना घर कर गयी, जिसका विकास उनके भावी जीवन में दृष्टिगोचर होता है।

शैशव काल से ही एनी बेसेंट में संसार के प्रति एक स्वप्नदर्शिता का भाव आ गया। छोटी अवस्था में ही उनमें बौद्धिक गुणों, धार्मिक भावनाओं तथा कल्पनाशील विचारों का आभास मिलने लगा। इस बात की तो कोई सूचना नहीं मिलती कि उन्होंने पढ़ना-लिखना कैसे सीखा, किंतु इतना अवश्य ज्ञात है कि आरंभ से ही उनको रुचि पढ़ने की ओर थी। पाँच वर्ष की आयु में ही वह सरलतापूर्वक पुस्तकें पढ़ने लगीं। इस अवस्था में बालिकाएँ गुड़ियाँ खेलती हैं, किंतु एनी बेसेंट के लिए गुड़ियों से अधिक आनंद पुस्तकों में था, जिन्हें पढ़ते-पढ़ते वह इतनी तन्मय हो जाती थीं कि पुकारने पर भी उनका ध्यान नहीं टूटता था। जब इनकी माता खेलने जाने के लिए कहतीं, तो वे दरवाज़े पर लगे नीले पर्दे में पुस्तक के साथ लिपट जातीं और उसी में लिपट कर पढ़ती रहतीं।

आठ वर्ष की आयु में शिक्षा के प्रभाव-स्वरूप उनके आचरण में धार्मिकता एवं पवित्रता का समावेश हो गया। वह जेम्स की 'इपिस्टिल' का अध्ययन बड़े मनोयोग से करती थीं। स्मरण-शक्ति इतनी तीव्र थी कि पुस्तकों के अध्याय और अनेक अनुच्छेद स्मरण कर लेतीं। अपनी इसी स्मरण-शक्ति के कारण भाषण करते समय वह विभिन्न पुस्तकों के अनुच्छेद के अनुच्छेद उद्धृत कर देती थीं। उनकी यह शक्ति मृत्यु के कुछ वर्षों पूर्व तक बनी रही और इससे उन्हें अपने सार्वजनिक जीवन में बड़ी सहायता प्राप्त हुई। उन्हें अपने मनोवेगों पर पूरा अधिकार था। वह बाल्यकाल से ही गंभीर, विचारशील तथा सतर्क स्वभाव की थीं। अपने कार्यों के संबंध में वह स्वयं आत्मालोचन किया करती थीं। इस प्रकार उनके आरंभिक जीवन में पाये जाने वाले इन गुणों ने भावी जीवन के निर्माण में विशेष योग दिया और वह संसार की महान महिलाओं में अपना स्थान बना सकीं।

मिस मेरियट नामक एक महिला ने एनी बेसेंट का पालन किया और उन्हीं के संरक्षण में उनका बाल्यजीवन व्यतीत हुआ। मिस मेरियट ने बड़े व्यापक और निःस्वार्थ-भाव से उनकी देख-रेख की। एनी बेसेंट धार्मिक और पवित्र विचारों की महिला थीं और उन्होंने कभी भी इस मार्ग की उपेक्षा नहीं की। वह न थियेटर देखने जातीं और न बालडांस में ही भाग लेतीं थीं। बचपन से उन्होंने अपने जीवन में त्याग, दयालुता और निरीहता को प्रमुख स्थान दिया और इन्हें व्यवहार में लाने का सफल प्रयास किया।

विवाह और विच्छेद

उन्नीस वर्ष की आयु में एनी बेसेंट का विवाह रेवरेंड फ्रैंक बेसेंट नामक एक युवक से हुआ, जो एक छोटे-से गिर्जाघर में पादरी थे। इनके पति कट्टर ईसाई थे और उनका जीवन गिर्जाघर की दुनियाँ तक ही सीमित था। एनी बेसेंट प्रारंभ से स्वतंत्रताप्रिय, घरेलू कार्यों से मुक्त, स्वाभिमानिनी और अपने विचारों पर अटल रहने वाली महिला थीं।

उनका बचपन प्यार-दुलार में व्यतीत हुआ था। उन्हें कभी कोई न पिसा रही और न

कटुशब्द सुनने का अभ्यास हो था, किंतु पति-गृह में पहुँच कर उन्हें विचित्र अनुभव हुए। उनका कट्टर धार्मिक पति उनकी स्वच्छंदता से प्रसन्न नहीं रहता था। उन्हें अपने जीवन में प्रथम बार कठोरता का अनुभव हुआ, जिसके फलस्वरूप उनका जीवन बड़ी शीघ्रता से परिवर्त्तित होने लगा। सरलता, स्वच्छंदता और आनंद के स्थान पर उनमें गंभीरता, आत्मलीनता और गर्व की भावना का प्रवेश हो गया। वह स्वयं में खोयी-खोयी-सी रहने लगीं। इस असंतोषपूर्ण दापत्य जीवन के कारण उनका विषाद दिन-प्रति-दिन बढ़ता गया और अंत में उन्होंने अपने पति से संबंध-विच्छेद कर लिया।

सार्वजनिक जीवन में प्रवेश

वैवाहिक जीवन से मुक्ति पाकर एनी बेसेंट ने सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया। चार्ल्स ब्रैडले के संपर्क में आकर वह सच्चे अर्थों में सार्वजनिक सेविका बन गयीं। ब्रैडले के प्रति उनका अटल विश्वास था और वह उनके विचारों का आदर करती थीं। उन्होंने राजनीति और स्वतंत्र,विचारों के प्रचार का गुरुतर भार अपने ऊपर ले लिया और एक पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ किया। इस पत्रिका द्वारा उन्होंने अपने विचारों का प्रचार संसार के कोने-कोने में किया। इनके विचारों से अनेक देशों के व्यक्ति प्रभावित हुए और इन्हें उनकी सहानुभूति प्राप्त हुई। उनकी लेखनी में शक्ति और चमत्कार था। विचारा-भिव्यक्ति की उनकी शैली अपूर्व थी। इस कारण उनकी प्रसिद्धि देश-देशांतरों में फैल गयी। लेखिका होने के साथ ही वह उच्चकोटि की वक्ता भी थीं। उनके भाषण इतने प्रभावशाली, रोचक तथा विचारोत्तेजक होते थे कि उनके मित्र और शत्रु दोनों ही प्रशंसा करते थे।

सन् १८८५ ई० तक थियोसोफ़ी में उनका पक्का विश्वास स्थापित हो गया था। थियोसोफ़ी के अनुकूल उनका यह विचार था कि सत्य से बढ़कर कोई श्रेष्ठ धर्म नहीं है। संसार के सभी धर्म उस सत्य तक पहुँचने के लिए अन्वेषणमार्ग हैं। थियोसोफ़ी के अति-रिक्त उन्होंने संसार के सभी धर्मों का गहन अध्ययन किया। एनी बेसेंट ने थियोसोफ़ी के विषय में वक्तृताएँ दीं, लोगों से शास्त्रार्थ किया और जहाँ भी उन्होंने अपने पक्ष का प्रतिपादन किया, लोगों ने उनकी प्रशंसा की। थियोसोफ़ी के मानने वालों के अतिरिक्त अनेक व्यक्तियों ने उनके उपदेशपूर्ण, सारगर्भित भाषणों से लाभ उठाया। सन् १८८७ ई० में मैडम ब्लावत्स्की जब भारत से इंगलैंड पहुँचीं, तब बेसेंट ने उनसे संपर्क स्थापित किया। ब्लावत्स्की के विचारों एवं उनकी रहस्य साधना से वह इतना प्रभावित हुईं कि उनकी शिष्या और थियोसोफ़िकल सोसायटी की सदस्या बन गयीं।

भारत-आगमन

सन् १८९२ ई० में थियोसोफ़िकल सोसायटी ने अपने अधिवेशन में भाग लेने के लिए

उन्हें भारत आने को आमंत्रित किया। इस निमंत्रण का उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा था, 'बहुत दिनों से आप लोगों से मिलने की मेरी इच्छा है। यद्यपि कर्मों की अनिवार्यतावश इस बार मेरा जन्म पश्चिम में हुआ है, किंतु मैं अपनी मातृभूमि भारत को भूल नहीं सकती हूँ। जब कर्मों का द्वार खुल जायगा, मैं चली आऊँगी।' दूसरे वर्ष सन् १८९३ ई० के १६ नवंबर को बेसेंट भारत आयीं।

यहाँ आकर उन्होंने देखा कि देश पर अंग्रेज़ी राजनीतिक आधिपत्य के साथ ही पाश्चात्य प्रभावों का विस्तार शीघ्रता के साथ हो रहा है। विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी भाषा है और उसके द्वारा यहाँ के युवक भौतिकवाद की ओर आकर्षित हो रहे हैं। विदेशी शासन ने पूरे देश में 'पुलिस राज्य' की स्थापना कर ली है और उसे जनता के कल्याण से अधिक अपने स्वार्थ की चिंता है। ऐसी स्थिति में उन्होंने सर्वप्रथम हिंदू-धर्म के विद्वानों और आचार्यों से संपर्क स्थापित किया और प्राचीन हिंदू-धर्मग्रंथों का विधिवत अध्ययन किया। बहुत ही अल्पकाल में उन्होंने हिंदू-धर्म के गूढ़ रहस्यों को समझ लिया और अपने कार्य की प्रणाली को निर्धारित किया।

पुनरुत्थान काय

थियोसोफ़िकल सोसायटी के तत्वावधान में एनी बेसेंट ने संपूर्ण देश का भ्रमण किया। इस भ्रमण में उन्होंने हज़ारों व्याख्यान दिये, जिनमें भारत के महान अतीत, उसकी सांस्कृतिक गरिमा तथा धार्मिक सिद्धांतों का प्रचार किया। उन्होंने लोगों के मस्तिष्क से अतीत के प्रति जमे हुए उपेक्षा-भाव को दूर किया और भारत की सांस्कृतिक गरिमा को पुनः साकार करने का प्रयत्न किया। उन्होंने यह बताया कि प्राचीन काल में धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में भारत संसार के सभी देशों का शिक्षक रहा है। हिंदू-धर्म के उत्थान के लिए एनी बेसेंट एक नई शक्ति के रूप में अवतरित हुईं। एक विदेशी महिला के मुख से हिंदू-धर्म और संस्कृति की भूरि-भूरि प्रशंसा सुन कर लोगों की आँखें खुलीं और उनमें आत्म-चेतना का जागरण हुआ। इस प्रकार उन्होंने अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे उस वर्ग को पाश्चात्य संस्कृति के प्रवाह में बहने से रोका, जो अपने अतीत को भूल बैठा था, जिसे अपनी संस्कृति के महत्त्व का बोध नहीं था और जो भौतिकवादी विचार-धारा का समर्थक बन रहा था। हिंदू-धर्म के उत्थान के लिए उन्होंने जो काम किया, वह थियोसोफ़ी का एक अंग था, जिसके लिए वह यहाँ आयी थीं। हिंदू-धर्म के प्रति उनके मन में इतनी श्रद्धा थी कि उन्होंने सारे हिंदू-तीर्थों की यात्रा की। अपनी इसी श्रद्धा के कारण उन्होंने सोलह हज़ार फीट की ऊँचाई पर स्थित अमरनाथ की यात्रा की। उन्होंने सन् १९३० ई० में थियोसोफ़िकल सोसायटी के अधिवेशन में धर्म के संबंध में जो भाषण दिया, उससे उनके धर्मविषयक ज्ञान का पता चलता है। वह सेंट्रल हिंदू कालेज, काशी में अपने प्रवचन के पूर्व संस्कृत में प्रार्थना श्लोकों का पाठ करवाती थीं और

तत्पश्चात् प्रवचन करती थीं। हिंदू-धर्म और संस्कृति के पुनरुत्थान-कार्य के अतिरिक्त उन्होंने समाज-सुधार, शिक्षा और राजनीति के क्षेत्र में भी अनेक कार्य किये। इन सभी क्षेत्रों में उन्होंने अपूर्व शक्ति और कार्य-क्षमता का परिचय दिया। भारत के अतिरिक्त अमेरिका, इंगलैंड आदि देशों में एनी बेसेंट ने हिंदू-धर्म और संस्कृति का उद्‌घोष किया और इस प्राचीन देश की महिमा की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया।

इसके पश्चात् उनका ध्यान देश के रूढ़िवादी संकीर्ण भावना वाले वर्गों की ओर गया। उन्होंने अनुभव किया कि देश के अभ्युत्थान के लिए इन शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष करना होगा, किंतु इसके लिए प्रत्यक्ष विरोध का मार्ग न ग्रहण कर उन्होंने अन्य साधनों का अवलंब लिया। यह कार्य उन्होंने अपनी शिक्षा-संस्थाओं द्वारा किया। एनी बेसेंट ने अपने विद्यालयों में भारतीय और पाश्चात्य साहित्य की शिक्षा के साथ आधुनिक विज्ञान को भी स्थान दिया। इन विद्यालयों में उन्होंने प्राचीन धर्म, दर्शन, नीति-शास्त्र आदि विषयों को पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया। वह एक ऐसी महिला थीं, जिनके जीवन में आदर्श और यथार्थ समान रूप में निहित थे। वह केवल स्वप्नद्रष्टा ही नहीं थीं, व्यावहारिक कार्यकर्त्री भी थीं। इसीलिए उन्होंने अपनी शिक्षा-संस्थाओं में सक्रिय समाज-सुधार को भी कार्यान्वित किया।

उनके द्वारा संचालित विद्यालयों के छात्रावासों में रहने वाले प्रत्येक जाति के छात्र साथ-साथ भोजन करते थे। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उनका यह कार्य कितना साहसपूर्ण था क्योंकि उस समय जाति-प्रथा, छुआछूत की संकीर्ण भावना बड़ी प्रबल थी। वह अपने विद्यालयों में विवाहित छात्रों की भर्ती नहीं करती थीं; बालविवाह की कुप्रथा को रोकने का यह प्रत्यक्ष साधन था। जो योरोपीय उनके साथ कार्य करते थे, वे विद्यार्थियों के साथ स्वतंत्रतापूर्वक मिलते-जुलते और उठते-बैठते थे। वह ऐसा इसलिए करने देती थीं कि लोगों के हृदय से जातिगत उच्चता और निम्नता की भावना दूर हो। कन्या-विद्यालयों की स्थापना करके उन्होंने कन्याओं को घर की सीमा और पर्दे से बाहर निकलने का अवसर प्रदान किया। इस प्रकार उन्होंने समाज-सुधार के बहुत-से कार्य किये और सामाजिक जीवन के विकास का मार्ग प्रशस्त किया।

सेंट्रल हिंदू कालेज, काशी की स्थापना

इस देश में एनी बेसेंट ने जो अनेक कार्य किये, उनमें सेंट्रल हिंदू कालेज, काशी की स्थापना का स्थान महत्त्वपूर्ण है। देश के उत्थान के लिए शिक्षा-व्यवस्था में सुधार करना उनकी कार्य-प्रणाली का एक अंग था। उनका यह मत था कि भारत में शिक्षा की कोई भी योजना प्राचीन आदर्शों पर आधारित हुए बिना सफल नहीं हो सकती। वह यह भी अनुभव करती थीं कि शिक्षा की रूप-रेखा बनाने का कार्य भारतीयों को स्वयं करना चाहिए। देश के युवकों में धर्म के प्रति बढ़ती हुई अनास्था और भौतिकवाद

के प्रति आकर्षण को इन्होंने लक्ष्य किया था, अतः सन् १८९८ ई० में उन्होंने काशी में सेंट्रल हिंदू कालेज की स्थापना की। इस कार्य में उन्हें काशी-नरेश की सक्रिय सहानुभूति प्राप्त थी और उन्होंने ही इस कालेज के लिए विस्तृत स्थान प्रदान भी किया। इससे इन्हें आर्थिक सहायता प्राप्त हुई। यह स्मरण रखना चाहिए कि जब महामना पं० मदनमोहन मालवीय ने बनारस हिंदू विश्वविद्यलय की स्थापना का श्रीगणेश किया, तो एनी बेसेंट ने उदारतापूर्वक अपने इस कीर्तिस्तंभ को विश्वविद्यालय में सम्मिलित करने की अनुमति प्रदान कर दी। बनारस हिंदू विश्वविद्यालय का प्रारंभ इसी कालेज से हुआ और यह कालेज अब भी उसका अंग है। एनी बेसेंट और थियोसोफ़िकल सोसायटी द्वारा स्थापित अनेक संस्थाएँ आज देश के विभिन्न भागों में स्थित हैं जहाँ उनके आदर्शों के आधार पर शिक्षा प्रदान की जाती है।

थियोसोफ़िकल सोसायटी की अध्यक्षता

सन् १९०७ ई० में एनी बेसेंट थियोसोफ़िकल सोसायटी की अध्यक्षा चुनी गयीं और वह आजीवन इस पद पर बनी रहीं। इस पद पर रहते हुए वह रहस्य-साधना में विशेष रूप से प्रवृत्त हुई। इस समय उन्होंने एक पुस्तक प्रकाशित की जिसमें सोसायटी ने अपने बहुत-से नेताओं के पूर्वजन्म और भावी जीवन के संबंध में बातें लिखी थीं। उन्होंने लिखा कि सोसायटी के संस्थापक आल्काट पूर्व जन्म में सम्राट् अशोक थे। श्री जे० कृष्णमूर्ति उनकी संरक्षता में थे। उनके विषय में उन्होंने लिखा कि कृष्णमूर्ति के रूप में ईसा ने अवतार लिया है। सोसायटी के बहुत-से लोग कृष्णमूर्ति को दैवी व्यक्ति के रूप में सम्मानित करने लगे। इन सब बातों का बड़ा प्रतिकूल परिणाम हुआ। जे० कृष्णमूर्ति के पिता ने एनी बेसेंट के विरुद्ध मद्रास हाई कोर्ट में मुकदमा दायर किया और अपने पुत्र को अपने अधिकार में लेने के लिए प्रार्थना-पत्र दिया। हाई कोर्ट ने एनी बेसेंट के विरुद्ध निर्णय दिया। अंत में प्रिवी काउंसिल से उनकी जीत हुई और कृष्णमूर्ति को एनी बेसेंट की संरक्षता में रहने की अनुमति मिली, पर इस घटना से सोसायटी और एनी बेसेंट क ख्याति को बड़ा धक्का लगा।

राजनीति में प्रवेश : कांग्रेस की अध्यक्षता

सन् १९१३ ई० के लगभग एनी बेसेंट ने सक्रिय रूप से राजनीति में भाग लेना प्रारंभ कर दिया। सन् १९१४ ई० में उन्होंने 'कामन वील' नामक एक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन किया, जो थोड़े ही दिन बाद 'न्यू इंडिया' के नाम से दैनिक पत्र के रूप में प्रकाशित होने लगा। इस पत्र द्वारा उन्होंने बड़ी निर्भीकता के साथ भारत के लिए स्वशासन की माँग को सरकार के सामने रखा। इनके लेखों और भाषणों ने तत्कालीन राजनीति में हलचल मचा दी। सन् १९१७ में मद्रास सरकार ने भयभीत होकर उनके ऊपर मद्रास

प्रांत से बाहर जाने पर प्रतिबंध लगा दिया। सरकार की इस आज्ञा के विरुद्ध घोर प्रतिक्रिया हुई। देश की जनता ने एक स्वर से प्रतिबंध उठाने के लिए माँग की और स्थान-स्थान पर आंदोलन किया। जनमत के सम्मुख सरकार को बाध्य होकर अपनी आज्ञा को वापस लेना पड़ा। एनी बेसेंट की राजनीतिक सेवाओं और लोक-प्रियता के कारण इसी वर्ष इन्हें कांग्रेस का अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। उस समय किसी नेता के लिए यह बड़े ही गौरव-सम्मान का पद था, जो एनी बेसेंट को प्रदान किया गया। एनी बेसेंट विदेशी महिला थीं, अतः उनके लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह भारत का ब्रिटिश साम्राज्य से पूर्णतया संबंध-विच्छेद करना उचित न समझें। वह ब्रिटिश राज्य के अंतर्गत रहते हुए भारत को स्वशासन दिलाने के पक्ष में थीं क्योंकि राष्ट्रमंडल में रहने पर ही वह भारत और इंगलैंड दोनों का हित मानती थीं। सन् १९१९ ई० में जब महात्मा गाँधी ने भारतीय राजनीति में प्रवेश किया, तो एनी बेसेंट उनके विचारों से सहमत न हो सकीं। परिणामस्वरूप वह धीरे-धीरे सक्रिय राजनीति से पृथक् होती गयीं और उनका समय शिक्षा तथा थियोसोफ़ी के कार्यों में ही व्यतीत होने लगा। सन् १९२४ ई० में कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में वह थोड़े समय के लिए अवश्य सम्मिलित हुई थीं, किंतु इस समय तक वह राजनीति से पूर्णतया अलग हो चुकी थीं। देश के उत्थान के लिए उन्होंने जो कार्य किये और उनका जो व्यापक प्रभाव पड़ा, उसके संबंध में श्रीमती सरोजनी नायडू ने कहा था 'यदि एनी बेसेंट न होतीं, तो महात्मा गाँधी भी न होते।' श्रीमती नायडू के इन शब्दों से एनी बेसेंट के महत्त्व को समझा जा सकता है।

सर्वशुक्ला सरस्वती

एनी बेसेंट के समग्र जीवन और कार्यों का मूल्यांकन करने पर ज्ञात होता है कि उनके व्यक्तित्व का मूलाधार 'धर्म' था। यह आश्चर्य की बात है कि विदेशी महिला होते हुए भी उन्होंने हिंदू-जीवन, आदर्श और धर्म-ग्रंथों को अपनी प्रेरणा का स्रोत माना और उन्हीं के पुनरुत्थान के लिए एकनिष्ठ भाव से अपना सारा जीवन लगा दिया। उनकी बौद्धिक प्रतिभा अत्यंत प्रखर और तीव्र थी। वह केवल आदर्शवादी ही नहीं थीं, वरन् उनमें विचारों के कार्यान्वयन तथा संगठन की अपूर्व क्षमता विद्यमान थी। लेखन तथा वक्तृत्व कला ने उनकी सफलता में बड़ा योग दिया। भाषण करते समय जब वह भारत के महान गौरव का चित्र अंकित करतीं और वर्त्तमान अधोगति को शब्दों में साकार करतीं तो श्रोताओं के नेत्रों से अश्रुपात होने लगता, उनकी वाणी में ऐसी शक्ति थी। बनारस के एक प्रकांड संस्कृतज्ञ ने उनकी वाणी के वैभव से प्रभावित होकर उन्हें 'सर्वशुक्ला सरस्वती' कहा था। उनका जीवन अध्यवसायी था। अध्ययन और अनुभव द्वारा उन्होंने भारत की आत्मा का दर्शन किया इसीलिए जनता के हृदय में उनका स्थान इतना ऊँचा था। वह उदार, सहिष्णु, त्यागी और अनुशासनप्रिय थीं। अपने दैनिक

कार्यों में वह किसी प्रकार व्यतिरेक उत्पन्न न होने देतीं, सारा कार्य नियमित समय पर संपादित करतीं। सभी धर्मों के प्रति उनके मन में समानता और श्रद्धा की भावना थी, यद्यपि उनका स्वाभाविक झुकाव हिन्दू-धर्म की ओर था। अपने विचारों के प्रति दृढ़ता, निर्भीकता, अपराधियों के प्रति क्षमा तथा सभी कार्यों को सौम्य एवं शालीन ढंग से पूर्ण करना उनके चरित्र का प्रधान गुण था। भोजन, वेश-भूषा, रहन-सहन सब में वह देश-काल के औचित्य का पूर्ण ध्यान रखती थीं। समय की परिवर्तित गति को पहचानने की उनमें पैनी दृष्टि थी और यही कारण है कि धार्मिक कट्टरता के होते हुए भी उन्होंने समाज, शिक्षा और राजनीति आदि में भाग लिया।

महाप्रस्थान

जीवन के अंतिम दिनों में एनी बेसेंट मानसिक दृष्टि से दुर्बल हो गयी थीं। यद्यपि बनारस उन्हें बहुत ही प्रिय था, फिर भी अंतिम दिनों में वह थियोसोफ़िकल सोसायटी के केन्द्र, अदियार में ही रहने लगी थीं। यहीं पर पचासी वर्ष की आयु में सन् १९३२ ई० में उन्होंने इस संसार से महाप्रस्थान किया।

जीवन-दर्शन

डा० एनी बेसेंट आयरिश महिला थीं, फिर भी इस देश को अपनी मातृभूमि मान कर जिस श्रद्धा-भक्ति के साथ उन्होंने इसकी सेवा की, वह अतुलनीय है। वह सर्वप्रथम सन् १८९३ ई० में भारत आयीं और यहाँ आकर उन्होंने यह अनुभव किया कि पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति के प्रभाव तथा प्रसार के कारण इस देश के नवयुवकों में अपने धर्म एवं संस्कृति के प्रति संदेह तथा भौतिकवाद की ओर आकर्षण की भावना का विस्तार हो रहा है। अतः इस अनर्थकारी स्थिति को दूर करने के लिए उन्होंने बड़ा ही सक्रिय प्रयत्न किया। सरकार द्वारा दी जाने वाली धर्म-निरपेक्ष शिक्षा के परिणामस्वरूप फैलने वाले नास्तिकवाद के दुष्परिणाम का अनुभव करके उन्होंने यह समझा कि भारत में शिक्षा को तभी सफलता मिल सकती है, जब स्वयं भारतीय उसकी योजना और रूपरेखा बनायें तथा उसे कार्यान्वित करें। शिक्षा का यह कार्य केवल देश-प्रेमी जनों द्वारा नहीं होना चाहिए, बल्कि उन देशभक्तों द्वारा होना चाहिए जो यहाँ की आवश्यकताओं से परिचित हैं, इसकी विचित्रताओं को जानते हैं तथा इसकी विशेषताओं एवं परंपरा के ज्ञाता हैं। उन्होंने बताया कि शिक्षा को उपादेय बनाने के लिए यह अनिवार्य है कि उसकी आधारशिला अतीत एवं वर्त्तमान के पूर्ण ज्ञान पर रखी जाये तथा उसकी रूप-रेखा प्राचीन परंपराओं तथा देशवासियों की प्रकृति के अनुकूल हो। शिक्षा को वर्त्तमान युग की आवश्यकताओं के अनुकूल राष्ट्र के विकास तथा भावी आवश्यकताओं की पूर्ति में सक्षम होना चाहिए।

एनी बेसेंट मूलतः धार्मिक प्रकृति कीं थीं। धर्म के प्रति असीम श्रद्धा के कारण ही उनके जीवन का अधिकांश भाग धार्मिक कार्यों के संपादन तथा धर्म के पुनरुत्थान में व्यतीत हुआ था। भारतीय धर्म और संस्कृति के अध्ययन के फलस्वरूप वह इस निष्कर्ष पर पहुँची थीं कि भारत में सब प्रकार के व्यक्तिगत तथा सामूहिक कार्यों का सुदृढ़ आधार धर्म ही रहा है। उन्होंने सन् १८९३ ई० में अपने एक सुप्रसिद्ध भाषण में कहा था—'भारतीय सभ्यता की विचित्रता इस तथ्य में है कि इसकी रचना आध्यात्मिक उद्देश्य से हुई है, इसका निर्माण विकास में सहायता प्रदान करने के लिए हुआ है। यहाँ शासन के संगठन, परिवार के संगठन तथा यहाँ के निवासियों के संपूर्ण दैनिक कार्य—सबके मूल में आध्यात्मिक विकास और आध्यात्मिक उद्देश्य की प्राप्ति की भावना निहित रही है। इस देश के सामाजिक जीवन के संगठन का भी उद्देश्य अध्यात्म की प्राप्ति ही रहा है।' भारत के आंतरिक तथा वाह्य जीवन के गंभीर निरीक्षण द्वारा वह इस तथ्य तक पहुँच गयी थीं कि इस देश के जीवन का कण-कण अध्यात्म की भावना से आप्लावित है और यहाँ के जीवन से धर्म को किसी भी दशा में पृथक् नहीं किया जा सकता।

शिक्षा के क्षेत्र में तेईस वर्षों तक उन्होंने जो अनुभव प्राप्त किये, उनके विषय में एनी बेसेंट ने निम्नांकित विचार व्यक्त किया है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि अपने इन विचारों को उन्होंनें उस समय प्रकट किया था जब देश का राजनीतिक वातावरण अत्यंत उत्तेजनापूर्ण था।

'वर्त्तमान युग में लोग अपने परम कर्त्तव्य को भूल गये हैं। यह 'कर्त्तव्य' तत्वतः हिंदू-धर्म द्वारा प्रतिपादित है और मैं इस पर सर्वाधिक बल देती हूँ। यह 'कर्त्तव्य' क्या है? यह है जीवन में धर्म की प्रमुखता का अनुभव करना, क्योंकि हमारे कार्य-व्यापारों में कोई भी कार्य ऐसा नहीं है, जिसे 'धर्म' से पृथक् किया जा सके।' प्राचीन हिंदुओं के विषय में ऐसा कहा जाता है कि वे धर्म की ही नींद सोते थे, धर्म ही उनका आहार था, धर्म ही उनके चिंतन का विषय था और धर्म ही उनका आवास था अर्थात् वे धर्ममय थे! वह इस कथन को सत्य मानती हैं और न केवल हिंदुओं, वरन् धार्मिक विचार वाले सभी व्यक्तियों के जीवन में इस धार्मिकता की पुनः स्थापना को आवश्यक समझती हैं। 'यदि हम ईश्वर में निवास करते हैं, हमारा अस्तित्व उसी में निहित है, यदि वह सबके हृदय में व्याप्त है तो हम लोग जो कुछ करते हैं, क्या वह ईश्वरीय नहीं है? क्या वह धार्मिकता से परिपूरित नहीं है? तुम मंदिर में धार्मिक हो, तुम्हें बाजार में भी धार्मिक रहना चाहिए। तुम पूजाघर में धार्मिक हो, उसी प्रकार तुम्हें वकील की हैसियत से न्यायालय में वकालत करते हुए धार्मिक होना चाहिए। न्यायाधीश को निर्णय करते समय तथा, चिकित्सक को चिकित्सा करते हुए, सैनिक को युद्ध-भूमि में युद्ध करते हुए, व्यापारी को बाजार में व्यापार करते हुए धार्मिक होना चाहिए। तुम्हें आदि से अंत तक धार्मिक रहना चाहिए, अन्यथा तुम्हारा धर्म सच्चा नहीं। धर्म से परे कुछ भी नहीं है।'

उपर्युक्त पंक्तियों में धर्म के विषय में एनी बेसेंट के विचारों का उल्लेख किया गया है जिससे उनके विश्वासों का अनुभव किया जा सकता है। वह हिंदू-विचारों द्वारा गृहीत 'धर्म' शब्द के समानार्थि रूप में 'रिलीजन' को ग्रहण करती हैं। बड़े ही अल्पकाल में उन्होंने हिंदूधर्म के जटिल सिद्धांतों को आत्मसात कर लिया था। उनको पूर्णतया अपना लिया था और इसी कारण उन्हें सामान्य जनता तक हिंदूधर्म की आत्मा का संदेश पहुँचाने में सफलता मिली। उनके विचार में धर्म का क्या स्वरूप है, इस संबंध में भारतीय थियोसोफ़िकल सोसायटी के आठवें अधिवेशन (२५, २६ नवंबर, १८९५ ई०) में बनारस में दिये गये उनके तीन भाषणों से पर्याप्त ज्ञान प्राप्त होता है। उन भाषणों से धर्म के साथ ही इनका शैक्षिक दृष्टिकोण भी स्पष्ट हो जाता है।

धर्म का स्वरूप

एनी बेसेंट ने धर्म के तीन मूल सिद्धांतों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—(१) विभिन्नताएँ (Difefrences), जिसे पाश्चात्य मनोविज्ञान की शब्दावली में वैयक्तिक विभिन्नता का सिद्धांत (Principle of individual differences) भी कह सकते हैं, (२) विकास (Evolution), तथा (३) सत्य और असत्य (Right and wrong)। ये तीनों सिद्धांत मानव अस्तित्व के तीन आधारभूत पक्षों—कर्म, विकास और आचरण का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन तीनों सिद्धांतों को अब हम विस्तार में देखेंगे।

१. विभिन्नताएँ

इसके अंतर्गत एनीबेसेंट ने 'अनेकता में एकता' (Unity in diversity) की आदर्शवादी अवधारणा को बड़े ही स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है। संसार में इतनी विभिन्नता इसलिए है कि कोई भी सीमाबद्ध आकार 'उसे', अर्थात् परमात्मा को व्यक्त नहीं कर सकता। "लेकिन प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप-भेद में भी पूर्णता प्राप्त कर लेती है, अतः इन समस्त वस्तुओं का सामूहिक रूप आंशिक रूप में 'उसकी' अभिव्यक्ति करता है। अतः विश्व की पूर्णता उसकी विभिन्नताओं की पूर्णता (Perfection in variety) और सहसंबंधित अंगो के समन्वय में ही है।" यदि सृष्टि के प्रत्येक अंग अपने-अपने कार्यों को समुचित ढंग से करते हुए अपना पूर्ण विकास करते रहें, तभी विश्व को पूर्णता प्राप्त हो सकती है। मनुष्य का शरीर तभी पूर्ण माना जा सकता है, जब उसका प्रत्येक अंग सुचारु रूप से कार्य करता रहे। ठीक इसी प्रकार विश्व की पूर्णता तभी संभव है जब उसके सभी अंग भली भाँति क्रियाशील एवं विकासोन्मुख हों। उन्हीं के शब्दों में, "प्रकृति में 'ईश्वर' का स्वरूप तब तक पूर्ण रूप से प्रतिबिंबित न होगा, जब तक कि इसके अंग-प्रत्यंग अपने आप में पूर्ण रूप से परस्पर संबद्ध न होंगे।"

इन विभिन्नताओं का प्रकाशन विकास-काल में होता है, विशेषतः विकास के उस बिंदु पर पहुँच कर, जहाँ से जीवन की गति ईश्वर की ओर प्रत्यावर्तित होती है।

इतना ही नहीं, ब्रह्मा की दीर्घकालीन तपस्या से जैसे-जैसे क्रमशः यह संसार अपने वर्त्तमान रूप में आया, ये भेद या विभिन्नताएँ उसी काल-क्रमानुसार पृथक् होती गयीं। सभी वस्तुओं का मूल उद्गम-स्थान तथा उनका अंतिम लक्ष्य एक असीम, अमर और शाश्वत 'जीवन' है, जो विकास के विभिन्न स्तरों और स्थितियों में अपने को व्यक्त करता है। विभिन्न प्रकार के जीव ईश्वर से पृथक् होने के पश्चात्, अपने जीवन-विकास के स्तर-भेद के अनुपात में अपनी अंतर्निहित शक्ति को प्रकट करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस व्यक्ति का जितना अधिक विकास हुआ रहता है, उसकी अंतर्निहित शक्ति उतनी ही अधिक मात्रा में व्यक्त होती है। अतः प्राणियों में जो भेद होता है, उसका कारण उनके विकास का कम या अधिक होना ही है। सभी व्यक्ति पूर्णतया या ईश्वर तक पहुँच सकते हैं, किंतु इसके लिए उन्हें दो वस्तुओं का बोध आवश्यक है: (१) विकास की स्थिति तथा (२) विकास में सहायक नियम, जो अधिक विकास करने में सहायक होता है। इस बोध को ही 'धर्म' की संज्ञा प्रदान की गयी है और इसी 'धर्म' को धारण करके 'पूर्णता' तक पहुँचना संभव है। उनके विचार में 'धर्म' न्याय और धार्मिक नियमों की भाँति कोई बाहरी विधान नहीं है। यह 'धर्म' विकासशील जीवन का वह नियम है जो अपनी अभिव्यक्ति के लिए समस्त बाह्य वस्तुओं को नियोजित कर लेता है।

विकास के रहस्य को और स्पष्ट करने के लिए एक बालिका का उदाहरण लिया जा सकता है। कल्पना कीजिए कि एक बालिका है जो अभी गुड़ियों से खेलती है। उसके इस वर्त्तमान जीवन से भी उज्ज्वल और महान उसका भविष्य है जब वह पूर्ण नारी हो जायेगी अर्थात् जब उसकी मातृत्व की भावना का पूरा-पूरा विकास हो जायेगा। इस बाल्यावस्था में भी उसके भीतर नारीत्व या मातृत्व का अंश वर्त्तमान है; पर मातृत्व या पूर्ण नारीत्व के आदर्श को युवती होने से पूर्व अपरिपक्वावस्था में ही, यदि उसके भीतर भर दिया जाय, तो इसका परिणाम अहितकर होगा, कारण, अल्पायु में ही एक बालिका के मन में पूर्ण नारीत्व के आदर्श की स्थापना करना अस्वाभाविक है। नारीत्व के आदर्श का बोध युवाकाल में ही होना उचित है, अतः यदि उस बालिका में निहित मातृत्व को पूर्ण नारीत्व के आदर्श तक विकसित करना है, उसे परिवार की माता बनाना है, उसके ऊपर महान जीवन का गुरुतर भार डालना है, तो यह आवश्यक है कि उसे अपनी गुड़ियों से खेलने दिया जाय, उसे पढ़ने दिया जाय, उसके मन और शरीर को विकसित होने दिया जाय और बाल्यावस्था में उसे पूर्ण नारीत्व की शिक्षा न दी जाय। सभी बातों के लिए उचित समय और स्थान की अपेक्षा होती है। यदि कोई यह सोचे कि नारीत्व का आदर्श गुड़ियाँ खेलने से कहीं अधिक महान है, अतः उस बालिका में नारीत्व के आदर्श का प्रतिष्ठापन समय से पहले ही ठीक है अथवा क्योंकि संतानोत्पत्ति शुभ कर्म है इसलिए उसे प्रजनन करना चाहिए, तो उसका इस प्रकार सोचना अनुचित होगा। यदि

समय के औचित्य का ध्यान न रखा जायेगा, तो जीवन के विकास का नियम भंग होगा। अनेक प्रकार के दुःखों और कष्टों का भोग तभी करना पड़ता है, जब हम विकास के नियम का उल्लंघन करते हैं, पकने से पहले ही किसी फल का स्वाद लेना चाहते हैं। वास्तव में यह विषय बड़ा कठिन है फिर भी 'विकास के नियम' को आत्मसात् करके हम कर्म-मार्ग के रहस्यों को सुलझा सकते हैं।

जीवन की यह विकासोन्मुख अवधारणा हमें आत्मा की अमरता एवं पुनर्जीवन के सिद्धांतों की ओर इंगित करती है। उत्तरोत्तर जन्मों में व्यक्ति का क्रमशः विकास होता चलता है। इस स्थान पर विकास के संबंध में एनी वेसेंट के विचारों का उल्लेख आवश्यक है।

२. विकास

विकास के साथ अंतर्निहित क्षमता का सिद्धांत (Principle of Potentiality) संवद्ध है। ईश्वर द्वारा रचे गये प्रत्येक जीव में सभी प्रकार की क्षमताएँ बीज रूप में निहित हैं जो प्रारंभिक स्थिति में अविकसित होती हैं। ये अंतर्निहित क्षमताएँ क्रमशः अनुभव के आधार पर योग्यताओं के रूप में परिणत होती हैं। पदार्थ में जो जीव अंतर्निहित होता है, वह प्राण और मन की विभिन्न अंतर्वर्त्ती स्थितियों को पार करता हुआ 'देवता' या ईश्वर तक पहुँचता है। इसी प्रकार बालक में जो चेतना होती है, उसका उच्चतम विकास धीरे-धीरे होता हैं। उसमें पाई जाने वाली चेतना आरंभ में बहुत ही निम्नकोटि की होती है, जिसकी तुलना खनिजों में पाई जाने वाली चेतना से की जा सकती है। खनिज पदार्थ आकर्षण-विकर्षण, कण रूप में परस्पर संबद्ध होने तथा घात-प्रतिघात द्वारा अपनी चेतना की अभिव्यक्ति करते हैं, किंतु उनकी चेतना की इस अभिव्यक्ति में 'अहं' और 'नाहम्' की भावना नहीं रहती है।

चेतना की दूसरी स्थिति या स्तर की तुलना पशुओं में पाई जाने वाली चेतना से की जा सकती है। बालक में यह स्थिति तब होती है, जब वह अपनी इच्छाओं की पूर्ति करने के लिए रुदन आदि क्रियाएँ करने लगता है। इस परिस्थिति में पहुँच कर वह वस्तुओं को पहचानने लगता है। जिन वस्तुओं के प्रति उसके मन में इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं उन्हें वह स्मरण करने लगता है और अंत में जिनसे उसे सुख प्राप्त होता है उनकी खोज करने लगता है। अनुभव द्वारा वह सुख और दुःख की अनुभूति करने लगता है और उन्हें समझने लगता है। वह दुःखानुभूति से बचने तथा सुखानुभूति की मात्रा को जीवन में बढ़ाने की कामना करता है। उसके जीवन में आगे चल कर एक ऐसी स्थिति आती है, जब वह सत्य और असत्य (उचित-अनुचित) के गुरुतर नियमों को भी पहचानने लगता है।

विकास के उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर एनी बेसेंट का कहना है कि, "मनुष्य को अपने सम्मुख महान से महान आदर्श की स्थापना करनी चाहिए, परंतु अपने आदर्श को दूसरों पर आग्रहपूर्वक लादना नहीं चाहिए। कारण यह कि जिस व्यक्ति पर हम

अपने आदर्श को लादना चाहते हैं, संभव है, उसके विकास की प्रक्रिया या नियम हमसे सर्वथा भिन्न हो। अतः हमें सहिष्णु बनना चाहिए, जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपने स्थान पर स्थिर रहते हुए उन्हीं कार्यों को करे जो उसके लिए श्रेयस्कर हों, उसके स्वभावानुकूल हों।' कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के विकास में बाधक न बन कर सहायक बनना चाहिए। अपने भीतर ऐसी साहिष्णुता उत्पन्न करनी चाहिए कि पाप कर्मों को देख कर भी चंचल न हो सके और दूसरे मनुष्य के भीतर छिपी हुई दिव्यता को देख सके। स्वयं आध्यात्मिकता के उच्च शिखर पर खड़े होकर आत्मत्याग के महान सिद्धांत का उपदेश बालक को देना चाहिए और उसके जीवन के 'महान स्वार्थ' या अंतिम लक्ष्य के हितार्थ उसके निम्नकोटि के स्वार्थों का उन्मूलन करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति, जो जहाँ पर भी है, अपने उचित स्थान पर है। जब उसकी श्रेष्ठ प्रकृति का विकास होने लगे तब उसमें आत्म-त्याग, पवित्रता, अगाध आत्मभक्ति और ईश्वर में अटल भक्ति जैसे गुणों का विकास करना चाहिए। यही मानव-जीवन का चरम आदर्श है। इस उच्च आदर्श तक पहुँचने के लिए मनुष्य को धीरे-धीरे प्रयत्न करना चाहिए, अन्यथा ऐसा न हो कि वह उस आदर्श तक पहुँचने में पूर्णतया असफल रहे।

इस प्रकार विकास की प्रगतिशील प्रक्रिया में एक ऐसी स्थिति आती है जब 'सत्य और असत्य' की समस्या हमें उस नियम और अनुभव की ओर अग्रसर करती है, जिससे सृष्टि का शासन होता है। इस नैतिक नियम को एनी बेसेंट ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण माना है।

३. सत्य और असत्य

एनी बेसेंट के दर्शन में नीतिशास्त्र, उनके तत्त्वशास्त्र का स्थिर रूप से अनुगमन करता है। उन्होंने नीतिशास्त्र में भी विकास की अवधारणा का उपयोग किया है। उनका कथन है कि "पूर्ण सत्य केवल ईश्वर में निवास करता है। हमारे सत्य और असत्य सापेक्ष्य हैं और बहुत अंशों में प्रत्येक व्यक्ति के विकास की स्थिति पर निर्भर करते है।"‡ विकास ईश्वर की इच्छा द्वारा होता है। ईश्वर ही विश्व का निर्माता तथा क्रियमाण शक्ति है। 'विकास' उसकी सृष्टि-रचना का ढंग है। विकास-पद्धति के पीछे ईश्वर का मंतव्य यह है कि उसके बालकों में जो आत्मा निहित है, वह 'अपने पिता के स्वरूप' को ग्रहण करे। विश्व की विकास-यात्रा की कई मंजिलें हैं, खनिज से वनस्पति, वनस्पति से पशु, पशु से मानव और फिर उससे दिव्यमानव का विकास। विश्व के विकास में ईश्वरीय प्रयोजन का पालन करना, उसे आगे बढ़ाना तथा विकास को अपूर्णता से पूर्णता की ओर ले जाना ही 'सत्य' है। ईश्वरीय प्रयोजन की पूर्ति में आलस्य करना, उसमें विघ्न डालना तथा विश्व के विकास को पुनः आदिम अवस्था की ओर प्रत्यावर्त्तित करना ही 'असत्य' है।

‡Besant, A.: 'Dharma,' p. 57

जब कोई सत्य और असत्य के भेद को जान कर भी असत्य एवं कुमार्ग का अनुसरण करता है, तो ऐसी दशा में पाप करता है। एनी बेसेंट के विचार में नीति का स्वरूप परिस्थिति-सापेक्ष्य होता है। परिस्थिति-सापेक्ष्यता के आधार पाप या निष्पाप-कर्म को इस प्रकार समझा जा सकता है : यदि कोई व्यक्ति अपमान तथा तज्जनित क्रोध से अभिभूत होकर अपमान करने वाले की हत्या कर देता है, तो उसका यह कार्य पाप माना जायेगा। किंतु यदि युद्ध में एक पक्ष के सौ सैनिक विरोधी पक्ष के सौ सैनिकों की हत्या कर देते हैं, उन्हें मार डालते हैं, तो उनका यह कार्य पाप नहीं माना जायेगा। इन परिस्थितियों में व्यक्ति तो मारे जाते हैं, किंतु एक को पाप और दूसरे को पाप नहीं कहते। इन दोनों में अंतर बड़ा ही सुदूरव्यापी है। पहली दशा में व्यक्तिगत अपमान के प्रतिकार के लिए हत्या की गयी है। दूसरी दशा में व्यक्तिगत मानापमान या रुष्टि-तुष्टि के प्रतिकार का भाव नहीं है, वरन् विरोधी पक्ष के सौ सैनिकों की हत्या करने वाले सैनिक अपने सेनापति की आज्ञा से बाध्य हो कर ऐसा करते हैं। यहाँ हत्या का दायित्व सैनिकों पर नहीं, वरन् सेनापति पर है क्योंकि युद्ध के नैतिक पक्ष, औचित्य और अनौचित्य के विचार का दायित्व सेनापति पर है।

यहाँ इसी से संबंधित एक और बात पर विचार कर लेना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति पाप करना चाहता है और इसके पहले कि वह अपनी पाप करने की इच्छा को कार्यरूप में परिणत करे, परिस्थितिवश वह पाप नहीं कर पाता, तो ऐसे व्यक्ति के लिए सर्वोत्तम वस्तु क्या है। एनी बेसेंट कहती हैं अपराध कर लेना आत्मा के लिए उतना घातक नहीं है, जितना अपराध की भावना और इच्छा को मस्तिष्क में निरंतर पालना। निरंतर पलने वाली पाप की भावना बढ़ते हुए नासूर की भाँति जीवन-केन्द्र को जीर्ण कर देती है। जब कोई व्यक्ति अपराध करता है, तो उसके परिणामस्वरूप दुःखों और कष्टों को भी भोगता है और साथ ही कष्टों के भोग से शिक्षाएँ भी प्राप्त होती हैं। परंतु पाप न करना और पाप करने का विचार रखना इसलिए और ख़राब है कि विचार 'पुनर्विचारोत्तेजक एवं सजीव होता है।' यहाँ यह याद रखना चाहिए कि अपराध करने के लिए इस तर्क का सहारा लेना उचित नहीं है। यह तर्क केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है, जिसके अनुसार अपराध-भावना को दबाने और उसके दुष्परिणामों को भोगने की अपेक्षा उसके विरुद्ध सचेत होकर संघर्ष करना अधिक उत्तम है। यदि कोई व्यक्ति ऐसा है, जो अपनी अपराध-भावना पर विजय नहीं प्राप्त कर पाता, तो केवल उसके लिए जितना ही शीघ्र अपराध करने का अवसर प्राप्त हो उतना ही अच्छा है, क्योंकि ऐसे व्यक्ति के लिए पाप-कर्म कर लेना और उसका फल भोग लेना ही उत्तम है। कारण यह है कि मस्तिष्क में अपराध की भावनाओं का निरंतर बना रहना भावी जीवन के पतन का अनिवार्य कारण बन जाता है।

धर्मग्रंथों से ज्ञात होता है कि जिन व्यक्तियों के मन में पाप करने की भावना होती है, ईश्वर उन्हें पाप-कर्म करने का अवसर प्रदान करता है। कारण, व्यक्ति के मन में जब तक दुर्बलताएँ बनी रहती हैं, उसके पूर्व जन्म के 'कर्म' क्षीण नहीं हो जाते तथा उसके पाप-कर्म समाप्त नहीं हो जाते, तब तक उसकी आत्मा मुक्त नहीं होती। जिस प्रकार उऋण होने लिए ऋण का देना आवश्यक है, उसी प्रकार मुक्ति प्राप्त करने के लिए 'कर्मों' का क्षीण होना भी है। अनिवार्य अतः सबसे अधिक उपकार का काम है, किसी व्यक्ति को पापादि कर्मों के ऋण से उऋण होने में सहायता देना। इस प्रकार उसकी मुक्ति के मार्ग की बाधाएँ दूर हो जाती हैं और ईश्वर उसके मन में ऐसी स्पृहा जाग्रत कर देता है, जिससे वह अपने अंतिम बंधनों को भी तोड़ कर मुक्त हो जाता है। सभी पापों से निवृत्त होने का मार्ग बताते हुए गीता में भगवान कृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि अपने मानस को मुझमें लीन कर दो, मेरे भक्त बनो, मेरे लिए त्याग करो, मुझे साष्टांग प्रणाम करो, तुम मेरे निकट पहुँच सकते हो। 'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' अर्थात् सब धर्मों का परित्याग करके मेरी शरण में आओ, दुखी मत हो, मैं तुम्हें सारे पाप-कर्मों से मुक्त कर दूँगा।

भारत की महान दर्शन-परंपरा में वेदांत का स्थान सर्वोच्च माना जाता है। एनी बेसेंट इसी वेदांत-दर्शन में विश्वास करती थीं। उन्होंने अपनी शिक्षा-योजना में वेदांत-दर्शन को व्यावहारिक रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया। इस कार्य के लिए सर्वथा वह एक बड़ी ही अनुकूल स्थिति में थीं। कारण, वह पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली से पूर्णतया परिचित थीं और भलीं भाँति समझ सकतीं थीं कि किस प्रकार भारत के प्राचीन आदर्शों को आधुनिक युग में व्यवहार में लाया जाय और हिंदू-संस्कृति की सर्वोत्तम विचारधारा को किस प्रकार पाश्चात्य शिक्षा के सर्वोत्तम सिद्धांतों से संयुक्त किया जाय।

शिक्षा-दर्शन

वेदांत में आस्था रखने के कारण एनी बेसेंट जीवन का चरम लक्ष्य आत्मानुभूति ही मानती हैं। उनके अनुसार बालक में जन्म से ही शारीरिक रक्षा के निमित्त प्रवृत्तियाँ होती हैं, जो शारीरिक सुख-सुविधा से ही संतुष्ट या आनंदित होती हैं। किंतु यदि बालक शारीरिक सुख और तज्जन्य आनंद में ही लिप्त हो जायगा, तो वह अपनी वास्तविक आत्मा को भूल जायगा। इसीलिए बालक को ऊँचे उठने की शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए और अपनी अंतरात्मा में आनंद का अनुभव करना सीखना चाहिए। यही विकास-क्रम है। इसी विकास-पथ पर चल कर उस बालक को अपने जीवन-लक्ष्य के प्रति धीरे-धीरे सचेत होना है। इस चेतना की प्राप्ति अपने देश के अतीतकाल के परिचय तथा आध्यात्मिक नीति पालन द्वारा संभव है। आध्यात्मिक नीति का संबंध मानव-निर्मित वर्जनाओं तथा

आध्यात्मिक नीति के उचित अनुचित या विधि-निषेध से नहीं है, वरन् इस नीति का तात्पर्य उस मार्ग से है, जो आत्मसाक्षात्कार की ओर अग्रसर करता है। अतः उस पर अग्रसर होना ही उचित और उससे विचलित होना ही अनुचित है।

यह नीति हमारी भारतीय प्राचीन संस्कृति में अंतर्निहित है। यह और कुछ नहीं वरन् जीवन की एक पद्धति है, जिसमें कुछ आदर्श अचेतन रूप से ही जीवन के विभिन्न स्तरों पर और विभिन्न स्थितियों—शारीरिक, कलात्मक, आर्थिक और राजनीतिक—में प्रेरित करते रहते हैं। यह संस्कृति शिक्षा के माध्यम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को संप्रेषित होती है। एनी बेसेंट ने शिक्षा और संस्कृति के अंतर को विस्तार में स्पष्ट किया है।

शिक्षा से तात्पर्य

एनी बेसेंट के विचार में 'मनुष्य की अंतर्निहित क्षमताओं एवं शक्तियों को विकसित और प्रशिक्षित करना ही शिक्षा है।' ये क्षमताएँ और शक्तियाँ पूर्वजन्म के संस्कारों के फलस्वरूप प्राप्त होती हैं और इनका विकास स्वर्गलोक या देवलोक में होता है। ये विज्ञानमय कोश में सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहती हैं और इन्हीं के कारण जीवात्मा का पुनर्जन्म होता है। जीवात्मा का रूप त्रिमुखी (जीवात्मा-बुद्धि-मन) है और विज्ञानमय कोश उसका बौद्धिक पक्ष है। ये विकासोन्मुख क्षमताएँ चेतना के उस भाग में बीज रूप में रहती हैं, जिसे हम निम्न मानस (Lower Manas) कह कर पुकारते हैं। बीज रूप में निहित इन क्षमताओं का उद्वेगों के सहित अभिव्यक्तीकरण मनोमयकोश द्वारा होता है। जीवात्मा का जब पुनर्जन्म होता है, तब सर्वप्रथम मनोमय कोश की रचना होती है। इस कोश में मन और संवेगों का निवास होता है। इसके पश्चात् प्राणमय कोश की रचना होती है जिसमें उद्वेग और जीवनी-शक्ति पायी जाती है। सबसे बाद में अन्नमय कोश की रचना होती है। अन्नमय कोश का संबंध उस पार्थिव शरीर से है जिसका निर्माण उस 'सार' पदार्थ से होता है, जो पिता द्वारा किये गये भोजन के अन्न से प्राप्त होता है। ये तीनों कोश प्रत्येक नये जन्म में नये रूप में निर्मित होते हैं। अतः शिक्षा का अर्थ न केवल बीज रूप में निहित क्षमताओं और शक्तियों को बहिर्मुख करना है, वरन् उन्हें प्रशिक्षित और विकसित करना भी है। शिक्षा का कार्य इन कोशों को बाह्य संसार के प्रभावों के प्रति संवेदनशील और ग्रहणशील बनाना है, जिससे वे इन प्रभावों को उचित रूप में ग्रहण करके मस्तिष्क तक संप्रेषित कर सकें क्योंकि मस्तिष्क ही मानसिक संस्कार और उससे संबंधित बाह्य उत्तेजकों में संबंध स्थापित करता है और इस प्रकार अपने और बाह्य जगत् में संपर्क स्थापित करता है। इन संबंधों और इनके आधार पर मन की क्रिया को ही 'ज्ञान' कहते हैं। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा निरीक्षण, निरीक्षण का ज्ञान-केन्द्रों पर संवेदनाओं के रूप में प्रभाव, मन द्वारा संवेदनाओं का प्रत्यक्षीकरण और इस प्रकार बाह्य जगत् से प्राप्त सामग्री पर मानसिक शक्तियों (जैसे स्मरण करना,

विश्लेषण करना, तुलना करना, वर्गीकरण करना, कार्य-कारण में सहसंबंध स्थापित करना, उन पर तर्क करना और पूर्वाभास प्राप्त करना) की क्रिया ही ज्ञान का क्षेत्र है जिसे शिक्षा द्वारा विकसित किया जाता है।

संस्कृति से तात्पर्य

एनी बेसेंट के अनुसार कुछ विशिष्ट ज्ञान के, मस्तिष्क पर पड़ने वाले प्रभाव के परिणाम को 'संस्कृति' कहते हैं। संस्कृति विशिष्ट ज्ञान पर ही आधारित होती है। संस्कृति शिक्षा से इस रूप में भिन्न है कि वह शिक्षा की भाँति अंतर्निहित शक्तियों को बहिर्मुख और प्रशिक्षित नहीं करती है। संस्कृति मानसिक शक्तियों के उन विषयों के संबंध में संचालित होने का परिणाम है, जो सहानुभूतिपूर्ण संवेग और कल्पना को जाग्रत करते हैं, व्यक्तिगत, स्थानगत तथा जातिगत पूर्वग्रहों का विसर्जन करके मन को विस्तृत बनाते हैं, विभिन्न दृष्टिकोणों से मानव-स्वभाव का परिचय और ज्ञान कराते हैं तथा प्राणियों में शारीरिक पक्ष की अपेक्षा उनके आध्यात्मिक पक्ष से संबंध स्थापित करते हैं। इस प्रकार जीवन के आध्यात्मिक पक्ष से संबंधित होने के कारण संस्कृति बालक में आंतरिक सहानुभूति जाग्रत करती है और वह 'अनेकता में एकता' का बोध करता है। संस्कृति मन की उच्च संश्लेषणात्मक क्रिया से संबंधित है। इसमें संवेगों का परिष्कार निहित है। संवेगों के परिष्कार में सौंदर्य का महत्वपूर्ण स्थान है। अतः कला और साहित्य संस्कृति के साधन हैं।

शिक्षा और संस्कृति में अंतर

शिक्षा और संस्कृति के अंतर को और स्पष्ट रूप से इस प्रकार समझा जा सकता है कि विज्ञान और तर्क शिक्षा के क्षेत्र एवं मार्ग-निर्देशक हैं। इससे भिन्न प्रकृति में 'जीवन' और बौद्धिक सहजानुभूति संस्कृति के क्षेत्र और मार्ग-निर्देशक हैं। बौद्धिक सहजानुभूति व्यक्ति को उसकी वास्तविक प्रकृति (ज्ञानमय प्रकृति) के साथ संगति करके सत्य की पहचान कराती है। एनी बेसेंट का कथन है कि यदि बालक के प्रारंभिक काल, निर्माण-काल, में शिक्षा और संस्कृति को पृथक्-पृथक् कर दिया जाता है, तो विज्ञान बालक की प्रकृति को कठोरता की ओर अग्रसर करता है और जब विज्ञान के क्षेत्र में विशेष योग्यता प्राप्त करने पर बल दिया जाता है, तब मानसिक संकीर्णता और असहिष्णुता उत्पन्न होती है। इसी प्रकार जब केवल संस्कृति पर बल दिया जाता है, तो आडंबर और मिथ्या भावुकता को प्रश्रय मिलता है। युवावस्था तक ज्ञानेन्द्रियों को प्रशिक्षित करना तथा तथ्यों का स्मरण-शक्ति द्वारा संचित करना शिक्षा का कार्य है, जिसका संपादन दूसरों द्वारा होता है। इन तथ्यों का नवीन परिस्थितियों में नवीन संपर्कों में उपयोग करना आत्म-शिक्षा है, जो आजीवन चला करती है। इसी शिक्षा-अवस्था में संस्कृति अज्ञात

रूप से सुंदर वातावरण में मन के उद्वेगों को विकसित एवं परिष्कृत करके संवेगों में परिवर्तित करती है। संस्कृति का सुंदरता से घनिष्ठ संबंध है। इसी कारण, एनी बेसेंट कहती हैं कि भारतीय शिक्षादर्श और संस्कृति में सौन्दर्य को बड़ा महत्व प्राप्त था। जीवन के उत्थान के लिए इस आदर्श की पुनः स्थापना आवश्यक है क्योंकि सुंदर वस्तुओं से संपर्क, उनसे संवेगों का उत्तेजित होना और नियंत्रित होना तथा इन संवेगों को साहित्य और कलाओं द्वारा प्रशस्त बनाने से विवेक विकसित होता है। विवेक आत्म-संस्कृति का आवश्यक तत्त्व है। इस विवेक की अभिन्न अभिव्यक्ति संतुलित निर्णय में दृष्टिगोचर होती है, न कि केवल दूसरों के छिद्रान्वेषण में। यही विवेक मनुष्य में जीवन के प्रति संतुलित, प्रतिष्ठित और विनयपूर्ण वृत्ति ग्रहण कराता है।

भारतीय शिक्षा के आदर्श और उनका उपयोग

एनीबेसेंट भारतीय संस्कृति की महान समर्थक थीं, और शिक्षा द्वारा वर्तमान में पुनः प्राचीन आदर्शों की स्थापना करना चाहती थीं। आदर्शों को प्राप्ति के लिए उन्होंने भारतीय शिक्षादर्शों के उपयोग पर बल दिया है।

शिक्षा-स्वशासित—प्रश्न यह उठता है कि आधुनिक शिक्षा के सुधार और संस्कृति के उत्थान के लिए भारतीय आदर्शों का उपयोग कैसे किया जाय? इसके लिए पहली आवश्यकता यह है कि युगों पूर्व शिक्षा और संस्कृति को इस देश में जो स्वतंत्रता प्राप्त थी, उसे पुनः स्थापित किया जाय।

भारत की प्राचीन पद्धति में शिक्षा और संस्कृति स्वयंशासित थीं। राज्य इनके संचालन में किसी प्रकार का भी हस्तक्षेप नहीं करता था। स्वयं राजा विश्वविद्यालयों का निर्माण करते थे, इनकी आर्थिक सहायता करते थे, किंतु उन पर आधिपत्य स्थापित नहीं करते थे। यहाँ तक कि "विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह के अवसर पर यदि राजा का आगमन होता, तो उसके स्वागत के लिए कोई अपने स्थान से उठता नहीं था और वह भी सामान्य दर्शक की भाँति अपना आसन ग्रहण करता था। परंतु आचार्य, पूज्यों के भी पूज्य, के प्रवेश करते ही सब लोग खड़े हो जाते थे और उसकी ओर मुख करके शांतिपूर्वक उसके भाषण की प्रतिक्षा करते थे। विश्व-विद्यालय विद्या का मंदिर था और केवल विद्वान ही उसके पुरोहित होते थे। जब विद्वान राजकुल में प्रवेश करता, जब एक बुद्धिमान राजदरबार में आता, तब श्री कृष्ण स्वयं अपने राज-सिंहासन से उतर कर उसके चरणों में अपना शीश नवाते थे।"†

वर्त्तमान में भी शिक्षा और संस्कृति को स्वशासन और आत्मनियंत्रण का अधिकार मिलना चाहिए और उनके प्रबंध में राज्य को किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। राज्य का कर्त्तव्य है शिक्षा और सांस्कृतिक संस्थाओं की आर्थिक सहायता करना

† Besant, A.: 'The Besant Spirit', p. 32

जिससे वे विद्वान, कुशल एवं चरित्रवान व्यक्तियों के रूप में राष्ट्र को अमूल्य निधियाँ अर्पित कर सकें और जिससे ये व्यक्ति राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों का योग्यतापूर्वक संचालन करें। एनी बेसेंट का कथन है कि राज्य द्वारा शिक्षा-संस्थाओं को दिया गया धन दान नहीं है, वरन् उनमें व्यवहृत पूँजी है। यह पूँजी अत्यधिक लाभ के साथ राष्ट्र को पुनः वापस मिल जाती है और साथ ही व्यक्ति को सुख और शांति प्रदान करती है। विद्वान व्यक्ति साहित्य की रचना करते हैं, जिससे संसार की दृष्टि में राष्ट्र का सम्मान बढ़ता है। इससे भी महत्त्वपूर्ण लाभ यह होता है कि साहित्य द्वारा विश्व में ज्ञान का प्रसार होता है क्योंकि साहित्य केवल अपने समसामयिक व्यक्तियों को ही नहीं प्रेरित करता, उन्हें सभ्य ही नहीं बनाता, वरन् युगों-युगों तक भावी संतानों को प्रेरणा प्रदान करता है। वैज्ञानिक अनुसंधानों से मनुष्य का ज्ञान तो बढ़ता ही है, साथ-साथ मानव-शक्ति की भी वृद्धि होती है और मनुष्य प्रकृति की शक्तियों पर विजय प्राप्त करता है। यदि विज्ञान का विकास सच्चे मार्ग पर होता है, तो इससे मानव-जीवन की रक्षा होती है, मनुष्य उन्नति करता है और सुख एवं समृद्धि प्राप्त करता है। केवल शिक्षा और संस्कृति द्वारा ही मनुष्य की आध्यात्मिक, बौद्धिक, संवेगात्मक और शारीरिक उन्नति संभव है। इसी के द्वारा मनुष्य को आदिम अवस्था से ऊपर उठा कर सुसंस्कृत एवं सभ्य बनाया जा सकता है। इसी से दरिद्रता का उन्मूलन हो सकता है, समाज में बर्बरता के स्थान पर बंधुत्व की स्थापना हो सकती है। इसी के द्वारा मनुष्य को उसके अज्ञानजनित अपराधों से मुक्त किया जा सकता है। शिक्षा और संस्कृति द्वारा ही युद्ध के स्थान पर अंतर्राष्ट्रीय शांति और वर्ग-भेदों में वैमनस्य के स्थान पर सामाजिक शान्ति प्राप्त की जा सकती है। 'अविद्या दरिद्रता और दुःख की जननी है। अविद्या एवं अज्ञान के अंधकार को विद्या के प्रकाश द्वारा ही दूर किया जा सकता है।'

तपोवन—भारतीय आदर्शों की सराहना करते हुए एनी बेसेंट ने कहा है कि "प्राचीन भारत में 'विद्या' को साधन नहीं, बल्कि साध्य माना जाता था। विद्या की प्राप्ति का प्रयोजन स्वयं विद्या ही थी क्योंकि इसी को मानव-विकास का सर्वोच्च लक्ष्य समझा जाता था। 'विद्या' का स्थान परम उपलब्धि (पराविद्या) या आत्मबोध से केवल एक स्तर निम्न था, फिर भी ज्ञान को इस पराविद्या तक पहुँचने का साधन समझा जाता था। विद्या के इस उच्च आदर्श की प्राप्ति वनों के शांत और एकांत जीवन में ही संभव थी। अतः आज भी शिक्षा के लिए उसी प्रकार के शांत वातावरण की आवश्यकता है। जन-संकुल नगरों के बीच स्थित आज-कल के नागरिक विश्वविद्यालय श्रेष्ठ दर्शन और कला-कृतियों को जन्म देने में समर्थ नहीं हैं। एनी बेसेंट ने टैगोर के शब्दों में इसका समर्थन किया है 'भारत के दो महान युगों—वैदिक युग एवं बौद्ध युग—के निर्माण का श्रेय यहाँ के तपोवनों को ही है। वैदिक ऋषियों की भाँति भगवान बुद्ध ने भी वनों में अपने उपदेश दिये'। यदि भारत को अपने अतीत गौरव के उस स्तर तक पहुँचना

है, उसे श्रेष्ठतम बौद्धिक एवं आध्यात्मिक उपलब्धि प्राप्त करनी है, तो उसे कुछ आदर्श आश्रमों की स्थापना अवश्य करनी होगी, जहाँ 'मार्गत्रय' की शिक्षा और योगाभ्यास कराया जा सके। प्राचीन आश्रमों में विद्या के अन्य अंगों, कला और शिल्प की भी शिक्षा दी जाती थी, किंतु आध्यात्मिकता के पुट के साथ। "भारत में कुछ ऐसे 'तपोवन' होने चाहिए जहाँ 'पराविद्या' के जिज्ञासु आत्मबोध प्राप्त कर सकें और भारत पुनः संसार का आध्यात्मिक गुरु बन सके।"†

प्रकृति और सौंदर्य—एनी बेसेंट के विचार में "यद्यपि भारत आज दीन हो गया है फिर भी उसे प्राकृतिक सौंदर्यानंद की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। उसे प्रकृति-प्रदत्त प्रेरणा में अविश्वास नहीं करना चाहिए क्योंकि यहाँ के ऋषियों ने यह शिक्षा दी है कि आध्यात्मिक दरिद्रता का अनुभव करना सर्वथा हेय है, चाहे भौतिक दृष्टि से हम अभावग्रस्त ही क्यों न हों। आधुनिक विज्ञान और अंग्रेज़ी भाषा की शिक्षा कला के स्थान की पूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं हैं। अपनी आत्मा को खोकर संसार की संपूर्ण समृद्धि को भी प्राप्त कर लेना भारत के लिए लाभप्रद नहीं है"।‡

पहले कहा जा चुका है कि सौंदर्य और संस्कृति का घनिष्ठ संबंध है। सौंदर्य पर बल देते हुए एनी बेसेंट का कहना है कि हमें अपने नगरों को सुंदर बनाना चाहिए, किंतु सर्वप्रथम पाठशालाओं को रुचिर रूप प्रदान करना चाहिए। हमें अपने बालकों के चतुर्दिक सौंदर्य एवं आनंद की प्रतिष्ठा करनी चाहिए, जिससे उनमें परस्पर प्रेम, सद्भावना और सम-संबंधों का विकास हो। हमें अपनी पाठशालाओं, विद्यालयों, विश्वविद्यालयों में प्राचीन काल की भाँति कला की स्थापना करनी चाहिए। गाँवों में भी कला और शिल्प की स्थापना अनिवार्य है। वेश-भूषा के संबंध में भी एनी बेसेंट भारतीय पहनावों को सुंदर समझती हैं। उनका कथन है कि "हम पूर्व की सुंदर और सुरुचिपूर्ण वेशभूषा धारण करें, पाश्चात्य देशों के भद्दे और कलाहीन वस्त्रों को न पहनें। हममें से प्रत्येक व्यक्ति सौंदर्य का संदेशवाहक बने अपनी भाषा में, अपनी क्रियाशीलता में। सारा सौंदर्य भारतीय रीति-रिवाजों में छिपा हुआ है। इसके बजाय कि बाहर के भद्दे तौर-तरीक़े अपनाओ, उनका सुधार करो, तुम उन्हें छिपाते क्यों हो, यानी तुम उनसे लज्जित हो। भारतीय होने के नाते तुम्हारा धर्म है कि तुम अपने चतुर्दिक सौंदर्य का प्रसार करो, अपने को कुरूप और विकृत न होने दो।"

आश्रम-धर्म—एनी बेसेंट वेदांत के अनुशासन से सहमत हैं और जीवन में चार आश्रम की व्यवस्था को स्वीकार करती हैं। इन चार आश्रमों में से प्रथम दो आश्रम—ब्रह्मचर्य और गृहस्थ—व्यक्ति के जीवन में बहिर्मुखी शक्तियों के विकास के प्रतीक हैं, जिनमें

† Besant, A : 'The Besant Spirit', p. 50

‡ Ibid. p. 55

जीव प्रवृत्ति मार्ग की ओर अग्रसर होता है। यह प्रवृत्तिमार्ग कर्म का वह महान मार्ग है, जिसका अनुसरण सारा संसार करता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में इस मार्ग पर अपने ढग से चलता है। मनुष्य के जीवन में ब्रह्मचर्य और गृहस्थ-आश्रम का जो काल होता है, उसे प्रवृत्तिमार्ग कहते हैं। जीवन के शेष दो आश्रम—वानप्रस्थ और संन्यास—व्यक्ति के लिए संसार से विरक्त होने के निमित्त सोपानमात्र हैं। वानप्रस्थ निवृत्ति का प्रथम सोपान है और संन्यास दूसरा या अंतिम सोपान। जीवन के इन दोनों आश्रमों को निवृत्तिमार्ग कहते हैं। जीवन के प्रति एक संतुलित दृष्टिकोण रखने के लिए आश्रम-जीवन से परिचित होना आवश्यक है। इसीलिए हमारे पूर्वजों ने बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ इस मार्ग का निर्माण किया है, ताकि मनुष्य इस पर चल सके। आश्रम-जीवन की व्यवस्था के अनुसार जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति की बहिर्मुखी एवं अंतर्मुखी शक्तियों में वास्तविक संतुलन स्थापित हो जाता है, अतः वह यह अनुभव करता है कि इससे अधिक पूर्ण, बुद्धिमत्तापूर्वक नियोजित एवं व्यवस्थापूर्ण जीवन अन्य कोई नहीं है। जीवन के दो छोरों—जन्म और मृत्यु—के बीच कालयापन या जीवन व्यतीत करने का यह सर्वोत्तम साधन है। आश्रम-व्यवस्था का यह आदर्श केवल एक राष्ट्र के लिए ही नहीं है, वरन् यह सार्वभौमिक और सार्वकालिक है। इसके अंतर्गत जीवन का पूर्वार्द्ध भाग कर्म की प्रेरणा से आंदोलित तथा उत्तरार्द्ध भाग शांत एवं आत्मतुष्ट होता है। पूर्व हो या पश्चिम, सर्वत्र समान रूप से पूर्ण व्यवस्थित जीवन के इस प्राचीन आदर्श को पुनरुज्जीवित किया जा सकता है, इसके अनुसार पुनः जीवन व्यतीत किया जा सकता है। इस व्यवस्था को स्वीकार कर लेने पर अध्ययनकाल में विवाह और इसी के समान खेदजनक वृद्धावस्था में लोगों में धन और शक्ति के प्रति मोह के दृश्यों को नहीं देखना पड़ेगा।‡

वर्ण-धर्म—आश्रम-धर्म में विश्वास करने के साथ ही एनी बेसेंट भारत की वर्ण-व्यवस्था का भी समर्थन करती हैं। उनका कथन है कि वर्ण-व्यवस्था समाज के संगठन में सहायता प्रदान करती है। इसके आधार पर 'अनेकता में एकता' के आदर्शवादी सिद्धांत की पूर्ति होती है।

समाज व्यक्तियों का समुदाय मात्र नहीं है, वरन् उनका एक संगठित रूप है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी मनोवृत्ति के अनुसार एक निश्चित कार्य करता है और समाज के संचालन में योग देता है। यही वर्ण-धर्म है, यही जाति-व्यवस्था है। प्रत्येक बालक में अपने विशेष गुण होते हैं। किसी में वकील और किसी में डाक्टर बनने की शक्ति छिपी होती है, जिसके द्वारा वह समाज में एक विशेष स्थान प्राप्त करता है। एनी बेसेंट आरंभ में सबके लिए सामान्य शिक्षा आवश्यक समझती हैं, किंतु बाद में वह व्यक्ति की विशेष योग्यता को विकसित करने पर बल देती हैं।

‡ Besant, A: The Besant Spirit' PP. 58, 59

एनी बेसेंट का कहना है कि आज के प्रगतिशील लोग 'जाति' शब्द पर आपत्ति करते हैं। कारण यह है कि 'जाति' शब्द का दुरुपयोग किया गया है। अतः हम 'जाति' के स्थान पर 'व्यवसाय' शब्द का प्रयोग कर सकते हैं। नाम जो कुछ भी हो, पर समाज के संचालन के लिए यह व्यवस्था है आवश्यक। प्राचीन आर्यों में चार जातियाँ थीं और प्रत्येक अपने विशिष्ट कार्य द्वारा समाज-सेवा, और देश-सेवा करती थी। किसी जाति का सदस्य होना जन्म पर ही नहीं, वरन् मुख्यतः कार्य पर ही निर्भर था। आज भी समाज-संगठन के लिए यह व्यवस्था एक वैज्ञानिक पद्धति है।

आदर्श अध्यापक† —भारतीय शिक्षा-पद्धति में अध्यापक के आदर्श को बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। अध्यापक को अपने ज्ञान में पूर्ण, आत्मज्ञानी और सत्य का बोध करने वाला होना चाहिए। उसे विधेयात्मक, दृढ़ विचार-युक्त जिज्ञासु और पूर्ण आदर्श से समन्वित होना चाहिए। उसमें इन गुणों को व्यावहारिक रूप देने की क्षमता और शक्ति अपेक्षित है। अध्यापक में तुच्छता, निर्जीवता और उदासीनता की भावना नहीं होनी चाहिए। उसमें निराशा विषाद और यान्त्रिकता की भावना भी नहीं होनी चाहिए। उसमें आनंद और आश्वासन की भावना होनी चाहिए। अध्यापक की तुलना अग्नि से की जा सकती है। जिस प्रकार अग्नि में उष्णता तथा प्रकाश होता है, उसी प्रकार अध्यापक में भी विचारों को उत्तेजना और ज्ञान का तेज या प्रकाश होना आवश्यक है, जिससे छात्र उसके जीवन से प्रेरणा और प्रकाश ग्रहण कर सकें।

व्यक्ति के जीवन को पूर्ण ज्योतिर्मय बनाना ही शिक्षा की चरम परिणति है। इस लक्ष्य तक छात्र के पहुँचने में अध्यापक अत्यधिक सहायक हो सकता है। जो बालक स्वयं प्रयत्नशील हैं, उन्हें सत्य तक पहुँचने में शिक्षक को सहायता करनी चाहिए और उन्हें यह सिखाना चाहिए कि सत्य की प्राप्ति के उपरांत वह किस प्रकार उन सत्यों में लीन या आनंदित रहें।

अध्यापक को शिक्षा-पद्धति का दास नहीं होना चाहिए। यद्यपि शिक्षा-पद्धति एक अनिवार्य साधन है, तथापि अध्यापक को इस बात में सदैव सावधान रहना चाहिए कि यह शिक्षा के उद्देश्य में सहायक होकर मनुष्य के जीवनोद्देश्य में सहायता प्रदान करे। उसे छात्रों की मौलिकता एवं स्वतंत्रता की भावना का स्वागत करना चाहिए। शिक्षा कोई ऐसा मानदंड नहीं है जिसके अनुसार छात्र अपने जीवन को ढालें, वरन् वह एक प्रेरणा है। यह आशा की जाती है कि छात्र प्रेरणा से अनुप्रेरित हों और उनके जीवन में इस प्रेरणा के प्रति प्रतिक्रिया हो।

अध्यापक को अधिक से अधिक परिश्रम के साथ शिक्षा संबंधी प्रत्येक विषय को स्वयं छात्र के जीवन से संबद्ध करना चाहिए। कोई भी विषय ऐसा नहीं है, जो छात्र के जीवन

† इस शीर्षक के अंतर्गत लिखी हुई बातों का आधार श्री जी० एस० अरुण्डेल का एक लेख है जो एनी बेसेंट के विचारों के अनुकूल है।

से पृथक् हो, जो उसके निजी विकास का अंग न हो और देर या सवेर जिसकी आवश्यकता उसके जीवन में न पड़े। दर्शन, इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान और अर्थ-शास्त्र आदि सभी विषयों का उसके जीवन से घनिष्ठ संबंध है। ये विषय उसके जीवन के अंग के रूप में उसके आत्मान्वेषण में सहायक होते हैं और इन विषयों की यही महत्ता है।

अध्यापक को चाहिए कि वह सत्य की खोज में कठिनाइयों और बाधाओं तथा त्रुटियों एवं असफलताओं से छात्र को पूर्णतया बचाने का प्रयत्न न करे, वरन् प्रत्येक उपाय से उसमें उद्देश्य तक पहुँचने की इच्छाशक्ति को सजीव बनाये रखे। किंतु इस कार्य में छात्र के ऊपर किसी प्रकार का अनावश्यक दबाव नहीं पड़ना चाहिए। दंड और कठोर आज्ञा की भाँति दबाव शिक्षा का नकारात्मक रूप है। 'व्यवस्था' (order) और 'स्वतंत्रता' (freedom) एक दूसरे के परिपूरक शब्द हैं।

अध्यापक को छात्र के शरीर और आत्मा दोनों का ध्यान रखना चाहिए। यदि अध्यापक में सहज ज्ञान है, तो उसे सभी बातों से ऊपर उठ कर छात्र की 'आत्माका मित्र' बनना चाहिए और आत्मा की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए शरीर को उसके अनुकूल बनाना चाहिए। उसे हर प्रकार से शरीर की आयु का ध्यान रखना चाहिए, किंतु साथ ही आत्मा की आयु का ध्यान भी आवश्यक है क्योंकि शरीर आत्मा का वाहन है, उसके महान उद्देश्य की पूर्ति का साधन है। अध्यापक चिरंतन आत्मा और शरीर को संबद्ध करने वाली एक महत्त्वपूर्ण शृङ्खला की भाँति है। यह शरीररूपी वाहन ही आत्मा को पुनः बाह्य जगत् में ले आता है। अध्यापक छात्र की आत्मा का मित्र, साथी और प्रतिनिधि है, अतः उसे अधिकार है कि वह आत्मा के कल्याण के लिए कभी-कभी शरीर को दुःख भी दे। किंतु अध्यापक में छात्र की आत्मा के ज्ञान के साथ ही इस बात का विवेक भी होना चाहिए कि वह केवल छात्र की आत्मोन्नति के लिए ही उसके शरीर को कष्ट दे—अपनी आत्मा के लिए नहीं, अपने मार्ग पर, अपनी इच्छा के अनुरूप चलाने के लिए नहीं। आधुनिक सिद्धांत शिक्षा में स्वतंत्रता पर बल देते हैं, किंतु हमें यह ज्ञात होना चाहिए कि सच्ची स्वतंत्रता का अर्थ है 'आत्मा की स्वतंत्रता'। शरीर की स्वतंत्रता झूठी स्वतंत्रता है, वह आत्मा को केवल बंदी बनाये रख सकती है। विकास का प्रयोजन आत्मा की स्वतंत्रता है। अध्यापक को चाहिए कि वह छात्र को जीवन के परम उद्देश्य तक पहुँचने में योग दे। यदि शिक्षा और अध्यापक, पाठ्य-सामग्री के माध्यम से उस उच्च उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कुछ सुझाव बालक को नहीं देते तो दोनों अपने कर्त्तव्य से च्युत होंगे।

आदर्श विद्यार्थी—भारतीय शिक्षण-पद्धति में जिस प्रकार अध्यापक का आदर्श होना अनिवार्य है, उसी प्रकार विद्यार्थी को भी आदर्श होना चाहिए। एनी बेसेंट के विचार में उपनयन संस्कार से छात्र के ब्रह्मचर्य-जीवन का प्रारंभ होता है और उसका शैशवकाल समाप्त हो जाता है। यज्ञोपवीत संस्कार के उपरांत छात्र का आत्मसंयमपूर्ण जीवन आरंभ होता

है। मनु के कथन को पुष्ट करते हुए वह कहती हैं कि यज्ञोपवीत में तीन सूत्र तीन प्रकार के संयम के प्रतीक हैं—मानसिक संयम, वाक्संयम तथा कर्मसंयम। शैशव को पशु-सुलभ स्वच्छंदता का काल कहा गया है। यज्ञोपवीत के उपरांत ही वास्तव में बालक मानवीय जीवन में प्रवेश करता है, जिसकी विशेषताएँ हैं—आत्मस्वामित्व और आत्मसंयम की प्राप्ति। यद्यपि बालक कुछ समय तक दूसरे के शासन में रहता है, लेकिन केवल आत्मस्वामित्व की प्राप्ति के लिए। जिस प्रकार पौधे का पालन और उसकी रक्षा का भार माली पर होता है, उसी प्रकार कोमल पौधा-रूपी छात्र का पालन और रक्षा अन्य लोग करते हैं, जिससे वह शक्तिशाली बन कर आगामी जीवन के तूफ़ानों से अकेले ही जूझ सके। यज्ञोपवीत के उपरांत छात्र को मंत्रोपदेश दिया जाता है और उसका धार्मिक जीवन शुरू होता है। यह धार्मिक जीवन उसे सावधान करता रहता है कि अब वह भौतिक जगत् का एक स्वच्छंद प्राणी नहीं है, वरन् उसे अपना संबंध देवों और ईश्वर अर्थात् आध्यात्मिक जगत से स्थापित करना चाहिए, जो उसका वास्तविक जीवन है।

एनी बेसेंट के अनुसार विद्यार्थी अथवा ब्रह्मचारी को अपना ध्यान चार बातों पर केन्द्रित करना चाहिए 'सेवा' 'स्वाध्याय' 'सरलता' और 'संयम'। इन चारों के अनुकूल ही उसका नित्यका जीवन व्यतीत होना चाहिए। इनमें से प्रत्येक 'स' का संबंध शिक्षा के एक विशेष विभाग से है और यह चारों मानव-जीवन के चार विशिष्ठ अंगों से संबंधित हैं। अब हम इन चारों 'स' को विस्तार में देखेंगे।

सेवा—एनी बेसेंट का कथन है कि सेवा एक प्रकार का 'कर्त्तव्य' है जो ईश्वर, गुरु तथा माता-पिता के ऋण से उऋण होने के लिए किया जाता है। इससे बालक की आध्यात्मिक प्रवृत्ति का प्रस्फुटन होता है। यह आध्यात्मिक विकास केवल सेवा, समर्पण और आत्मत्याग द्वारा ही संभव है। यह विकास, सेवा-अर्पण करने से ही परिपोषित होता है, न कि लेने से। छात्र के इस विकास में धर्म से ही सहायता प्राप्त होती है। प्रत्येक छात्र को ईश्वर की उपासना करनी चाहिए, जिसने उसे संसार के नाना सुख-सुविधाएँ दी हैं। धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन भी सेवा के अंतर्गत ही आ जाता है। इस अध्ययन से ही ऋषि-ऋण का परिशोध होता है, अतः द्विजों का कर्त्तव्य है कि इस 'तत्त्व' को अपने जीवन में धारण करें। वेदों आदि का अध्ययन ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों के लिए अनिवार्य है, परंतु इनका पढ़ाना केवल ब्राह्मणों का कार्य है। एनी बेसेंट धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन सब वर्णों के लिए इसलिए आवश्यक समझती हैं क्योंकि धर्म ही हमें सिखाता है कि हम सब प्राणी एक आध्यात्मिक सूत्र से बँधे हैं, अतः धर्म एकता का पाठ पढ़ाता है। एकता की भावना ही हमें सच्ची नैतिकता प्रदान करती है। छात्र को गुरु के प्रति श्रद्धा, सम्मान और विश्वास रखना चाहिए और अपने माता-पिता की उन्हीं के द्वारा दिए हुए तन से सेवा करनी चाहिए।

स्वाध्याय—ज्ञान-प्राप्ति के लिए अपने मस्तिष्क को बाह्य जगत् में प्रयुक्त करने को

स्वाध्याय कहते हैं। इसके द्वारा बौद्धिक शक्ति की वृद्धि, मस्तिष्क का प्रशिक्षण और उसकी शक्तियों का स्वाभाविक विकास होता है। तथाकथित धर्म-निरपेक्ष विषयों की गणना भी इसी के अंतर्गत की जा सकती है। ध्यान रहे कि इन विषयों की शिक्षा केवल उनके समाधान या ज्ञान के लिए नहीं, वरन् मस्तिष्क की तर्क आदि विभिन्न क्रियाओं को अनुशासित करने के लिए दी जानी चाहिए।

सरलता—या सादगी विद्यार्थी-जीवन के अत्यंत अनिवार्य गुणों की ओर इंगित करती है अर्थात् विद्यार्थी का रहन-सहन कैसा होना चाहिए, उसका स्वभाव कैसा होना चाहिए तथा नैतिकता संबंधी सभी तथ्य इसके अंतर्गत आते हैं।

आत्मसंयम—यहाँ आत्म-संयम से तात्पर्य है अपने शरीर पर पूर्ण स्वामित्व प्राप्त करना अर्थात् शरीर का इस प्रकार प्रशिक्षण, निर्देशन तथा व्यवस्थित करना, जिससे वह इतना विकसित हो, इतना उपादेय हो एवं योग्य साधन बन सके कि हमारे सब कार्य सुचारु रूप से चल सकें। अपने शरीर पर पूर्ण स्वामित्व स्थापित करने के लिए 'ब्रह्मचर्य' का पालन करना आवश्यक है। ब्रह्मचर्य के पालन के लिए शारीरिक और मानसिक पवित्रता आवश्यक है। बिना मानसिक पवित्रता के शारीरिक पवित्रता असंभव है। ब्रह्मचारी को जब तक वह पूरा अध्ययन समाप्त न कर ले तब तक विवाह नहीं करना चाहिए। अल्प आयु में विवाह करने से ब्रह्मचर्य-व्रत का खंडन होता है और फलस्वरूप शारीरिक और मानसिक शक्ति का ह्रास होता है। इसीलिए प्राचीन काल में विद्याध्ययन समाप्त करने तक बालक गुरु के घर में रहता था।

शिक्षा के उपर्युक्त चार तत्त्व मानव-प्रकृति के चार अंगों—आध्यात्मिक, बौद्धिक, नैतिक तथा शारीरिक—से क्रमशः संबंधित हैं। इन चार अंगों की शिक्षा का विस्तार-पूर्वक वर्णन हम आगे करेंगे। इससे पूर्व यह जानना आवश्यक है कि सादगी के अंतर्गत किन-किन गुणों को ग्रहण करना ब्रह्मचारी के लिए अनिवार्य है।

विद्यार्थी के धारण करने योग्य गुणों की विवेचना करने से पूर्व हमें यह समझ लेना चाहिए कि एनी बेसेंट का गुण से क्या तात्पर्य है और विभिन्न गुणों का उद्गम कहाँ से होता है। किसी संवेग की मन में स्थायी स्थिति अर्थात् संवेगों का स्थायी भाव में परिणत होना ही गुण है। संसार में मूल स्थायी भाव दो ही होते हैं, प्रेम और घृणा। अन्य संवेग इन्हीं दो मूल स्थायी भावों से उत्पन्न हैं, कुछ प्रेम से और कुछ घृणा से। गुणों की उन्नति प्रेम नामक स्थायी भाव से होती है तथा दुर्गुणों की उत्पत्ति घृणा नामक स्थायी भाव से। नैतिक शिक्षा प्रेम के स्थायी भाव को प्रेरित करती है और उससे उत्पन्न सद्गुणों की वृद्धि करती है और घृणा नामक स्थायी-भाव तथा उससे उत्पन्न दुर्गुणों को दूर करने का प्रयत्न करती है। एनी बेसेंट का कथन है कि ब्रह्मचारी को अपने भीतर निम्नलिखित सद्गुणों को उत्पन्न करना चाहिए।

आज्ञा-पालन—इन गुणों में से शास्त्रों द्वारा समर्थित प्रथम गुण है आज्ञापालन। छात्र

अनुभवहीन होते हैं, अतः आज्ञापालन का गुण उन्हें अपने से बड़ों और अनुभवी व्यक्तियों के अनुभवों से लाभ उठाने के योग्य बनाता है। इस गुण के कारण शारीरिक, मानसिक और नैतिक क्षेत्र में बालक कभी अवनति नहीं करता है। उचित व्यक्तियों के प्रति आज्ञापालन का भाव होने से बालक में सच्चरित्रता की नींव पड़ती है। इसी से व्यक्ति योग्य नागरिक बनता है। आज्ञापालन करने वाला व्यक्ति कर्त्तव्यपरायण तथा नियमों का पालन करने वाला होता है। वे ही लोग योग्य शासक हो सकते हैं, जिनमें आज्ञापालन का गुण होता है क्योंकि ये आज्ञा देने तथा उसे पालन कराने की कला जानते हैं। ये कठोर एवं अनुचित आज्ञा नही देते हैं अतः लोग उसका पालन प्रसन्नता के साथ करते हैं।

साहस—ब्रह्मचारी का दूसरा गुण है शारीरिक तथा नैतिक साहस। नैतिक साहस को एनी बेसेंट शारीरिक साहस से भी अधिक महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य मानती हैं। उनका कथन है कि यदि तुमसे कोई त्रुटि या भूल होती है, तो झूठ बोल कर उसे छिपाने का प्रयत्न न करो। इस किशोरावस्था में अपने दोषों को स्वीकार करने से आगे चल कर युवावस्था में शक्ति प्राप्त होती है। स्पष्टवादिता तथा आत्मिक उन्मुक्ता चरित्र-निर्माण के लिए आवश्यक हैं। सच्ची महानता की प्राप्ति नैतिक साहस द्वारा ही संभव है क्योंकि महानता का अर्थ है अन्य लोगों की अपेक्षा दूरदर्शी होना तथा विरोधों के बीच भी अकेले साहसपूर्वक खड़ा रहना। जो छात्र अपने विद्यार्थी-जीवन में इन नैतिक गुणों का विकास करता है, वह अपनी युवावस्था में समाज का एक शक्तिशाली व्यक्ति बनता है, उसे सम्मान प्राप्त होता है, लोग उसका विश्वास करते हैं और वह सच्चे अर्थों में मनुष्य-जाति का नेता बन जाता है।

सहनशीलता—यह ब्रह्मचारी का एक और प्रधान गुण है। उसे विलासिता की मनोवृत्ति का त्याग करना चाहिए क्योंकि यह शारीरिक विकास के लिए बड़ी घातक है। विलासी होने के कारण बालक मोटे, भद्दे और सुस्त हो जाते हैं। उनके शरीर में अनेक प्रकार के रोग घर कर लेते हैं। वे बालक जो विलासिता से दूर रहकर कर्मण्यता का जीवन व्यतीत करते हैं, उनका स्वास्थ्य सुंदर होता है और उनमें सहनशीलता होती है। वे जीवन में वास्तविक आनंद का अनुभव करते हैं। उनमें आश्चर्यजनक जीवनी शक्ति होती है। अतः छात्रों को अपने जीवन में एक सीमा तक कठिनाइयों को सहन करना चाहिए। विलासी बालक का भावी जीवन रोगों से आक्रांत और अल्प होता है। उसे अपनी इस विलासिता का मूल्य चुकाना पड़ता है। नाना प्रकार के खेल बालक के शारीरिक और नैतिक विकास में सहायक होते हैं।

शिक्षा के सिद्धांत

एनी बेसेंट के विचार में शिक्षा एक विज्ञान है। उसकी एक क्रमबद्ध, व्यवस्थित प्रणाली होनी चाहिए, जिसके द्वारा बालक को प्रशिक्षित किया जाय। ज्ञान को वह बाह्य

वस्तु नहीं मानतीं और न यह स्वीकार करती हैं कि उसे बालक के मन में प्रविष्ट कराना है, बल्कि वह बालक के भीतर सुप्त क्षमताओं और शक्तियों को ही विकसित एवं जाग्रत करने के पक्ष में हैं। इस कार्य के लिए वह बालक के चारों ओर आनंदपूर्ण एवं प्रेमपूर्ण वातावरण को बनाये रखना आवश्यक समझती हैं। कारण, आनंद से जीवनी-शक्ति की वृद्धि होती है, और इसके विपरीत दुःख अथवा क्लेश से उसका ह्रास होता है। इसी प्रकार प्रेम भी शक्तिदायक एवं उचित कार्यों का प्रेरक है। परंतु भय, शक्ति को क्षीण करता है और घृणा के संवेग को प्रबल करता है।

चतुरांगीय शिक्षा—उनके विचार में मनुष्य एक आध्यात्मिक प्राणी है अर्थात् उसका आध्यात्मिक अस्तित्व है। मनुष्य के इस आध्यात्मिक अस्तित्व की वाह्य जगत् में तीन रूपों में अभिव्यक्ति होती है—बुद्धि, संवेग और क्रिया। अतः बालक की शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए, जो उसके आध्यात्मिक जीवन को प्रस्फुटित करने में प्रेरक और सहायक हो, उसकी बुद्धि, संवेगों तथा कार्यों से संबंधित अवयवों को प्रशिक्षित करे अर्थात् शिक्षा को बालक के धार्मिक, मानसिक, नैतिक और शारीरिक विकास में सहायक होना चाहिए। वह शिक्षा अपूर्ण और अवैज्ञानिक है, जो मानव-प्रकृति के इन चार अंगों में से किसी की भी उपेक्षा करती है। ऐसी अधूरी शिक्षा के फलस्वरूप व्यक्ति का विकास असंतुलित और अपूर्ण होगा। उसकी संपूर्ण मानसिक शक्तियों का विकास न होगा और वह असंतुलित व्यक्ति समाज-कल्याण में सहयोग न दे सकेगा।

यहाँ समाज शब्द के प्रयोग से यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य दो प्रकार के संसार में विचरण करता है,पहला उसकी आंतरिक अनुभूतियों का जगत् तथा दूसरा बाह्य, सामाजिक जगत्। मनुष्य-जीवन के इन दोनों पक्षों को ध्यान में रख कर ही शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। ताकि व्यक्ति समाज के प्रति अपना उत्तरदायित्व भी समझे। समाज व्यक्तियों का परस्पर-आश्रित एक समूह है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना स्थान और कर्त्तव्य है। प्रत्येक के अपने-अपने कर्त्तव्य-पालन से ही समाज का कार्य सुचारु रूप से चल सकता है। शिक्षा को बालक को एक भावी नागरिक के रूप में देखना चाहिए, जिसके कुछ सामाजिक कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व हैं। अतः शिक्षा को बालक के प्रथम प्रकार के जगत् से संबन्धित उसकी अंतर्निहित विकासोन्मुख चेतना को उसके व्यापक वातावरण घर, पाठशाला, विद्यालय, नगर, राष्ट्र, जाति, मानवता और विश्व से परिचित तथा संबंधित करना चाहिए। इनमें प्रथम तीन—घर, पाठशाला और विद्यालय बालक को विस्तृत जीवन—नगर, राज्य और राष्ट्र के लिए तैयार करते हैं और ये छः मिलकर अंतिम तीन—जाति, मानवता और विश्व की सेवा करने के लिए पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हैं। इन दोनों विकासोन्मुख पक्षों को एनी बेसेंट ने क्रमशः जीवन-पक्ष तथा राजनीतिक-पक्ष कहा है। ध्यान रहे, राजनीति शब्द का प्रयोग बेसेंट ने उसके पुराने ग्रीक अर्थ में किया है जिसके अंतर्गत व्यक्ति के उसके संपूर्ण वातावरण से सब संबंध आ जाते हैं।

इन दोनों पक्षों को ध्यान में रखते हुए उन्होंने शिक्षा के उद्देश्यों की स्थापना की है। अध्यापन में भी प्रत्येक विषय को, जो कि मानव-प्रकृति के विभिन्न अंगों से संबंधित हैं, जीवन के इन दोनों प्रकार के प्रस्फुटन में सहायक होना चाहिए। प्रश्न यह उठता है कि यह संभव कैसे है? अतः एनी बेसेंट ने मानव-प्रकृति के प्रत्येक अंग से संबंधित शिक्षा के उद्देश्यों की व्याख्यों को है।

चतुरांगीय शिक्षा के उद्देश्य

धार्मिक शिक्षा—धार्मिक शिक्षा का प्रयोजन है, विकासोन्मुख जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के मार्ग में उपस्थित होने वाली बाधाओं को दूर करना अर्थात् जीवन-पक्ष में ईश्वर-प्रेम में पड़ने वाली तथा राजनीति-पक्ष में मनुष्य-सेवा में पड़ने वाली बाधाओं को दूर करना। इन बाधाओं का दूसरा नाम है भेद की भावना। अतः शिक्षा को भेद-भावना का निराकरण करना चाहिए क्योंकि आध्यात्मिकता का सारतत्व 'एकता' है।

मानसिक शिक्षा—मानसिक शिक्षा का प्रयोजन है विकासोन्मुख जीवन की बौद्धिक शक्तियों को विकसित और प्रशिक्षित करना। जीवन-पक्ष में, मानसिक शिक्षा का कार्य है निरीक्षण, स्मरण, संग्रथन, तर्क, निर्णय, स्पष्ट रूप से विचार करने तथा स्पष्ट ढंग से विचारों को व्यक्त करने की शक्तियों को विकसित एवं प्रशिक्षित करना। राजनीति-पक्ष में, मानसिक शिक्षा का कार्य है यह ज्ञान कराना कि वर्तमान समाज का विकास कैसे हुआ तथा निकट भविष्य में समाज की होने वाली प्रगति का स्पष्ट आभास देना।

नैतिक शिक्षा—जीवन-विकास को दृष्टि में रखते हुए नैतिक शिक्षा का प्रयोजन है संवेग-शक्तियों का प्रशिक्षण तथा विकास। नैतिकता समसंबंधों का विज्ञान (Science of harmonious relations) है। जीवन-पक्ष में नैतिकता से तात्पर्य है 'सत्य' अर्थात् इच्छा, संवेग तथा कार्य में निम्न एवं उच्च आत्मा में सामंजस्य की प्राप्ति। इस सामंजस्य के फलस्वरूप व्यक्ति बौद्धिक क्षेत्र में यथार्थता एवं ईमानदारी के गुणों की अभिव्यक्ति और बुद्धि द्वारा निर्वाचित आदर्श के साक्षात्कार का प्रयत्न करता है। राजनीति-पक्ष में नैतिकता से तात्पर्य है 'प्रेम', जिसमें सभी सामाजिक गुण, कर्त्तव्यपरायणता तथा उत्तरदायित्व के भाव सम्मिलित हैं।

शारीरिक शिक्षा—शारीरिक शिक्षा का प्रयोजन है शरीर का पूर्ण विकास करना, जिससे वह धार्मिक, मानसिक और नैतिक कार्यों की पूर्ति में सहायक हो सके क्योंकि हमारे जीवन के सभी कार्य शरीर पर ही अवलंबित हैं, उनके संपादन का माध्यम शरीर है। शरीर सभी कार्यों का साधन है, अतः उसे पुष्ट, स्वस्थ और नीरोग रखना प्रथम कर्त्तव्य है। शारीरिक शिक्षा का जीवन-पक्ष है शरीर को स्वस्थ, पूर्ण संतुलित एवं पूर्ण

नियंत्रित रखना। शारीरिक शिक्षा का राजनीति-पक्ष है उपरिलिखित नौ विभागों (घर, पाठशालादि) में शरीर का सेवा-कार्यों में उपयोग करना।

एनी बेसेंट के विचार में शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जो जीवन के दोनों पक्षों (जीवन-पक्ष और राजनीति-पक्ष) को ध्यान में रख कर मानव-स्वभाव के चार अंगों—धार्मिक, मानसिक, नैतिक और शारीरिक—की आवश्यकताओं की पूर्ति करे। इसके साथ ही पाठ्यक्रम का निर्धारण करते समय कुछ मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों को भी सामने रख कर मानव-विकास के विभिन्न स्तर अथवा काल के अध्ययन का विधान करना चाहिए।

शिक्षा के तीन स्वाभाविक काल

मानव के प्रारंभिक विकास के तीन स्वाभाविक काल होते हैं—जन्म से सात वर्ष की अवस्था तक, सात से चौदह वर्ष की अवस्था तक तथा चौदह से इक्कीस वर्ष की अवस्था तक। इन्हीं तीन कालों में छात्र के पूर्ण अध्ययन को समाप्त हो जाना चाहिए। इसके समाप्त होते ही इक्कीस वर्ष की अवस्था में युवकों और युवतियों को संसार में प्रवेश करना चाहिए और उन्हे वाह्य जगत् के अनुभवों और शिक्षाओं से लाभ उठाना चाहिए।

प्रथम काल—जन्म से सात वर्ष तक—यह मुख्यतः शारीरिक शिक्षा का काल है। इस काल में ज्ञानेन्द्रियाँ प्रबल होती हैं। वाह्य संपर्क में आने पर ज्ञानेन्द्रियों को उत्तेजनाएँ प्राप्त होती हैं, अतः इस समय शिक्षा का कार्य इन्द्रियों को इस प्रकार प्रशिक्षित करना है कि वे प्राकृतिक वस्तुओं का ठीक-ठीक निरीक्षण करें और घटनाओं के निश्चित प्रक्रम का अध्ययन करें। इसी के आधार पर भविष्य में तर्क-शक्ति का विकास होता है। स्मरण रहे कि बालक का मस्तिष्क इस अवस्था में तर्क-शक्ति के प्रशिक्षण के लिए तैयार नहीं रहता, केवल उसके मस्तिष्क को बलिष्ठ बनाना चाहिए। बालकों को यथासाध्य अधिक मात्रा में स्वतंत्रता देनी चाहिए और वहुत अधिक चोट आदि से उनकी रक्षा करनी चाहिए, ताकि वे अपनी प्राकृतिक शक्तियों का प्रदर्शन कर सकें। उन्हें ऐसे अवसर प्रदान करने चाहिए, जिससे वे उन शक्तियों को विकसित कर सकें। उनके मनोद्वेगों को, जो अभी पूर्ण रूप से संवेग नहीं कहे जा सकते, बड़ी कोमलता के साथ प्रशिक्षित करने की आवश्यकता है। इस समय शरीर के लिए पौष्टिक भोजन की व्यवस्था आवश्यक है क्योंकि इसमें भूल होने से बालक के भावी जीवन के अल्प हो जाने की संभावना है।

द्वितीय काल—सात से चौदह वर्ष तक—इस काल में बालक के संवेग प्रबल होते हैं और मानसिक शक्तियों पर भी इन संवेगों का प्रभाव पड़ता है, अतः शिक्षा का मुख्य कार्य है बालक-बालिकाओं के संवेगों को प्रशिक्षित करना तथा उनको नियंत्रित या संयमित करना ताकि जब वे यौवन-काल में प्रवेश करें, तो मानव-शरीर-विज्ञान के व्यापक तथ्यों को समझें और संवेगों पर मानसिक नियंत्रण स्थापित करें। इस काल में छात्र की तर्क-शक्ति विकसित होने लगती है। इस शक्ति को विकसित करने का प्रयत्न करना

चाहिए, किंतु इसके लिए उसके मस्तिष्क पर दबाव या ज़ोर नहीं डालना चाहिए। इस काल की मानसिक शिक्षा का मुख्य कार्य है निरीक्षण और प्रयोग द्वारा तथ्यों का संचय तथा इन तथ्यों को संगठित करने की क्रिया द्वारा स्मरण-शक्ति को प्रशिक्षित करना और इसकी सहायता से भाषाओं और सूत्रों का अध्ययन कराना क्योंकि ये मुख्यतः स्मरण-शक्ति पर आधारित होते हैं।

तृतीय काल—चौदह से इक्कीस वर्ष तक—यह मुख्यतः मानसिक शिक्षा का काल है। इस समय तक मस्तिष्क निरीक्षण करने का अभ्यस्त हो जाता है तथा उसमें तथ्यों का ज्ञान संचित हो जाता है। अब इन तथ्यों के आधार पर मन विचार, कल्पना, तर्क आदि की उच्च क्रियाएँ करता है। इस समय गंभीरतापूर्वक तर्क-शक्ति से संबंधित संग्रथन एवं निर्णय-शक्ति को प्रशिक्षित करना चाहिए। तर्क-शक्ति के प्रखर होने के उपरांत ही तर्क-शास्त्र, दर्शन शास्त्र और कला जैसे गंभीर विषयों का बालक को अध्ययन कराना चाहिए।

शिक्षा-सिद्धान्तों के संबंध में एनी बेसेंट यह स्पष्ट कर देना चाहती हैं कि मानव-प्रकृति पर आधारित ये शिक्षा-सिद्धांत स्थिर एवं शाश्वत हैं, पर इन्हें व्यवहार में लाते समय काल और देश की परिस्थिति के अनुरूप समायोजित कर लेना चाहिए। अतः शिक्षकों को प्राकृतिक नियमों को तो ध्यान में रखना ही चाहिये, पर उन्हें इनके प्रयोग में पूर्ण स्वतंत्रता मिलनी चाहिए,ताकि वे वर्तमान के लिए सर्वोत्तम विधि ढूँढ़ सकें और भविष्य में उससे भी उत्तम विधि प्राप्त होने पर वे पहली विधि का परित्याग कर दें।

एनी बेसेंट की राष्ट्रीय शिक्षा-योजना

एनीबेसेंट शिक्षा को व्यक्ति के विकास का साधन मानती हैं। हम पहले देख चुके हैं कि वह शिक्षा के दो पक्ष स्वीकार करती हैं—वैयक्तिक तथा सामाजिक। वैयक्तिक शिक्षा को उन्होंने सामाजिक शिक्षा द्वारा अनुशासित होने को ही श्रेयस्कर माना है। उनके विचार में राष्ट्रीय शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति के संपूर्ण व्यक्तित्व का विकास हो। यह विकास इस प्रकार होना चाहिए, जिसमें अतीत में की गयी मानव-उपलब्धियाँ प्रतिबिंबित हो सकें, वर्त्तमान के सभी आदर्श तथा संसार के आधुनिकतम विकास का समावेश हो सके। इसी प्रकार की शिक्षा को राष्ट्रीय शिक्षा कहा जा सकता है। उनका कथन है, 'हमें शिक्षा में उन भारतीय आदर्शों को स्थान देना चाहिए जो यहाँ के वातावरण में प्रस्फुटित हो चुके हैं क्योंकि सभी राष्ट्रों के अपने आदर्श होते हैं, जो वहाँ के राष्ट्रीय जीवन को अनुप्रेरित और विकसित करते हैं।' उन्होंने स्वीकार किया है कि विदेशी शिक्षा-योजना के अंतर्गत किसी भी देश का कोई भी युवक

पूर्ण विकास नहीं कर सकता है। भारतीय आदर्शों और भारतीय आत्मशक्ति से परिपूर्ण शिक्षा-योजना ही भारत के लिए हितकर हो सकती है।

उनके विचार में राष्ट्रीय शिक्षा तभी सार्थक होगी जब उसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति का शारीरिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास हो। व्यक्ति के उत्थान द्वारा ही राष्ट्र का उत्थान संभव है। अतः वह शिक्षा को सबके लिए अनिवार्य समझती हैं।

सर्वसाधारण के लिए शिक्षा

सभी व्यक्तियों के लिए प्रारंभिक शिक्षा समान होनी चाहिए। जीवन के लिए आवश्यक सभी विषयों का ज्ञान सर्वसाधारण को कराना चाहिए। लिखने, पढ़ने और गणित की शिक्षा सब के लिए समान होनी चाहिए। सभी बालक, बालिकाओं को कुछ सामान्य विषयों की शिक्षा मिलनी चाहिए, जिनकी आवश्यकता उन्हें जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में पड़ती है। प्राथमिक चिकित्सा की गणना ऐसे ही विषयों में की जा सकती है। एनी बेसेंट के विचार में बालकों को उनकी रुचि के अनुसार शिक्षा देने से उनकी जिज्ञासा बढ़ती है और वे प्रसन्नतापूर्वक शिक्षा-प्राप्ति के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं।

सर्वसाधारण में शिक्षा-प्रसार के लिए सहकारी आंदोलन की आवश्यकता है। जहाँ भी सहकारी संस्थाएँ या पंचायतें हैं, वहाँ सरलतापूर्वक शिक्षा का प्रसार किया जा सकता है। ऐसे स्थानों पर शिक्षा-कार्य प्रारंभ करने पर राजकीय सहायता भी मिल सकती है। छोटे-छोटे गाँवों में ऐसे सहकारी प्रयासों की आवश्यकता है। जहाँ सहकारी संस्थाएँ न हों वहाँ ग्राम-पंचायतों की स्थापना आवश्यक है। पंचायतों के द्वारा गाँवों में शिक्षा का यथेष्ट प्रसार हो सकता है।

पिछड़े वर्गों की शिक्षा

एनी बेसेंट के विचार में पिछड़े वर्ग के लोगों की शिक्षा के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा आर्थिक है। शिक्षा इतनी व्ययसाध्य होती है कि पिछड़े वर्ग के लोग मासिक शुल्क और पाठ्यपुस्तकों का मूल्य भी नहीं दे पाते हैं। शिक्षा के फलस्वरूप बालकों के रहन-सहन में जो परिवर्त्तन होता है, वह माता-पिता के लिए कष्टकारक होता है क्योंकि उनके पास अर्थ का अभाव होता है। वे वस्त्रादि तथा सफ़ाई के लिए पैसे नहीं दे पाते। पढ़ने के कारण बालक मज़दूरी करके अपने माता-पिता की सहायता भी नहीं कर पाते हैं, अतः उनके अभिभावक उन्हें पढ़ने के लिए विद्यालय नहीं भेजते। परिणाम यह होता है कि समाज का बहुसंख्यक पिछड़ा वर्ग, जो राष्ट्र का आधार है, अशिक्षित रह जाता है। यद्यपि यह वर्ग समाज के लिए बड़ा उपयोगी है, फिर भी यह उपेक्षित ही रहता है। भारत में यह वर्ग पूरी जनसंख्या का छठा भाग है। इस वर्ग के बालकों के लिए प्राथमिक आवश्यकता है सफ़ाई और व्यवहार

की शिक्षा देना। इसके साथ ही उन्हें पढ़ने-लिखने का ज्ञान कराना अनिवार्य है। उन्हें धर्म और नैतिकता भी सिखानी है। पीढ़ियों से उनमें अभक्ष्य और अपेय वस्तुओं के सेवन की जो आदत पड़ी हुई है, उसे दूर करना तथा उनके शरीर और मन को पवित्र बनाना होगा। हमें पिछड़े वर्ग को ऊपर उठाना होगा। उन्हें प्रतिदिन स्नान करने और स्वच्छ वस्त्र पहनने की शिक्षा देनी होगी। संतुलित और शुद्ध आहार उनकी सबसे बड़ी आवश्यकता है। उनकी आत्मा के विकास के लिए उनके शरीर को पुष्ट और दृढ़ बनाना है। यदि हम मानव-समाज के इस पिछड़े वर्ग की सहायता नहीं करते हैं, तो ईश्वर के सम्मुख किस मुँह से अपने उत्थान की प्रार्थना करेंगे।

रात्रि-पाठशालाएँ

एनी बेसेंट का विचार है कि सभी देशप्रेमी स्त्री-पुरुषों का कर्त्तव्य है कि वे उन लोगों के बीच शिक्षा का प्रसार करें, जो जीवन की कठिनाइयों और प्रतिकूलताओं के कारण शिक्षा से वंचित हैं। हमें देश की उस जनता के बीच शिक्षा का प्रसार करना है, जो सहायता के लिए हमारी ओर देख रही है। शिक्षा-प्रसार के लिए उन्होंने रात्रि-पाठशालाओं की स्थापना को महत्त्वपूर्ण माना है, जिससे दिन में काम करने वाले लोग रात्रि को पढ़ना-लिखना सीख सकें। उनका कहना है कि दिन में काम करने वाला बालक यदि रात को पढ़ने के लिए पाठशाला आता है, तो इससे स्पष्ट है कि उसके हृदय में शिक्षा प्राप्त करने की बलवती जिज्ञासा है। उसके लिए शिक्षा की कोई ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिससे उसका मार्ग प्रशस्त हो सके। काम में लगे हुए व्यक्ति को हमें ऐसी शिक्षा देनी चाहिए कि उसके कार्य में सुविधा हो सके। आज शिक्षा का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह लोगों के कार्य में सहायक नहीं बन पाती, वरन् उनके जीवन से पृथक् रहती है। इसका परिणाम यह होता है कि उनके जीवन में शिक्षा का बुद्धिमत्तापूर्ण प्रयोग नहीं हो पाता। अतः हमें उनको ऐसी शिक्षा देनी चाहिए जो उनकी आजीविका में भी सहायता कर सके।

स्त्री-शिक्षा

एनी बेसेंट की राष्ट्रीय शिक्षा योजना में सर्वसाधारण की शिक्षा के साथ ही स्त्री-शिक्षा को विशेष स्थान प्राप्त है। वह भारतीय नारी को उसके गौरवपूर्ण अतीत के कारण, बड़े सम्मान की दृष्टि से देखती हैं और उनकी वर्त्तमान परिस्थिति से परिचित होने के कारण, वे उनके उज्ज्वल भविष्य की कल्पना करती हैं। स्त्री-शिक्षा से संबंधित उनके विचारों में, उनकी दार्शनिक अवधारणा, 'अनेकता में एकता' और उससे संबंधित 'व्यक्तिगत विभिन्नता' के मनोवैज्ञानिक सिद्धांत की छाप स्पष्टरूप से दृष्टि गोचर होती है। शिक्षा के भारतीयकरण की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने सदैव प्राचीन भारत के स्त्रीरत्न को आदर्शरूप स्वीकार किया है।

वर्त्तमान समय में स्त्री-आदर्श की व्याख्या, एनी बेसेंट ने बड़े ही सुन्दर शब्दों में की है। उनके अनुसार, "अतीत काल में भारतीय नारी क्या थी, इसे हम जानते हैं। अनेक असुविधाओं के होते हुए भी आज उसका क्या रूप है, उसे भी हम देख रहे हैं—उससे बढ़ कर सुन्दर पुष्प इस पृथ्वी पर नहीं हैं। भविष्य में वे कैसी होंगी—इसे कौन बता सकता है? हम भविष्य में भारत में उस नारीत्व की आशा करते हैं, कल्पना करते हैं जिसमें गार्गी की बुद्धिमत्ता, सावित्री का साहस और वाक्चातुर्य, सीता का अटल प्रेम, दमयंती की स्वाभिमानपूर्ण सहनशीलता तथा शकुंतला की पतिभक्ति का पूर्ण-रूप से समावेश हो।"

एनी बेसेंट स्त्रियों के लिए शिक्षा को आवश्यक मानती हैं। उनके विचार में नारियों को दर्शन, विज्ञान, साहित्य और कला आदि सभी विषयों की शिक्षा पुरुषों के समान मिलनी चाहिए। स्त्री होने के नाते ज्ञानभंडार के किसी भी अंश से उन्हें वंचित नहीं किया जाना चाहिए। नये और स्वतंत्र भारत के निर्माण के लिए जिस प्रकार बुद्धिमान और संत पुरुषों की आवश्यकता है उसी प्रकार विदुषी और साध्वी नारियों की भी। इन्हीं के ऊपर नवीन भारत की सुदृढ़ आधारशिला का आरोपण होगा। उसे दर्शन और विज्ञान-सम्मत धर्म का पालन करना होगा। एनी बेसेंट का कथन है कि स्त्री पुरुष से भी बढ़कर सत्य का व्यवहार करेगी क्योंकि यदि पुरुष जन्म से नियमों और विधानों का निर्माता है तो नारी जन्मजात व्यवस्थापिका होती है। उसमें अपने अधीन ज्ञान को व्यवहार में लाने की सहज प्रवृत्ति होती है क्योंकि वह केवल बौद्धिक ज्ञान की प्राप्तिमात्र से संतुष्ट नहीं होती। ज्ञान को व्यावहारिक रूप देने में वह बाधाओं से भय-भीत नहीं होती और उसके लिए आवश्यकता पड़ने पर त्याग भी करती है। पत्नी, माता और व्यवस्थापिका के रूप में घरेलू कार्यों में त्याग करना उसके नैतिक कार्यों का अंग होता है। अपने इन त्यागों को वह पुरुष की भाँति गिनती नहीं है। त्याग उसका स्वभाव है। पारिवारिक जीवन के कल्याण की भावना से उसका मस्तिष्क इतना अभि-भूत होता है कि वह अपने निजी सुखों की भी चिंता नहीं करती। उसकी निजी और परिवार की सुविधाओं में कहीं अंतर्विरोध नहीं पड़ता। नारी के इसी त्याग और सेवा-भावना को यदि राष्ट्र की ओर उन्मुख कर दिया जाय तो वह व्यापक रूप ग्रहण कर लेगा और वह उसी त्याग की भावना से राष्ट्र की सेवा भी करने लगेगी।

असाधारण प्रतिभा वाली बालिका के विषय में एनी बेसेंट का कहना है कि कुछ ऐसी बालिकाएँ भी होती हैं जो अपनी विशिष्ठताओं को अधिक पूर्णरूप में विकसित करना चाहती हैं, वे व्यापक शिक्षा प्राप्त करना चाहती हैं। उनके इस निजी विकास में उनकी रुचि के अनुसार सहायता मिलनी चाहिए। भारत में ऐसी कन्याएँ उत्पन्न हो सकती हैं जो यहाँ की प्राचीन नारियों की प्रतिभा और ज्ञान को साकार कर सकें।

'किसी को यह अधिकार नहीं है कि उनको उन्नति के मार्ग में बाधा डाले या उससे विचलित करे। ऐसी प्रतिभाओं के विकास के लिए हर दिशा से प्रत्येक संभव सहायता मिलनी चाहिए।'

एनी बेसेंट चाहती हैं कि भारतीय नारियाँ अपने में प्राच्य आदर्श और पाश्चात्य देशों की गतिशीलता का समन्वय करें।

राष्ट्रीय शिक्षा और मातृभाषा

एनी बेसेंट ने अपनी राष्ट्रीय शिक्षा-योजना में मातृभाषा पर विशेष बल दिया है। उनके विचार में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा मिलनी चाहिए। देश के स्वतंत्र विश्वविद्यालयों, विद्यालयों और पाठशालाओं में मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा दी जाय, और अंग्रेज़ी भाषा की पढ़ाई द्वितीय भाषा के रूप में हो। देश के युवकों को मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा प्राप्त होनी चाहिए और वही उनके सोचने-विचारने तथा कार्य करने का माध्यम होना चाहिए। देश के उत्थान के लिए मातृभाषा सबसे बड़ा साधन है। कोई विदेशी भाषा जनता को उस सीमा तक विकसित नहीं कर सकती जिस सीमा तक मातृभाषा। भाषा स्वयं एक बड़ी राष्ट्रीय संस्था है, यह राष्ट्रीयता का एक बड़ा चिह्न है। एक डच कहावत है 'जहाँ अपनी भाषा नहीं वहाँ राष्ट्रीयता नहीं।' भाषा गंगा की भाँति माता है, जिसके बिना हम एक दिन भी नहीं रह सकते हैं। बेसेंट ने देश की विभिन्न भाषाओं को अपने-अपने क्षेत्र में शिक्षा का माध्यम होने पर ज़ोर दिया है और संस्कृत तथा अरबी जैसी प्राचीन भाषाओं के अध्ययन को आवश्यक माना है। अंग्रेज़ी शिक्षा को उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार तथा अंतर्राष्ट्रीय संपर्क के लिये उपादेय समझा है।

शिक्षा की सामान्य व्यवस्था

प्रत्येक स्कूल में शिक्षा का माध्यम बालक की मातृभाषा होनी चाहिए। सेकेंडरी तथा हाई स्कूल में, अंग्रेज़ी द्वितीय भाषा के रूप में पढ़ाई जानी चाहिए।

पठन-पाठन के घंटे—एनी बेसेंट की योजना के अनुसार स्कूल ७ बजे प्रातःकाल से ६ बजे सायंकाल तक खुले रहने चाहिए। भारत के विभिन्न भागों में स्थानीय सुविधा के अनुसार इसमें परिवर्तन भी किया जा सकता है। शिक्षा का मुख्य कार्य ७ बजे से १० बजे प्रातः तथा २ बजे से ४ बजे अपराह्न काल तक होना चाहिए। शेष समय में विश्राम और खेल-कूद का प्रबंध होना चाहिए, विद्यालय के खुलने और बंद होने के समय धार्मिक प्रार्थना होनी चाहिए।

शिक्षा का काल-विभाजन : बेसेंट ने शिक्षा को तीन कालों में विभाजित किया है:—

(१) प्राइमरी, कक्षा १ (अ, ब); ५ से ७ वर्ष की अवस्था तक।

(२) (क) लोअर सेकेंडरी, कक्षा २, ३, और ४; ७ से १० वर्ष की अवस्था तक।

(ख) हायर सेकेंडरी, कक्षाएँ ५, ६, ७ और ८; १० से १४ वर्ष की अवस्था तक।

(३) हाई क्लास, कक्षाएँ ९ और १०; १४ से १६ वर्ष की अवस्था तक।

हायर सेकेंडरी शिक्षा के अंत में परीक्षा होगी और इसके बाद जो बालक हस्तकला और व्यावसायिक शिक्षा ग्रहण करना चाहेंगे, वे टेकनिकल स्कूल में प्रवेश करेंगे। हाई स्कूल के बाद, बालक को विद्यालय छोड़ने का प्रमाणपत्र दिया जायेगा। इसके उपरांत वे विद्यार्थी जो इंजीनियरिंग, कृषि का उच्च ज्ञान, वाणिज्य, शिक्षण-कला, विज्ञान, कला (Arts), चिकित्सा आदि का अध्ययन करना चाहेंगे, उन्हें 'यूनिवर्सिटी प्रिपेयरेशन' कक्षाओं में एक वर्ष और शिक्षा ग्रहण करनी होगी। इसके उपरांत कालेज की एंट्रेंस परीक्षा में सफल होने पर विद्यार्थी डिग्री कोर्स के लिए तीन वर्ष तक अध्ययन करेगा। यह अध्ययन-काल बीस वर्ष की अवस्था तक होगा। डिग्री कोर्स के उपरांत विद्यार्थी पोस्ट ग्रेजुएट कक्षाओं में अध्ययन करेगा।

प्राइमरी और सेकेंडरी शिक्षा में बालक और बालिकाओं के पाठ्यक्रम में विशेष अंतर नहीं होगा। केवल सेकेंडरी स्तर पर हस्तकला-प्रशिक्षण के अंतर्गत सिलाई, क़सीदा, संगीत और खाना बनाना आवश्यक है; और हायर सेकेंडरी स्तर पर स्वास्थ्य-विज्ञान, गृह-विज्ञान, गृह-अर्थ-शास्त्र तथा प्राथमिक चिकित्सा की अतिरिक्त शिक्षा उन बालिकाओं को दी जायेगी, जो हाई स्कूल में जाना चाहती हैं।

अध्ययन की सामान्य रूप-रेखा

माता, पिता और अध्यापकों को चाहिये कि फ्रॉबेल पेस्टालॉज़ी, मांटेसरी और बिने के मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों से अपने आप को परिचित करें।

प्रथम काल—शारीरिक प्रशिक्षण का समय (अवस्था–१ से ५ वर्ष तक)

घर में शिक्षा—जीवन-पक्ष : इस काल को एनी बेसेंट ने मुख्यतः शारीरिक शिक्षा का काल माना है। इस काल में बालक के शारीरिक विकास की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए। जन्म से ही निश्चित समय पर कार्य करने की आदत डालनी चाहिए। शिशु की देख-रेख भली प्रकार की जानी चाहिए, पर उसे अधिक समय तक गोद में न रखा जाय। जब बालक घुटने चलने लगे तब शिशु के सामने कुछ दूरी पर रंगीन और चमकीली चीज़ें रख दी जायँ जिससे वे उनकी ओर आकर्षित हों और उन्हें पाने का प्रयास करें। बालक को खड़ा करने या चलाने का प्रयास नहीं करना चाहिए, वह स्वयं स्वाभाविक रूप से, यह क्रियाएँ करेगा। जब बालक तीन साल का हो जाय तो उसे निरीक्षण करने

और छोटे छोटे प्रयोग करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। उसे अपने शरीर के अंगों जैसे हाथ, पैर, नाक आदि का ज्ञान होना चाहिए और खेल व दिलवहलाव के लिए हाथ व पैर की अंगुलियों को गिनना चाहिए।

चार वर्ष की अवस्था में उनके खेल-कूद को थोड़ा व्यवस्थित रूप देना चाहिए। परन्तु खेल में भी बालक पर कोई व्यवस्था ज़बरदस्ती लागू नहीं करनी चाहिए। अध्यापकों, अभिभावकों तथा माता-पिता को खेल द्वारा शिक्षा देने के सिद्धान्तों का ज्ञान होना चाहिए। छोटे बालक के साथ कभी कटु शब्द नहीं प्रयोग करने चाहिए और न उन्हें डराना चाहिए। डर से बालक में छल एवं कपट की भावना का उदय होता है। डर के अभाव में सत्य का गुण बालक में विकसित होगा। यदि बालक कभी क्रोध करे तो उसका ध्यान किसी और मनोरंजक वस्तु की ओर आकर्षित कर देना चाहिए।

राजनीति-पक्ष : इस पक्ष के अंतर्गत बालक के अंदर प्रेम की भावना का विकास करना चाहिए। उसे अपनी चीज़ बाँटने में सुख का अनुभव करना सीखना चाहिए और न बाँटने में दुःख। जब बालक चीज़ बाँटे तो उसकी तरफ़ देखकर मुस्कराना तथा उसे प्यार करना चाहिए और न बाँटने पर उदासी दिखाना चाहिए। अन्य बच्चों के साथ खेल के द्वारा उसमें यह भाव उत्पन्न होना चाहिए कि वे एक दूसरे पर अवलंवित हैं, और मेल से सुख तथा झगड़े से दुःख मिलता है। छोटी-छोटी सेवाओं के लिए बालक को अवसर मिलने चाहिए, उसे सवकी सहायता करना सीखना चाहिए। उसे पशुओं के प्रति दयालुता दिखलाना, साफ़-सुथरा रहना आदि सीखना चाहिए क्योंकि अच्छी आदतों से घर का वातावरण सुंदर रहता है।

प्राइमरी स्कूल (५ से ७ वर्ष तक)—प्रथम कक्षा (अ और ब)

जीवन-पक्ष : इस काल में बालक को खेल द्वारा शिक्षा देना है। खेल में वस्तुओं का निरीक्षण, उनका सहसंबंध, उनकी संख्या, रूप, रंग और उनका प्रयोग बालकों को सीखना चाहिए। उनसे चीज़ें बनवानी चाहिये ताकि वे अँगुलियों पर नियंत्रण प्राप्त करें। कक्षा में आकर्षक वस्तुएँ बिखरी रहनी चाहिए ताकि बालकों की जिज्ञासा जागृत हो, वे नक़ल करने की कोशिश करें, और उस आधार पर विकासोन्मुख बुद्धि की सृजन शक्ति को प्रेरित करें। बच्चों को घूमने-फिरने की पूरी स्वच्छंदता मिलनी चाहिए ताकि उन्हें जो वस्तु अच्छी लगें वे उन्हीं से खेलें। इस अवस्था में बालक मुख्यतः नक़ल करके ही सीखता है। अध्यापक को चाहिये कि वे इस बात का ध्यान रखें कि बालक जब कुछ सीखना चाहता हो तो वे उसकी सहायता करें क्योंकि असफलता से बालक का उत्साह भंग हो जाता है। बालक लिखना और पढ़ना भी खेल द्वारा सीखेगा, और जब बालक लिखने-पढ़ने की इच्छा प्रकट करे तो उसे अवसर प्रदान करना चाहिए। यदि

बालक को कार्डबोर्ड आदि पर कटे हुए अक्षर खेलने को दिये जायँ, और यदि यह कई बार बता दिया जाय कि वे उस पर किस प्रकार उँगली फेरें, तो बालक की नक़ल करने की प्रवृत्ति जाग उठेगी और वह कागज़ पेंसिल माँगेगा और बहुत ही जल्दी हाथ फेर-फेर कर स्वयं अक्षर बनाना सीख लेगा। छोटे-छोटे संज्ञावाचक शब्दों से बालक का पढ़ना आरंभ कराना चाहिए, पर साथ में तस्वीर भी रहनी चाहिए, अर्थात् बालक शब्द बोले और तस्वीर से उसे संबद्ध करे। तस्वीर और उससे संबंधित शब्द के ब्लॉकों द्वारा भी बालक को पढ़ना सिखाया जा सकता है। इस प्रकार के ब्लॉकों को मिश्रित कर दिया जाय और बालक से जिस शब्द को उठाने को कहा जाय वह उसे उठाये।

इसके अतिरिक्त धार्मिक और नैतिक शिक्षा कक्षा में कहानियों, भजन, श्लोक तथा गायन द्वारा देनी चाहिए। यह भी अच्छा होगा कि स्कूल में भिन्न मतावलंबियों के लिए अलग-अलग पूजा का स्थान नियत रहे ताकि प्रत्येक अपने मतानुसार पूजा-अर्चना करना सीखे। उन्हें चित्र और मूर्ति बनाने का सही ढंग सिखाना चाहिए। वस्तुओं के आधार पर उन्हें जोड़ना-घटाना आदि सिखाना चाहिए।

राजनीति-पक्ष : बालक को अब अपरिचित व्यक्तियों की सहायता करना सीखना चाहिए और उसकी सेवा का क्षेत्र बढ़ना चाहिए। बालक को प्रत्येक चीज़ जगह पर रखना सीखना चाहिए ताकि वह स्वयं और अन्य जन भी उन चीज़ों को आवश्यकता पड़ने पर आसानी से पा सकें। उसकी यह आदत पड़नी चाहिए कि वह यदि कहीं कूड़ा करता है तो उसे उठाकर फेंके और कमरा साफ़-सुथरा रखे। स्कूल में बालकों के खेल, व्यायाम, नृत्य आदि के लिए पर्याप्त स्थान होना चाहिए। खेल आदि क्रियाओं में सहकारिता और सहयोग से आनन्द मिलता है और इनके अभाव में खेल आदि का आनन्द नष्ट हो जाता है। बालकों को छोटी-छोटी क्यारियाँ दी जानी चाहिए और उन्हें पक्षियों, कीड़े-मकोड़ों और फूलों के निरीक्षण के लिए प्रेरित करना चाहिए। बालक अनजाने ही, स्कूल में सीखी हुई आदतों को घर में व्यवहृत करेगा और इस प्रकार घर और स्कूल में परस्पर प्रतिक्रिया होगी।

इस बात की विशेष सावधानी बरतनी चाहिए कि बच्चा थके नहीं, उसके खाने-पीने की अच्छी व्यवस्था हो, और उसमें कोई बुरी आदत न पड़ जाय। इस काल में बालक में अनुकरण करने की अधिक प्रवृत्ति होती है, अतः अध्यापक के पद पर उन्हीं व्यक्तियों को नियुक्त करना चाहिए जो सुन्दर चरित्र और व्यवहार के हों। इस समय और द्वितीय काल में भी बालक की ग्रहणशीलता तीव्र होती है, अतः वातावरण को शुद्ध होना चाहिए ताकि बालक में शुभ चरित्र की नींव पड़े।

द्वितीय काल—संवेगों के प्रशिक्षण का समय

(लोअर सेकेंडरी स्कूल—कक्षाएँ २, ३ और ४; अवस्था—७ से १० वर्ष तक)

धार्मिक शिक्षा

जीवन-पक्ष : बच्चों को ईश्वर के प्रति पिता के रूप में श्रद्धा रखनी चाहिए तथा धार्मिक कहानियाँ, श्लोक और भजन सीखने चाहिए।

राजनीतिपक्ष : ईश्वर को पिता के रूप में स्वीकार करने का अर्थ है कि हम सब प्राणी भाई भाई हैं। अतः सबकी सहायता करनी चाहिए। यह विचार बालक के अंदर धार्मिक और उदार व्यक्तियों के जीवन पर आधारित कहानियों द्वारा प्रवेश कराना चाहिए।

बौद्धिक शिक्षा

जीवन-पक्ष : मातृभाषा का ज्ञान, पढ़ने और निबंध द्वारा कराना चाहिए। निबंध के संबंध में अध्यापक को चाहिए कि वह कहानी सुनाए, और बालक उस कहानी को लिखे। छोटी-छोटी चीज़ों का निरीक्षण आदि भी इस दिशा में सहायता पहुँचा सकता है। संस्कृत, पाली या अरबी का प्रारंभिक ज्ञान कराना चाहिए। इन भाषाओं को आधुनिक नवीन पद्धतियों के आधार पर पढ़ाना चाहिए। अंग्रेजी का ज्ञान कहानी कहकर व बात-चीत द्वारा कराना चाहिए। प्रकृति-अध्ययन—पौधों और पशुओं के जीवन के अध्ययन द्वारा, निरीक्षण और प्रयोग द्वारा होना चाहिए। इतिहास और भूगोल—चित्र और कहानियों द्वारा, नक़शों और मॉडल द्वारा (आरंभ में स्कूल का आहाता, सड़क आदि बनवाकर) कराना चाहिए। गणित—आरंभ में सरल प्रश्न, भारतीय सिक्कों का ज्ञान, सरल ज्यामिति और नापना सिखाना चाहिए। इस काल में चित्र और मॉडल का बहुलता के साथ प्रयोग करना चाहिए। ध्यान रहे कि ये अच्छे हों ताकि बालक में रंग, रूप और सुन्दरता के ज्ञान का विकास हो।

राजनीति-पक्ष : भाषा पढ़ाते समय सामान्य भाषाओं की एक दूसरे पर निर्भरता इंगित करनी चाहिए। मातृभूमि की सेवा के निमित्त अपने समीप वालों के प्रति कर्त्तव्य जानना चाहिए।

नैतिक शिक्षा

जीवन-पक्ष : सत्य, धैर्य, भक्ति, साहस आदि संबंधी कहानियाँ सिखानी चाहिए।

राजनीति-पक्ष : बालक को अपने चारों ओर घर के बाहर भी कुटुम्ब की भावना रखने को उत्साहित करना चाहिये। आत्म-त्याग, बड़ों, बराबर वालों और छोटों के प्रति कर्त्तव्य, पशुओं और पेड़ों के प्रति दयालुता के भाव, कहानियों द्वारा जागृत करने चाहिए।

देश प्रेम, देश सम्मान का भाव उन भारतीयों की कहानी सुनाकर, जगाना चाहिए जिन्होंने साहित्य, कला, विज्ञान, युद्ध और सामाजिक-सेवा के क्षेत्र में गौरव प्राप्त किया है। सेवा-भाव को भी उदाहरण देकर उत्तेजित करना चाहिए।

शारीरिक शिक्षा

जीवन-पक्ष : शारीरिक स्वच्छता, स्वस्थ शरीर से लाभ, आत्म-संयम, नियमित जीवन क्रोध, ईर्ष्या और अन्य उद्वेगों का स्वास्थ्य पर प्रभाव, चित्र का मॉडल वनाना, व्यायाम, प्राणायाम, हस्तकला का प्रारंभिक ज्ञान कराना चाहिए।

राजनीति-पक्ष : संगीत के साथ सब बच्चों को मिलकर व्यायाम, क़वायद और सहकारी खेल कराना चाहिए। अपने ज्ञान तथा कौशल द्वारा अनभिज्ञ और पिछड़े हुओं के प्रति कर्तव्य और सहायता में प्रसन्न होना सीखना चाहिए।

(हायर सेकेंडरी स्कूल—कक्षाएँ, ५, ६, ७ और ८; अवस्था—१० से १४ वर्ष तक)

धार्मिक शिक्षा

जीवन-पक्ष : बालक को उसके धार्मिक सिद्धांतों की रूप-रेखा कहानियों द्वारा दी जानी चहिए।

राजनीति-पक्ष : सब धर्मों की मूलभूत एकता और अंधविश्वास, असहिष्णुता आदि के कारण क्लेश, दुःख और पीड़ा की ओर बालक का ध्यान आकृष्ट करना चाहिए।

बौद्धिक शिक्षा

जीवन-पक्ष : साहित्यिक और बोल चाल संबंधी मातृ-भाषा की उच्च शिक्षा देनी चाहिए। संस्कृत, पाली या अरबी पढ़ाई जानी चाहिए। अँग्रेज़ी का ज्ञान वर्तमान काल की सरल कहानियों द्वारा जिसमें बातचीत (Dialogues) की अधिकता हो, पत्र लिखने के द्वारा, वर्तमान काल के अच्छे लेखकों के संग्रह को नक़ल करने के द्वारा देना चाहिए। प्रकृति-अध्ययन (Nature Study) कराना चाहिए जिसमें मानव-शरीर-रचना-शास्त्र, शरीर-विज्ञान, पेड़ों के भाग और वृद्धि का ज्ञान सम्मिलित हैं। भौतिक भूगोल (प्रारंभिक भौतिक और रसायन-शास्त्र) का ज्ञान देना चाहिए। भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भूगोल जिसके अंतर्गत भारतीय राजनीतिक, आर्थिक और व्यवसायिक भूगोल आ जाते हैं, सिखाना चाहिए। इतिहास में चंद्रगुप्त प्रथम, द्वितीय तथा मुग़ल आदि के विभिन्न समय के भारतीय जीवन से परिचित कराना चाहिए। संसार के भूगोल की रूप-रेखा, गणित का उच्च ज्ञान, ज्यामिति और बीजगणित का प्रारंभिक ज्ञान कराना चाहिए।

राजनीति-पक्ष : बौद्धिक प्रशिक्षण के द्वारा जाति की एकता की भावना को स्पष्ट करना चाहिए। राजनीति, आर्थिक और व्यावसायिक दशा पर बल देना चाहिए तथा इन कक्षाओं के विद्यार्थियों को अपने से नीची कक्षाओं के विद्यार्थियों की सहायता करनी और पढ़ाना चाहिए।

नैतिक शिक्षा

जीवन-पक्ष : नैतिक गुणों की शिक्षा देनी चाहिए ताकि बालक एक सद्गुण वाला व्यक्ति बने।

राजनीति-पक्ष : अच्छे नागरिक शिक्षा के लिए, नागरिक-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र के अध्ययन का प्रारंभ कराना चाहिए।

शारीरिक शिक्षा

जीवन-पक्ष : पेड़-पौधे, पशु और मनुष्य का योनि संबंधी ज्ञान (Physiology of sex) कराना चाहिए। वैयक्तिक और सामाजिक स्तर पर विद्यार्थियों को ब्रह्मचर्य का पालन कराना चाहिए। किशोरावस्था से युवावस्था प्राप्त करने के समय जो दोष एक बालक में आ सकते हैं, उनके प्रति चेतावनी देनी चाहिए। शरीर के मांसपेशियों को कसरत, व्यायाम, दौड़-भाग द्वारा बलिष्ठ कराना चाहिए। भारतीय व्यायामों को नित्य कराना चाहिए। बढ़ईगीरी, डलिया बनाना और इनसे संबंधित, औज़ारों का प्रयोग करना सिखाना चाहिए। प्राथमिक चिकित्सा सिखायी जानी चाहिए।

राजनीति पक्ष : लोअर सेकेंडरी में प्राप्त शिक्षा को आगे बढ़ाना चाहिए। अपने शरीर को स्वस्थ रखना मातृभूमि के प्रति मुख्य कर्तव्य समझना चाहिए। आत्मसंयम सीखना चाहिए। खेल द्वारा सहयोग, अनुशासन, आज्ञाशीलता आदि गुण और अगुआ बनने के लिए प्रशिक्षण प्राप्त करना चाहिए।

तृतीय काल—मुख्यतः मानसिक शिक्षा का समय

(हाई-स्कूल—कक्षाएँ ९ और १०; अवस्था—१४ से १६ वर्ष तक)

धार्मिक शिक्षा

जीवन-पक्ष : बालक को अपने धार्मिक सिद्धांतों की पूर्ण रूप से शिक्षा दी जानी चाहिए।

राजनीति-पक्ष : सब धर्मों के लिए आदर का भाव, प्रत्येक धर्म का अपना महत्त्व और उनका भारत में सहसंबंध का ज्ञान होना चाहिए।

मानसिक शिक्षा

इस समय मानसिक शिक्षा की रूपरेखा उसी प्रकार की होगी जिस प्रकार का जीवन बालक बाद में चलकर व्यतीत करना चाहता है। यह विशेष योग्यता का काल है और विभिन्न प्रकार के हाई स्कूलों में बालक उस जीवन-वृत्ति के विभिन्न विषयों का अध्ययन करेगा जिसके लिए कि स्कूल तैयारी कराता है। इसके अतिरिक्त कुछ सामान्य विषय भी होंगे जो सभी हाई स्कूलों में पढ़ाये जायेंगे।

जीवन-पक्ष : सामान्य विषय—मातृभाषा का और उच्च ज्ञान देना चाहिए। अँग्रेज़ी का ज्ञान निबंध व उच्च श्रेणी के लेखकों के साहित्यिक गद्य और पद्य के अध्ययन द्वारा कराना चाहिए और पढ़ने और लिखने में उसकी अभिव्यक्ति-शक्ति का विकास होना चाहिए। सामान्य विज्ञान (भौतिक और रसायन शास्त्र का उच्च ज्ञान), प्रयोगात्मक भौतिक भूगोल, शरीर-रचना और शारीरिक विज्ञान का उच्च ज्ञान देना चाहिए। प्राथमिक चिकित्सा का और विस्तृत ज्ञान, भारतीय इतिहास का उच्च ज्ञान, ऐतिहासिक भूगोल, बीजगणित और ज्यामिति का उच्च ज्ञान, तथा मनोविज्ञान का आरंभिक ज्ञान दिया जाना चाहिए।

विभिन्न प्रकार के हाई स्कूलों में निम्न विशेष विषय पढ़ाये जाने चाहिए :—

(१) सामान्य हाई स्कूल।

(अ) कला-विभाग : संस्कृत, अरबी या पाली। विशेष अध्ययन के लिए पाठ्यक्रम—(१) मातृभाषा (२) अँग्रेज़ी (३) भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भूगोल और ब्रिटिश साम्राज्य का इतिहास।

(ब) विज्ञान-विभाग : संस्कृत, अरबी या पाली। विशेष अध्ययन के लिए पाठ्यक्रम—(१) मातृभाषा (२) अंग्रेज़ी (३) भौतिक विज्ञान, रसायन-शास्त्र आदि (४) बीज गणित और ज्यामिति।

(स) प्रशिक्षण-विभाग : शिक्षाशास्त्र, मनोविज्ञान का उच्च ज्ञान, स्कूल प्रबंध, शारीरिक प्रशिक्षण के सिद्धांत, गृहविज्ञान, यदि संभव हो तो शिक्षण-कला में अभ्यास, प्रकृति-अध्ययन का उच्च ज्ञान।

(२) कॉमर्शियल हाई स्कूल।

व्यवसाय में उपयोगी विदेशी भाषाएँ, व्यावहारिक पत्र, बही खाता, व्यावसायिक गणित तथा नियम, टाइप करना, संक्षिप्त लिपि, व्यावसायिक इतिहास तथा भूगोल। बालिकाओं के लिए भोजन सामग्री जानना तथा भोजन पकाना।

(३) टेकनिकल (प्रौद्यौगिक) हाई स्कूल ।

सामान्य हाई स्कूल के विज्ञान-विभाग के सभी विषय सिवाय संस्कृत, अरबी या पाली । इसके अतिरिक्त (अ) व्यावसायिक इतिहास (ब) आरंभिक इंजीनियरिंग का ज्ञान (स) मेकैनिक्स और (द) इलेक्ट्रिसिटी ।

(४) एग्रीकल्चरल (कृषि) हाई स्कूल ।

सभी सामान्य विषय परंतु ग्राम्य जीवन के दृष्टिकोण से । गणित-शास्त्र जिसमें वही-खाता, भूमि की नाप, क्षेत्रमिति हों । प्रयोगात्मक विज्ञान (भौतिक और रासायनिक) कृषि के दृष्टिकोण से लड़कों के लिए । गृहविज्ञान (लड़कियों के लिए) । मेकैनिक्स का प्रारंभिक ज्ञान विशेषकर कृषि संबंधी मशीनों का । प्रकृति-अध्ययन और बाग़बानी । स्वच्छता और इंजीनियरिंग का प्रारंभिक ज्ञान ।

इन प्रकार के हाई स्कूलों के अतिरिक्त, आर्ट हाई स्कूल इत्यादि भी स्थापित किये जा सकते हैं ।

राजनीति-पक्ष : ये सब विषय केवल व्यक्तिगत दृष्टिकोण से ही नहीं पढ़ाये जाने चाहिए, परंतु राष्ट्र की उन्नति की दृष्टि से भी । सामाजिक विज्ञान के सिद्धांत भी भली प्रकार बालकों को समझना चाहिए ।

नैतिक शिक्षा ।

जीवन-पक्ष : सौंदर्य-शास्त्र का उच्च ज्ञान, सौन्दर्य को परखने की क्षमता आनी चाहिए ।

राजनीति-पक्ष : वीरता के भाव को प्रेरित करना ।

बड़े लड़के जिनमें सच्ची राजनीतिक भावना हो, उन्हें प्रिफ़ेक्ट, मानीटर आदि नियुक्त करना चाहिए ।

शारीरिक शिक्षा ।

जीवन-पक्ष : हस्तकला प्रशिक्षण, दुकानदारी और प्रयोगशाला में कार्य, उन बालकों की शारीरिक शिक्षा का अंग होगा जो विज्ञान और उससे संबंधित विषय पढ़ेंगे । पिछले वर्षों की शिक्षा को इस दिशा में और आगे बढ़ाना चाहिए ।

राजनीति-पक्ष : सेकेंडरी स्तर की शिक्षा का महत्त्व पूर्णरूपेण समझना और प्रयोग करना चाहिए। विद्यार्थियों के नागरिक भाव को अभिव्यक्त एवं जागृत करने के लिए लोक सभाएँ, वितर्क सभाएँ, समाज-सेवा-संघ तथा रात्रि पाठशालाएँ उपयुक्त साधन हैं । जिन विशेष विषयों का बालक अध्ययन कर रहा है उनकी राष्ट्रीय उपयोगिता पर बल देना चाहिए ।

अध्यापक को चाहिए कि प्रत्येक विद्यार्थी के मन में यह भावना भर दे कि हर प्रकार के श्रम का अपना-अपना महत्त्व है।

जीवन-दर्शन पर आधारित शिक्षा-संस्थाएँ

एनी बेसेंट ने धर्म, राजनीति, समाज और शिक्षा के क्षेत्र में विचार-क्रान्ति करने के साथ ही अपने आदर्शों को व्यावहारिक रूप देने का प्रयत्न किया। भारतीय शिक्षादर्श की उन्होंने जो कल्पना की थी उसको जीवित रूप देने के लिए उन्होंने अनेक विद्यालयों को स्थापना की तथा उनके माध्यम से धार्मिक, राजनीतिक एवं सामाजिक उत्थान की नींव को दृढ़ बनाया। ये कार्य स्वयं ही उनकी महानता के प्रतीक तथा युग-युग तक उनके यशः शरीर को अमर रखने में समर्थ हैं।

सेंट्रल हिंदू कालेज, वाराणसी

शिक्षा संबंधी विचारों को व्यवहारिक रूप देने में इस कालेज की स्थापना एनी बेसेंट का पहला मुख्य कार्य है। सन् १८९८ ई० में उन्होंने इसकी स्थापना की। इसमें पहले नवीं और दसवीं कक्षा की पढ़ाई होती थी और इसकी स्थापना हिंदू विचारों और जीवन-प्रणाली को पुनरुत्थापित करके छात्रों को योरोपीय शिक्षा के सर्वोत्तम अंशों को ग्रहण कराके आधुनिक युग के अनुकूल जीवन व्यतीत करने के योग्य बनाने के लिए की गयी। यह कालेज प्रयाग विश्वविद्यालय से संबद्ध किया गया, जिसके कारण क्रमशः इसकी स्वतंत्रता सीमित होती गयी। यही कालेज आगे चलकर बनारस हिंदू विश्वविद्यालय का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गया।

सेंट्रल हिंदू बालिका विद्यालय, वाराणसी

सन् १९०५ ई० में एनी बेसेंट ने इस कालेज की बनारस में स्थापना की। इसका उद्देश्य इस प्रकार निर्धारित किया गया :—

१. सनातनधर्म के अनुकूल धार्मिक और नैतिक शिक्षा देना।
२. साहित्य और विज्ञान के माध्यम से धर्मनिरपेक्ष शिक्षा देना।
३. गृहविज्ञान तथा गृह प्रबंध की शिक्षा देना।
४. कलात्मक और सांस्कृतिक शिक्षा देना।
५. शारीरिक प्रशिक्षण।

उपर्युक्त दोनों विद्यालयों के प्रबंध में भारत के कुछ सुप्रसिद्ध व्यक्तियों को भी रखा गया था। इनमें आज भी निर्धारित उद्देश्यों के पालन की प्रवृत्ति पायी जाती है।

मदनापल्ली ट्रस्ट

दक्षिण में मदनापल्ली कालेज की स्थापना एनी बेसंट के प्रयत्नों से हुई, जो आगे चलकर एक ट्रस्ट के रूप में परिणित हो गया। इस ट्रस्ट के अंतर्गत मदनापल्ली कालेज तथा अन्य चार स्कूलों का संचालन होता है। यह कालेज प्रथम श्रेणी का शिक्षा संस्थान है।

ऋषिवैली ट्रस्ट

थियोसोफ़िकल एजूकेशनल ट्रस्ट तथा ऋषिवेलो ट्रस्ट के अंतर्गत वनारस में चार विद्यालय चल रहे हैं, जिनमें बेसेंट इंटर कालेज, और बेसेंट मेमोरियल हाई स्कूल मुख्य हैं। इन विद्यालयों में एनी बेसेंट के आदर्शों के अनुरूप शिक्षा का आयोजन किया गया है।

सहायक साहित्य

एनी बेसेंट

1. *Man And His Bodies, Theoso phical Manual No. VII*
2. *The School-boy as a Citizen*
3. *Higher Education in India*
4. *Essentials of an Indian Education. Vol. 7*
5. *Principles of Education*
6. *The Besant Spirit, Vol. 2*
7. *Dharma*
8. *Indian Ideals in Education*
9. *Brahma Vidya, Divine wisdom*
10. *A word on man, his Nature and his Powers*
11 *Education as a National Duty*
12. *Education for Indian Girls*
13. *Hindu Ideals*
14. *Education for the New Era*
15. *Education in the Light of Theosophy*
16. *The Wisdom of the Upanisads, Convocation Lecture of 1906*

अन्य लेखक

1. Yudhisthir Kumar : *Annie Besant as an Indian Educator*
2. Bhagwan Das : *Annie Besant and the Changing World*
3. Sri Prakash : *Annie Besant, A Woman and Leader*, 1941
4. Besterman : Mrs. *Annie Besant, A Modern Prophet*, 1934

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

जीवन और कार्य

कालिदास और तुलसी के बाद भारत की महान् कवि परंपरा में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर एक मात्र ऐसे कवि हुए जिन्होंने विश्व जनीन भावों को अपने काव्य के माध्यम से व्यक्त करके विश्व कवि का उच्च स्थान प्राप्त किया। वह प्रतिभा के धनी, भारतीय संस्कृति के महान गायक थे, जिनके गीतों के स्वरों ने देश-काल की सीमाओं को तोड़ कर अपनी व्यापकता, उदारता और रहस्यमयता का परिचय संसार को दिया। उनके काव्य में प्राचीन ऋषियों की तेजस्विता, संतों की सरलता, सूफ़ियों की प्रेम विह्वलता और वैष्णवों का आत्मनिवेदन एक साथ समन्वित रूप में मुखरित हुआ है। यही कारण है कि परतंत्रता के दिनों में भी उन्होंने भारतीय संस्कृति और आत्मा का संदेश सारे जगत को दिया तथा देश के गौरव को पुनः स्थापित किया।

जन्म और बाल्यकाल

रवि ठाकुर का जन्म बंगाल के प्रसिद्ध ठाकुर वंश में सन् १८६१ ई० में कलकत्ते में हुआ था। ठाकुर परिवार अपनी समृद्धि, विद्या कला और संगीत के लिए संपूर्ण बंगाल में विख्यात था। कवि के दादा प्रिंस द्वारिकानाथ ठाकुर और उनके पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ इस परिवार के दो सम्माननीय व्यक्ति थे। प्रिंस द्वारिकानाथ ठाकुर यदि अपनी सम्पत्ति के कारण प्रसिद्ध थे तो महर्षि देवेन्द्रनाथ विद्वत्ता, देशभक्ति, धर्म-प्रियता और साधुता के कारण पूज्य थे। अपने वंश के इन दोनों पुरुषों के गुण कवि को उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुए। रवीन्द्रनाथ अपने कई भाई-बहिनों में सबसे छोटे थे, किंतु आगे चलकर अपने यश से इन्होंने न केवल ठाकुर परिवार, वरन् संपूर्ण देश में अपने को वरेण्य सिद्ध कर दिया।

इतने संपन्न परिवार में जन्म लेने पर भी रवीन्द्रनाथ का पालन-पोषण विलासिता-पूर्वक नहीं हुआ। इन्होंने लिखा है, "हमारे जीवन में भोग-विलास का आयोजन नहीं के बराबर था। कुल मिलाकर तब की जीवन-यात्रा आज से बहुत सीधी-सादी थी।....हम लोग थे नौकरों के ही शासन-अधीन। अपने कर्त्तव्य को सरल करने के लिए उन लोगों ने हमारा हिलना-डुलना एक प्रकार से बंद कर दिया था।....हमारे आहार में शौक़ीनी की गंध भी नहीं थी। कपड़े-लत्ते भी इतने ज़्यादा साधारण थे कि आजकल के लड़कों के सामने उसकी सूची रखने में सम्मानहानि की अशंका होती है। दस साल की उमर के पहले कभी भी किसी दिन किसी कारण से मोज़े नहीं पहने और जाड़े के दिनों में एक सफ़ेद कुरता—कमीज़ पर—और एक सफ़ेद कोट काफ़ी था।"† इस उद्धरण से इनके सादे जीवन का अनुमान किया जा सकता है। नौकरों द्वारा लगाये गये प्रतिबंध के प्रति अपनी प्रतिक्रिया का उल्लेख करते हुए इन्होंने कहा, "उधर, बंधन कितना ही कठिन क्यों न हो, अनादर या अ-लाड़ एक ज़बर्दस्त स्वाधीनता है, और उस स्वाधीनता से हमारे मन मुक्त थे।" अपने बाहर वाले मकान की दूसरी मंज़िल पर दक्षिण-पूर्व कोने के कमरे में नौकरों के बीच इनके दिन कटते थे। नौकरों के कठोर प्रतिबंध तथा बाहर न जाने देने के कारण इनका जीवन एकांत में ही व्यतीत होता था। वह खिड़की से प्रकृति के दृश्यों को देखा करते और उनमें लीन रहते। उनके शब्दों में "खिड़की के नीचे ही एक पक्के घाट वाला तालाब था। उसके पूरब की तरफ़ चहार-दीवारी से सटा हुआ एक बड़ा-भारी चीनी वटवृक्ष था, और दक्षिण की तरफ़ नारियल के पेड़ों की कतार। लकीर-बंधन में बंदी मैं खिड़की की झिलमिली खोल कर प्रायः दिन भर उस तालाब को 'तसवीरों वाली किताब' की भाँति देखता हुआ बिता देता था।"‡ इस एकांत जीवन और प्रकृतिनिरीक्षण का परिणाम यह हुआ कि रवीन्द्रनाथ बचपन से ही गंभीर और चिन्तनशील बन गये।

शिक्षा

अपने भाई और भानजे को स्कूल जाते देखकर रवीन्द्र ने भी पढ़ने जाने के लिए हठ किया। यह हठ पढ़ने के विचार से नहीं वरन् बाहर निकल पाने की अभिलाषा से था। विद्यालय जाने के लिए यह रोने लगे। इस समय का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है, "मेरा मन घर से बाहर निकलने के लिए फड़फड़ा उठा। जो हमारे शिक्षक थे, उन्होंने मेरे मोह का विनाश करने के लिए प्रबल चपेटाघात के साथ एक सारगर्वित वाक्य सुनाया, 'अभी तो स्कूल जाने के लिए रो रहे हो, किसी दिन नहीं जाने के लिए,

---

† रवीन्द्र साहित्य, भाग १८ जीवन-स्मृति : पृष्ठ ८

‡ ,, ,, ,, १०

इससे बहुत ज्यादा रोना पड़ेगा।'....उस दिन का वह गुरु-वाक्य और गुरुतर चपेटाघात आज भी मेरे मानस-पट पर स्पष्ट जागृत है। इतनी बड़ी अव्यर्थ भविष्यवाणी मेरे जीवन में और किसी दिन कर्णगोचर न हुई।"

सर्वप्रथम इन्हें ओरिएंटल सेमेनरी स्कूल में भर्त्ती किया गया, किंतु यहाँ इनका मन नहीं लगा। यहाँ के वातावरण से इनका कोमल मन त्रस्त हो गया। 'पाठ न सुना सकने पर विद्यार्थी को वहाँ बेंच पर खड़ा करके उसके दोनों हाथ पसार कर उन पर कक्षा की बहुत-सी सिलेटें इकट्ठी करके लाद दी जाती थीं।' नौकरों के बीच भी इनकी शिक्षा चलती थी। उन्हीं के बल पर इनकी साहित्य-चर्चा का आरंभ हुआ। चाणक्य के श्लोकों का बंगला अनुवाद और रामायण का पाठ नौकरों के बीच होता था। इस समय रवीन्द्रनाथ की अवस्था सात-आठ वर्ष की थी, किंतु इसी आयु में उनके हृदय में कवित्व का बीजारोपण हो चुका था।

ओरिएंटल सेमेनरी में अधिक दिनों तक इनकी शिक्षा नहीं हुई। उसके बाद यह नार्मल स्कूल में भर्ती किये गये। नार्मल स्कूल में विद्यालय का कार्य आरंभ होने के पूर्व गैलरी में बैठकर सब लड़के सस्वर कविता पाठ करते थे। ऐसी व्यवस्था संभवतः मनोरंजन के लिए की गयी थी। कविता के शब्द और स्वर दोनों अंग्रेज़ी के थे। इस संबंध में उन्होंने लिखा है, "मेरी कुछ समझ में न आता था कि हम क्या मंत्र पढ़ रहे हैं और कौन सा अनुष्ठान कर रहे हैं। प्रतिदिन वही एक अर्थहीन राग अलापना मेरे लिए सुखदायक नहीं था।"† "क्रमशः नार्मल स्कूल की स्मृति जहाँ धुंधली अवस्था पार करके परिस्फुट होने लगती हैं वहाँ किसी भी अंश में वह लेशमात्र मधुर नहीं मालूम होती।"‡ यहाँ लड़कों का संपर्क इतना अशुचि और ऐसा असम्मानप्रद था कि रवीन्द्रनाथ दोपहर का अवकाश का समय नौकर के साथ अकेले में बिताते थे। यहाँ के वातावरण से यह इतना ऊब चुके थे कि मन ही मन सोचते थे कि एक साल, दो साल, तीन साल, और भी, न मालूम कितने साल इस तरह बिताने पड़ेंगे। एक शिक्षक के विषय में इन्होंने लिखा है, "शिक्षकों में एक की बात मुझे याद है, वे ऐसी कुत्सित भाषा का प्रयोग किया करते थे कि उनके प्रति अश्रद्धावश उनके किसी प्रश्न का मैं उत्तर ही नहीं देता था।"* संभवतः बचपन के यही कटु अनुभव इनके मन में जमते गये और फलस्वरूप आगे चल कर इन्होंने आजीवन शिक्षा सुधार के लिए प्रयत्न किया तथा आदर्श शिक्षा संस्था के रूप में 'विश्व-भारती' की स्थापना की।

---

† रवीन्द्र साहित्य, भाग १८. 'जीवन-स्मृति पृष्ठ २३

‡ वही पृष्ठ २४

* वही

रवीन्द्रनाथ की शिक्षा की व्यवस्था स्कूल से अधिक घर पर की गयी थी। समुचित शिक्षा-दीक्षा के लिए घर पर नाना विद्याओं का आयोजन किया गया था। संस्कृत, बंगला, अंग्रेज़ी, चित्रकला, संगीत और तत्वदर्शन आदि की शिक्षा के लिए अलग-अलग अध्यापक नियुक्त थे। ६ बजे प्रातःकाल से लेकर ९ बजे रात तक पढ़ाई का यह क्रम चलता था। अनवरत शिक्षा का यह क्रम कितना कठिन और अरुचिकर रहा होगा, इसकी कल्पना की जा सकती है।

यज्ञोपवीत एवं देश-भ्रमण

बारह वर्ष को अवस्था में रवीन्द्रनाथ का यज्ञोपवीत संस्कार विधिपूर्वक हुआ। इसी वर्ष इनके पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ देश-भ्रमण के लिए निकले और इन्हें अपने साथ लेते गये। कवि के जीवन पर इस यात्रा का बड़ा प्रभाव पड़ा और इसने इनकी काव्य-प्रतिभा को विशेष प्रेरणा प्रदान की। प्रयाग, कानपुर, अमृतसर आदि स्थानों की यात्रा करते हुए यह डलहौज़ी गये। डलहौज़ी की पर्वतीय छटा को देखकर रवीन्द्रनाथ मुग्ध हो गये। इस यात्रा में इनके पिता ने इनको शिक्षा-दीक्षा का भी ध्यान रखा। वह इन्हें अंग्रेज़ी, संस्कृत आदि की शिक्षा स्वयं देते थे। डलहौज़ी में कवि ने मुक्त रूप से पर्वत को घाटियों और चोटियों का भ्रमण किया। यह अवसर इनके जीवन का प्रथम सुखद एवं स्वच्छंद काल था।

विदेश यात्रा

रवीन्द्रनाथ के मँझले भाई श्री सत्येन्द्रनाथ अहमदाबाद में जज थे। उनकी पत्नी ज्ञानदानन्दिनी अपने बच्चों के साथ इंगलैंड में थीं। सन् १८७८ ई० में सत्येन्द्रनाथ को भी इंगलैंड जाना था, अतः वह रवीन्द्रनाथ को उच्च शिक्षा के लिए अपने साथ लेते गये। इस समय इनकी अवस्था सत्रह साल की थी। छः महीने तक भाई के साथ अहमदाबाद और बंबई में रहने के उपरांत वह इंगलैंड रवाना हो गये। वहाँ ब्राइटन के पब्लिक स्कूल में यह भर्त्ती हो गये। इस स्कूल में यह बहुत दिन नहीं रह सके। इसमें स्कूल का कोई दोष नहीं था। उन दिनों तारकनाथ पालित लंदन में थे। उन्होंने रवीन्द्रनाथ को लंदन बुला लिया। लंदन में, एक मकान में रवीन्द्रनाथ अकेले रहते थे और हारमोनियम पर स्वर-साधना करते थे तथा एक अध्यापक से लैटिन की शिक्षा प्राप्त करते थे। इस शिक्षा सें कुछ सीखने का अवसर इन्हें न मिल सका। तत्पश्चात् यह वर्कर नामक एक अध्यापक से शिक्षा लेने लगे, किंतु कुछ समय बाद अपनी भाभी का बुलावा पाकर टौर्की नामक स्थान को चले गये। सारांश यह कि विद्यालय की शिक्षा के नाम पर रवीन्द्रनाथ के हाथ कुछ भी नहीं लगा। हाँ, वहाँ भी यह काव्य-रचना और अंग्रेज़ी साहित्य के अध्ययन में दत्तचित्त रहे। सन् १८८० ई० में यह पुनः स्वदेश

लौट आये । क़ानून की शिक्षा प्राप्त करने के ध्येय से रवीन्द्रनाथ सन् १८८१ ई० में पुनः इंगलैंड गये, किंतु वहां जाकर इनका विचार परिवर्तित हो गया और वह फिर भारत चले आये ।

गार्हस्थ्य जीवन

अब रवीन्द्रनाथ का विवाह हो गया और इनके पिता ने ज़मींदारी की देखभाल तथा व्यवस्था का भार इन्हें सौंपा । यद्यपि रवीन्द्रनाथ बड़े ज़मींदार के पुत्र थे, फिर भी अपनी प्रजा के साथ उनका व्यवहार बड़ा सुन्दर था । किसानों के कष्टों को दूर करने के लिए वह उपाय सोचा करते थे । उनका कहना था कि 'इन असहाय, दुखी और सरल किसानों तथा मज़दूरों को अपना भाई समझने में मुझे सुख प्राप्त होता है ।' प्रजा का कष्ट निवारण करते हुए इन्होंने ज़मींदारी की उन्नति और सुव्यवस्था की । ज़मींदारी के कार्यों में व्यस्त होते हुए भी यह काव्य-रचना और साहित्य-साधन में लगे रहे । समय के साथ-साथ इनकी कल्पना प्रौढ़ होती गयी और इनकी रचनाएँ साहित्य के सम्मुख उपस्थित होती रहीं । ज़मींदारी के कार्यों में यह कई वर्षों तक लगे रहे । इसी बीच इनकी पत्नी, पुत्री और सबसे छोटे पुत्र का देहांत हो गया । यद्यपि इन दुःखद घटनाओं का कवि के जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा, तथापि इन्होंने अपने को संयमित रखा और अपने को परोपकार आदि के कार्यों में व्यस्त रख कर शोक को विस्मृत करने का प्रयत्न किया ।

इन दिनों की अपनी अनुभूतियों की चर्चा करते हुए कवि ने लिखा है,....'इतने में न जाने कहाँ से इस मृत्यु ने आकर अत्यन्त प्रत्यक्ष जीवन के एक प्रांत में क्षणभर में दरार कर दी; और तब सहसा मैं कैसा हक्का-बक्का-सा हो गया । सोचने लगा, यह क्या ! यह कैसा गोरखधंधा !'....'फिर भी, इस दुःसह दुःख के भीतर से मेरे मन में एक आकस्मिक आनन्द की हवा बहने लगी । इससे मुझे बड़ा आश्चर्य होता । जीवन बिल्कुल अविचलित निश्चित नहीं, इस दुःख के संवाद से भी मन का भार हलका हो गया ।'

शन्तिनिकेतन की स्थापना

बोलपुर के समीप रवीन्द्रनाथ के पिता ने थोड़ी ज़मीन खरीदी थी और वहीं एक छोटा-सा मकान भी बनवाया था । यह स्थान उन्हें बड़ा प्रिय था । इस मकान का नामकरण उन्होंने 'शांतिनिकेतन' किया था । सन् १९०१ ई० में कवि ने यहाँ एक स्कूल खोला और स्वयं भी इसमें शिक्षक का कार्य करने लगे । अपने शिक्षा-काल में उन्हें विद्यालयों की शिक्षा का जो कटु अनुभव हुआ था और शिक्षा के विषय में उनकी जो धारणा बन गई थी उसी आधार पर उन्होंने इस स्कूल में शिक्षा की योजना कार्यान्वित की । इन्होंने बालकों को पूर्ण स्वतंत्रता देकर यहाँ शिक्षा के क्षेत्र में एक नवीन प्रयोग आरंभ किया । शिक्षा के विभिन्न अंगों के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था यहाँ की गयी जिसमें

विभिन्न देशों के अध्यापक आये। उदारता और विभिन्न संस्कृतियों के संगम-स्थल के रूप में शांतिनिकेतन दिन प्रति दिन उन्नति करता गया और 'विश्वभारती' के रूप में वह आज शिक्षा की अद्वितीय संस्था के रूप में वर्त्तमान है।

राजनीति के क्षेत्र में

रवीन्द्रनाथ राजनीतिक व्यक्ति नहीं थे, सक्रिय राजनीति में उन्होंने विशेष भाग नहीं लिया, किन्तु देशभक्त थे और देशसेवा करने का उनका अपना ढंग था। वह राजनीति के प्रवक्ता नहीं थे, किन्तु उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा देश में जागरण उत्पन्न किया। आज से कितनी वर्षों पूर्व उन्होंने जो गीत लिखा वह आज हमारा राष्ट्रीय गान है। शांतिनिकेतन का कार्य करते हुए उन्होंने राजनीति में भी रुचि ली। ग्रामसुधार और हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की ओर उन्होंने सदैव ध्यान दिया। वंग-भंग के दिनों में, जब पूरे बंगाल और समस्त देश में विदेशी शासन के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हो रही थी, तब उन्होंने सक्रिय राजनीति में भी भाग लिया। उन्होंने स्वदेशी आंदोलन में भी भाग लिया और देश की जनता को प्रोत्साहित किया। सन् १९१९ ई० में जब जनरल डायर ने जलियाँवाला बाग़ में पंजाब के निरीह प्राणियों पर अमानुषिक अत्याचार किया तब इस अत्याचार से रवीन्द्र का हृदय कांप उठा। उन्होंने अंग्रेज़ी सरकार के इस कुकृत्य के विरोध में सरकार द्वारा प्रदत्त 'सर' की उपाधि को वापस कर दिया। गांधी जी और गुरुदेव में मैत्री थी और वे दोनों सत्य एवं अहिंसा में विश्वास करते थे, किन्तु खादी के प्रश्न पर वह गाँधी जी से मतैक्य स्थापित न कर सके। खादी के विषय में किया गया गांधी-रवीन्द्र पत्रव्यवहार बड़ा प्रसिद्ध है और उसके पढ़ने से दोनों के विचारों का पूरा ज्ञान होता है।

पुरस्कार और उपाधियाँ

महान् कवि और साहित्यकार के रूप में रवीन्द्रनाथ की ख्याति देश की सीमाओं का अतिक्रमण करके विदेशों में धीरे-धीरे फैलने लगी। विश्व के अन्य साहित्यकार उनकी रचनाओं की ओर आकर्षित हुए और अन्य देशों में उनके प्रशंसकों की संख्या बढ़ने लगी। शांतिनिकेतन का कार्य करते हुए उन्होंने 'गीतांजलि' और 'साधना' की रचना की। 'गीतांजलि' की बँगला रचनाओं को उन्होंने अंग्रेजी में अनुवाद किया। सन् १९१२ ई० में रवीन्द्र पुनः इंगलैंड गये। वहाँ सुप्रसिद्ध चित्रकार राटेन्स्टाइन तथा कवि यीट्स आदि से इनका संपर्क हुआ। उन्होंने 'गीतांजलि' को पढ़ा और उसके महत्त्व को समझा। सन् १९१३ ई० में ५० वर्ष की अवस्था में कवि को 'गीतांजलि' पर 'नोबेल पुरस्कार' प्राप्त हुआ। पुरस्कार का सारा धन कवि ने शांतिनिकेतन की उन्नति में लगा दिया। तत्पश्चात् कलकत्ता विश्वविद्यालय ने इन्हें डी० लिट्० की उपाधि तथा सन् १९१४ ई० में भारत सरकार ने 'सर' की उपाधि से विभूषित किया। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कवि ने सन् १९१९ ई० में 'सर' की उपाधि लौटा दी।

दिग्विजय

रवीन्द्र ने संसार के जितने देशों का भ्रमण किया और उन्होंने जो सम्मान प्राप्त किया वह संसार के विरले व्यक्तियों को ही मिला होगा। एक ही बार नहीं कई बार सारे विश्व का परिभ्रमण किया और विश्व को भारतीय प्रेम और सौहार्द्र का संदेश दिया। सन् १९२० ई० में वह पुनः योरोप और अमेरिका गये। दोनों महाद्वीपों में इनका अभूतपूर्व स्वागत हुआ। डेनमार्क की राजधानी कोपेनहेगेन में वहाँ के छात्रों ने इनके सम्मान में दीपोत्सव मनाया तथा जुलूस निकाला। स्वीडेन में इनका सम्मान हुआ और जर्मनी की राजधानी बर्लिन में, विश्वविद्यालय से भाषण देकर जब यह बाहर आये तो लगभग पन्द्रह हज़ार सुशिक्षित व्यक्ति इनके सम्मान में बाहर खड़े थे, जिन्हें हाल में खड़े होने का सुयोग नहीं मिल सका था।

योरोप परिभ्रमण के पश्चात् इन्होंने एशियाई देशों की यात्रा की। बर्मा, मलाया, जावा आदि देशों की यात्रा करते हुए यह चीन गये। चीन में कवि का हार्दिक स्वागत हुआ। इसी यात्रा में वह जापान, बाली और कंबोडिया भी गये। उन्होंने मध्यपूर्व के देशों की भी यात्रा की और इस प्रकार सारे विश्व में भारत की प्रतिभा का उज्ज्वल प्रकाश विकीर्ण किया।

सन् १९२८ ई० में ऑक्सफ़र्ड विश्वविद्यालय ने उन्हें 'हिबर्ट व्याख्यानमाला' में दर्शन के ऊपर व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया। यह स्मरण रखने की बात है कि इसके पूर्व इस व्याख्यानमाला में किसी अन्य भारतीय को आमंत्रित नहीं किया गया था। ऑक्स-फ़र्ड में व्याख्यान देकर कवि ने अपनी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया।

सन् १९३० ई० में कवि ने रूस की यात्रा की। यह वहाँ की व्यवस्था से बड़े प्रभावित हुए। रूस के साम्यवादी शासन के विषय में कवि ने अपने मित्रों को बहुत से पत्र लिखे जो बाद में संग्रह के रूप में 'रूस की चिट्ठी' के नाम से प्रकाशित हुए। रवीन्द्र ने वहाँ कई भाषण दिये और अपनी रचनाएँ पढ़कर सुनायीं।

रचनाएँ

रवीन्द्रनाथ प्रतिभा के मूर्त रूप थे। उन्होंने अपनी लेखनी से साहित्य के विभिन्न अंगों की पुष्टि की और नवीन रचनाओं से साहित्य कोष को संपन्न बनाया। काव्य, नाटक, कहानी, आलोचना, बाल-साहित्य और चित्रकला आदि सभी विषयों पर रचनाएँ कीं और इन सभी क्षेत्रों में उन्हें अद्वितीय सफलता प्राप्त हुई। अपने जीवन के अंत तक कवि कर्म में व्यस्त रहे। 'संध्यासंगीत' 'प्रभात संगीत' 'प्रकृति प्रतिशोध' 'कल्पना' 'सिंधु' 'मानसी' 'सोनारतारी' 'मालिनी' 'गीतांजलि' 'लिपिका' और 'मुकुटधर' आदि रवीन्द्र के प्रसिद्ध ग्रंथ हैं।

रवीन्द्र ने वैष्णव भक्तों की भाँति पदों की रचना की जिनमें उन्होंने अपने हृदय की समस्त निरीहता, कोमलता, विनय और करुणा को उँडेल दिया है। उन्होंने न केवल सुशिक्षित एवं साहित्यिक व्यक्तियों के लिए लिखा, वरन् बच्चों के लिए भी बालोपयोगी साहित्य की रचना की क्योंकि बालकों की शिक्षा की ओर उनका विशेष ध्यान था। रवीन्द्रनाथ ने संगीत और कला में नई शैली का प्रवर्त्तन किया। इस शैली में सरलता, सरसता और आधुनिकता है। यद्यपि बाल्यावस्था में उन्हें चित्रकला की शिक्षा मिली थी, तथापि अपने जीवन में वह इस ओर विशेष ध्यान नहीं दे सके थे। एकाएक सत्तर वर्ष की अवस्था में उन्होंने चित्रकला की ओर रुचि प्रदर्शित की। इनके बनाये हुए अनेक चित्र हैं जिनको देखने से इनकी कला-कुशलता का परिचय मिलता है।

जीवन के अंतिम वर्ष और प्रस्थान

सन् १९३१ ई० में कवि ने सत्तर वर्ष की अवस्था पूरी की। इस अवसर पर कलकत्ता में एक विशाल महोत्सव मनाया गया, जिसका कार्यक्रम कई दिनों तक चलता रहा। इसी बीच गाँधीजी गिरफ़्तार कर लिये गये। इस संवाद से कवि को बड़ा कष्ट हुआ और उन्होंने उत्सव को बंद करा दिया। अंग्रेज़ों के दमन का चक्र तीव्रता के साथ चलने लगा। देश के नेता बंदी बनाये जाने लगे। सन् १९३२ ई० में यरवदा जेल में गाँधीजी ने अनशन प्रारंभ कर दिया, जब उनके आमरण अनशन का उन्नीसवाँ दिन हो गया, तो कवि को चिंता हुई। वह यरवदा जेल पहुँचे और इक्कीसवें दिन उन्होंने अपने सामने गाँधीजी का अनशन तुड़वाया। सन् १९४० ई०में ऑक्सफ़र्ड विश्वविद्यालय ने कवि को डी० लिट्० की उपाधि दी। इसी वर्ष कवि के मित्र और सहयोगी सी० एफ़० ऐण्ड्रूज़ का देहांत हो गया। इनके देहांत से कवि शोकातुर हो गये। उसी साल कवि बहुत अस्वस्थ हो गये। वह बीमार रहने लगे और अंत में सात अगस्त सन् १९४१ ई० को उन्होंने इस संसार से महाप्रस्थान किया।

जीवन-दर्शन

रवीन्द्रनाथ ठाकुर मूलतः कवि थे। उन्होंने कला के कुटीर में आत्म-प्रकाश का दर्शन किया और इस प्रकाश को अपनी वाणी के माध्यम से सारे विश्व में फैलाया। उन्होंने पाश्चात्य जगत् को भारत की आत्मा का संदेश दिया, पूर्व के ज्ञान और आत्मबोध से उन्हें परिचित कराया। इस दृष्टि से वह एशिया की आत्मा के सबसे बड़े संदेशवाहक थे। अपने वंशगत उत्तराधिकार और वातावरण के प्रभाव से उनकी प्रतिभा का सर्वतोन्मुखी विकास हुआ। साहित्य, दर्शन, कला और संगीत आदि में उन्होंने अपने व्यक्तित्व को प्रस्फुटित किया। इतना ही नहीं उन्होंने अपनी तूलिका की नोंक में एकतारे की झंकार भरी और प्रतिभा की इसी पूर्णता के कारण वह 'विश्वकवि' और 'गुरुदेव' के नाम से संसार में पूज्य हुए।

उनकी कविता में विचारों की गंभीरता है और उससे प्राप्त होने वाला आनंद, हमारी ऐंद्रियिक संवेदना को ही जागृत नहीं करता, वरन् हृदय को भी प्रभावित करता है। वह मानव के सूक्ष्म विचारों के चरम शिखर पर स्थित हैं और उनमें सौंदर्यान्वेषण की जो भावना है वह सत्य के मंदिर तक पहुँचाने में सक्षम है। रवीन्द्रनाथ के विचार में, लक्ष्य की दृष्टि से, काव्य और दर्शन एक ही मंज़िल की ओर यात्रा करने वाले दो पथिक हैं। उनका लक्ष्य एक है, केवल मार्ग भिन्न हैं। यद्यपि रवीन्द्रनाथ काव्य और दर्शन दोनों का लक्ष्य एक मानते हैं, तथापि, यदि हम उनके काव्य में तर्कसंगत और सुव्यवस्थित अध्यात्मदर्शन की खोज करें, तो निराश होना पड़ेगा, क्योंकि उनका दर्शन कवि-कल्पना है, हृदय की वेदना है, अध्यात्म के सिद्धांतों का तर्कयुक्त निरूपण नहीं। संभवतः इसी लिए डा० राधाकृष्णन् ने उनके संबंध में कहा है कि 'रवीन्द्र में दर्शन-पद्धति की अपेक्षा दार्शनिक वातावरण अधिक है।'

रवीन्द्रनाथ ने स्वयं दर्शन-विषयक अपनी मौलिकता का दावा नहीं किया हैं। 'बंगभाषेर लेखक' में उन्होंने स्वीकार किया है कि 'द्वैत और अद्वैत के त्रिवाद में मैं केवल मौन रह सकता हूँ।' उनके इस कथन से सामान्य जन संभवतः यह समझें कि केवल व्यक्तिपूजा की भावना से ही प्रेरित होकर उनके प्रशंसकों ने उन्हें 'गुरुदेव' कहा है, किंतु ऐसा विचार सत्य के निकट नहीं है। तथ्य यह है कि रवीन्द्रनाथ के विश्वास आत्मानुभव पर आधारित हैं। जिस सत्य का उन्होंने साक्षात्कार किया, वह पोथी पढ़ कर नहीं प्राप्त किया गया है, दर्शनशास्त्र के अध्ययन द्वारा अधिगत सत्य नहीं है, वरन् सहज या प्रातिभ ज्ञान द्वारा साक्षात्कृत है। अपने सहज ज्ञान के द्वारा ही उन्होंने सत्य का बोध प्राप्त किया। अतः कवि होने के नाते स्वभावतः उन्होंने इस बौद्धिक द्वंद्व में पड़ना उचित नहीं समझा। किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह द्वैत और अद्वैत संबंधी विचारों से पूर्णतया तटस्थ रहे। उन्होंने अपने चित्रों और काव्य के माध्यम से सत्य की जो अभिव्यक्ति की तथा उनकी कृतियों एवं भाषणों में जो दर्शन-विषयक प्रभूत विचार बिखरे पड़े हैं उनके आधार पर आस्तिक दर्शन की रूप-रेखा निश्चित की जा सकती है।

समन्वयवादी दृष्टिकोण

रवीन्द्रनाथ ने सत्य की उपलब्धि के लिए आत्मानुभव को ही साधन माना और उसी का अनुगमन किया, अतः उन्होंने सत्य के साक्षात्कार में सहायक उन पद्धतियों का प्रतिवाद किया जो मनुष्य के भावात्मक पक्ष की सर्वथा उपेक्षा करती हैं। उनके विचार में अनुभव स्वयं एक महान समन्वयकारी प्रक्रिया है। उसके प्रतिकूल कोरी तर्कवादिता मुख्यतः विश्लेषण-प्रधान है। उन्होंने ब्रह्मसमाज, उपनिषद्, वैष्णव विचारधारा, बौद्ध और ईसाई धर्म के नाना पक्षों और प्रभावों को आत्मसात् किया। इन विरोधी विचारधाराओं के बीच उन्होंने शांति-स्थापन या समन्वय का कार्य किया। उन्होंने किसी एक विचारधारा का पक्ष नहीं लिया क्योंकि उनके विचार में 'विरोधी शक्तियों के बीच संगति

की स्थापना में ही सृष्टि है' और 'संबंध में ही सत्य का मौलिक रूप से निवास है।' इसी समन्वयी दृष्टि से उन्होंने ज्ञान के सभी अंगों को ग्रहण किया और इसी समन्वय की भावना को अपनी रचनाओं में व्यक्त किया।

इस प्रकार दर्शन के क्षेत्र में उन्होंने प्रकृतिवाद तथा विश्ववाद, मानववाद तथा प्रपत्ति और अंतस्थ एवं परस्थ के छोरों को निकट लाने का प्रयत्न किया है। रवीन्द्रनाथ ने जीवन के आनंद में विश्वास रखते हुए भी अपने नीतिशास्त्र में 'सुखवाद' का विरोध किया है क्योंकि उन्होंने 'आनंद' को 'सुख' से श्रेष्ठ माना है। उन्होंने व्यष्टि और समष्टि स्वतंत्रता और नियतिवाद तथा तपस्या एवं अहंसंबधी आदर्शों में संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया है। उनके सौंदर्य-सिद्धांत में प्रमाण (External Harmony) और लावण्य (Internal Harmony) को उचित स्थान प्राप्त है। उन्होंने इसी औचित्य को ध्यान में रखते हुए अपनी रचनाओं में मानव और देवता दोनों की अभिव्यक्ति की है, अपनी कला द्वारा रोमांटिक तथा यथार्थवादी, दोनों आदर्शों की तुष्टि की है। सच्चे दार्शनिक की भाँति उन्होंने स्वीकार किया है कि सत्य को ग्रहण करना कठिन है, उसकी व्याख्या करना और भी कठिन है तथा किसी सिद्धांत से उसकी तुलना करना सबसे कठिन कार्य है।

अद्वैतः ब्रह्म

रवीन्द्रनाथ प्रेम और मृत्यु में अंतर नहीं मानते हैं, इसीलिए उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा इन दोनों की अभिन्नता को प्रमाणित किया है। प्रेम और मृत्यु की अभिन्नता प्रतिपादित करते हुए उन्होंने कहा है कि जिस प्रकार सच्चे प्रेम में प्रेमी मनुष्य का संपूर्ण व्यक्तित्व प्रियतम में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार अहंकार की मृत्यु से भी मनुष्य का व्यक्तित्व विश्वात्मा में लय हो जाता है। व्यक्तित्व का लय हो जाना दोनों दशाओं में अनिवार्य है, अतः तात्विक दृष्टि से दोनों में कोई अंतर नहीं है, वरन् दोनों लगभग अभिन्न हैं। जिस प्रकार प्रेम के क्षेत्र में किये जाने वाले त्याग में मधुरता होती है, उसी प्रकार 'अहं' की मृत्यु भी 'परमपुरुष' के प्रति भक्ति बन जाती है। उनके ये विचार वैष्णव विचारधारा के सर्वथा अनुकूल हैं, अतः रवीन्द्रनाथ के धर्म को 'वैष्णव अद्वैत' कह सकते हैं क्योंकि वह अपने 'परमपुरुष' को 'अद्वैतम्' कहते हैं।

शंकर ने जिस निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन किया है उसके प्रतिकूल रवीन्द्रनाथ ने कोई तर्कसंगत युक्तियुक्त प्रमाण नहीं दिया है। वह इतना अवश्य कहते हैं कि मनुष्य निर्गुण ब्रह्म की ओर तभी आकर्षित हो सकता है जब उसका मानवीकरण हो जाता है, दूसरे शब्दों में वह निर्गुण ब्रह्म को ही 'परमपुरुष' कहते हैं जो ब्रह्म का मानवीकृत रूप (Humanised form) है। उनके विचार में बहुत कम व्यक्ति ऐसे हैं जो योग-साधना में रुचि लें, योग-मार्ग का अवलंब लेकर ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त करें, अतः साधारण जनों के लिए ईश्वर का मानवीकरण अधिक मान्य है। उन्होंने परमपुरुष को स्वयं-

सिद्ध माना है, उसकी सत्ता को सिद्ध करने के लिए वह किसी प्रकार के प्रमाण देने के पक्ष में नहीं है और न प्राचीन तथा परंपरागत प्रमाणों को उपस्थित करते हैं। उच्च कोटि की आस्तिकता में अनुभव को प्रमाण से कहीं श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है, विशेषतः ईश्वर के संबंध में। रवीन्द्रनाथ का भी यही विचार है कि ब्रह्म के विषय में अथवा उसके अस्तित्व के संबंध में किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार हम प्रकाश के अस्तित्व का अनुभव करते हैं, उसी प्रकार ईश्वर की सत्ता की भी अनुभूति करनी चाहिए। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि रवीन्द्रनाथ जब ब्रह्म की कल्पना 'परमपुरुष' या 'विश्वात्मा' के रूप में करते हैं, उसे व्यक्तित्व प्रदान करते हैं या उसका मानवीकरण करते हैं तो उसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि ब्रह्म मनुष्य के रूप में है। वह उसे मानव की कोटि में नहीं लाते हैं, वरन् उसे उच्च एवं श्रेष्ठ 'उत्स' मानते हैं जिसके लिए मनुष्य प्रयत्न तो करता है, किंतु उसे प्राप्त नहीं कर पाता।

आत्मा का स्वरूप

उपनिषद् ब्रह्म के स्वरूप को तीन भागों में विभक्त करते हैं—'सत्यं' 'ज्ञानं' और 'अनंतं'। इसी आधार पर रवीन्द्रनाथ मानवात्मा के भी तीन रूप निश्चित करते हैं—'मैं हूँ', 'मैं जानता हूँ', और 'मैं व्यक्त करता हूँ'। 'मनुष्य की यही तीन दिशाएँ हैं; और इन तीनों को लेकर एक अखंड सत्य है'। उनके विचार में सत्य के यही तीनों भाव मनुष्य को विविध प्रकार के क्रिया-कलापों की प्रेरणा प्रदान करते हैं। इन तीनों की प्रेरणाओं पर विचार करने से ज्ञात होता है कि 'मैं हूँ' अथवा मुझे अपने अस्तित्व की रक्षा करनी है, इस भावना से प्रेरित होकर ही मनुष्य अपने जीवन-यापन के साधनों को जुटाता है, व्यवसाय, नौकरी या अन्य कार्य करता है जिनसे उसकी 'बने रहने' की आवश्यकताओं की पूर्त्ति होती है। मनुष्य की आत्मा का दूसरा रूप या भाव है—'मैं जानता हूँ'। यही भाव मनुष्य को जिज्ञासु बनाता है जिससे मनुष्य ज्ञान-विज्ञान की ओर उन्मुख होता है। इस जिज्ञासा का उपयोग केवल अपने अस्तित्व की रक्षा के साधनों के जानने के लिए ही नहीं होना चाहिए, वरन् उस परम सत्य को जानने, अपनी ज्ञानमयी प्रकृति के साथ एकाकार होने के लिए भी करना चाहिए। तीसरा भाव है—'मैं व्यक्त करता हूँ'। इसे रवीन्द्रनाथ ने ब्रह्म के अनंतस्वरूप के अंतर्गत माना है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्होंने ब्रह्म के तीनों रूपों के साथ मानवात्मा के भावों को संयुक्त करके देखा है और इसीलिए इन्हें इतना महत्त्वपूर्ण माना है।

रवीन्द्रनाथ कहते हैं कि जब केवल अपने अस्तित्व-रक्षा अथवा 'बने रहने' की भावना की ही प्रबलता मनुष्य में होती है तब वह संकीर्णता, और स्वार्थपरता की ओर अग्रसर होता है। जब वह अपने और अपने वंश को बनाये रखने का ही प्रयत्न करता है, तब वह 'अहं' में पूर्णतया आबद्ध होता है। किंतु जब वह अपने ही भाँति अन्य व्यक्तियों की रक्षा का

अनुभव करने लगता है तब उसका आत्म-विस्तार होता है, उसमें 'अहं' की संकीर्णता नष्ट होती है। दूसरों को भी आत्म-रूप में देखना ही मानवात्मा की महानता है, यही उसका गौरव है। अन्य व्यक्तियों से अपने एकत्व-बोध के लिए मनुष्य अपने को नाना प्रकार से 'व्यक्त' करता है।

एक सच्चे अद्वैतवादी की भाँति रवीन्द्रनाथ का विश्वास है कि 'परमपुरुष' ही एकमात्र सत्य है। सीमित (Finite) पदार्थ या व्यक्ति की कोई पृथक् सत्ता नहीं होती है। जीव का आदर्श है विश्व-आत्मा में अपने निजत्व को पूर्णतया लय कर देना। 'मानव धर्म' में उन्होंने कहा है कि "धर्म हमारे निजत्व की, 'विश्वमानव' (Universal Person), जो स्वयं में मानव भी है, (मेविलयन द्वारा) मुक्ति है।" जब सीमाबद्ध जीव अपने निजत्व को असीम में लय कर देता है तभी वह माया से मुक्ति प्राप्त करता है। यह माया अविद्या से उत्पन्न होती है। इससे छूट कर ही जीव सत्यं, शिवं और अद्वैतम् में लीन होकर मोक्ष प्राप्त करता है। रवीन्द्रनाथ के विचार में वस्तुओं का सत्य ज्ञान एकता के परम सिद्धांत के संबंध में ही जाना जा सकता है। 'क्रिएटिव यूनिटी' में उन्होंने लिखा है, "इस संसार का सत्य क्या है? संसार का सत्य उसके अनेक जड़ पदार्थों में नहीं है, वरन् उनके माध्यम से अभिव्यक्त होने वाली एकता में है। हमारा वस्तुओं का समस्त ज्ञान उन्हें विश्व के संबंध में जानना है—उसके संबंध में जो कि परम सत्य है।" किंतु रवीन्द्रनाथ के विचार में वह परम सत्य संबद्ध-पूर्णता (coherence) के परे है क्योंकि एक अद्वैतवादी की भाँति वह उसकी श्रेष्ठता को संबद्ध-पूर्णता से भी ऊपर स्वीकार करते हैं।

तथ्य और सत्य

रवीन्द्रनाथ ने तथ्य और सत्य के अंतर को स्पष्ट करते हुए कहा है कि ज्ञान के जिस राज्य में हमारा मन विचरण करता है, उसका रूप द्विपक्षीय है। उसका एक पक्ष तथ्य है और दूसरा सत्य। जो कुछ जैसा है, वैसा ही होना तथ्य है और जो वस्तु तथ्य का आधार है, जिस पर तथ्य अवलंबित है वह सत्य है। "मेरा व्यक्ति-रूप है अपने आप में आबद्ध 'मैं'। यह जो तथ्य है, यह है अंधकारवासी। यह स्वयं अपने को प्रकट नहीं कर सकता। इसका परिचय जब भी कोई पूछेगा तो एक बड़े सत्य के माध्यम से, जिस पर यह आधारित है, इसका परिचय देना पड़ेगा। पूछने पर कहना पड़ेगा, 'मैं भारतीय हूँ।' किंतु 'भारतीय' क्या है? वह तो एक अविच्छिन्न वस्तु है, उसे न छुआ जा सकता है, न पकड़ा जा सकता है। किंतु इस व्यापक सत्य के द्वारा ही तथ्य का परिचय होता है। तथ्य खंडित होता है—स्वतंत्र होता है, सत्य में ही वह अपने वृहत् ऐक्य को प्रकाशित करता है। मैं व्यक्तिगत 'मैं'—तथ्य में 'मैं मनुष्य हूँ' इस तथ्य को जब प्रकट करता हूँ, तभी 'विराट एक' के प्रकाश में मैं नित्यता से उद्भासित हो जाता हूँ। तथ्य में सत्य का प्रकाश ही वास्तव में प्रकाश है।" ‡ रवीन्द्र के विचार में सत्य और शोभन का ग्रहण केवल बाहरी दिशा

‡ 'साहित्य के पथ पर' : पृष्ठ ३१,३७

से करने से मनःतृप्ति नहीं होती है। सत्य से प्रेम हुए बिना उसे ग्रहण नहीं किया जा सकता। वैसे तो सत्य से दूर चले जाने पर भी उसके पास लौटा जा सकता है, किंतु सत्य को यदि कृत्रिम शासन की विवशता व अंधरूप मान लिया जाय तो फिर उसके पास लौटने का रास्ता ही बन्द हो जाता है।

जगत् और माया

रवीन्द्रनाथ के विचार में सत्ता के कई स्तर हैं। उनके अनुसार इस दृश्य संसार में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ सत्ता है क्योंकि वह 'परमपुरुष' के अत्यन्त निकट है। उन्होंने जिसे परमपुरुष कहा है वह वास्तव में ब्रह्म (परम सत्य) का मानवीकृत रूप है। यहाँ यह पूछा जा सकता है कि जब मानव 'परमपुरुष' के अत्यंत निकट है, तो उसकी अनुभूति सीमित क्यों है? रवीन्द्रनाथ ने माया या अविद्या को इसका कारण बताया है। यद्यपि वह माया को स्वीकार करते हैं, फिर भी उनके विचार शंकराचार्य से भिन्न हैं। शंकराचार्य के विचार में माया न सत् है और न असत् है, यह अनिर्वचनीय है। रवीन्द्रनाथ माया को दोनों मानते हैं अर्थात् माया 'सत्' और 'असत्' दोनों है। वह उसे एक तात्विक सत्ता के रूप में मानते हैं। रवीन्द्रनाथ वल्लभाचार्य और उनके संप्रदाय की माया-संबंधी मान्यता से भी थोड़ा मतभेद रखते हैं। वल्लभ के अनुसार मनुष्य का ब्रह्म से पृथकता का अनुभव ही माया अथवा अविद्या है। यह पृथकत्व की भावना केवल एक विवर्त्त है। किंतु रवीन्द्रनाथ के लिए माया का अस्तित्व है भी और नहीं भी है। उनके विचार में माया की सत्ता धुएँ के समान है, जो अग्नि को आवृत भी कर लेता है और उसका पूर्वाभास भी देता है। इस प्रकार रवीन्द्रनाथ की माया का सिद्धांत शंकर के सिद्धांत से भिन्न होते हुए वल्लभाचार्य के विचारों से कुछ साम्य रखता है।

रवीन्द्रनाथ ने यद्यपि आध्यात्मिकता पर बल दिया है, तथापि इसका अर्थ यह नहीं है कि वह संसार की वास्तविकता से अन्यमनस्क हैं। उनके विचार में यह संसार न तो बंधन है और न विभ्रम ही है। यह आत्मविकास का अवसर प्रदान करने वाला तथा आत्मबोध का साधन है। यही वह मार्ग है जिसका निर्देश उपनिषद् के ऋषियों ने गीता में किया है। वह जीवन को आनंदमय मानते हैं। उनका कथन है कि जब स्वयं ब्रह्म ने ही सृष्टि-रचना के बंधन को स्वीकार किया है, तब क्या हम इस सांसारिक बंधन को स्वीकार नहीं करेंगे? यदि हमने मांस और चर्ममय शरीर धारण किया है, तो हमें इसके लिए कोई शिकायत नहीं होनी चाहिए। मानवीय संबंध आध्यात्मिक जीवन के स्रोत हैं। ईश्वर 'आसमानी सुल्तान' नहीं है, वह सर्वव्यापी है। प्रत्येक वस्तु में हम उसका दर्शन करते हैं।

ब्रह्म और जगत्

ब्रह्म और जगत् के संबंध में विचार करते हुए रवीन्द्रनाथ इस नानारूपात्मक जगत् में 'एकता' की अभिव्यक्ति का दर्शन करते हैं। उनके मत में यह एकता ही सबको संसार

के विविध रूपों में व्यक्त कर रही है। यही विश्व में संगति की स्थापना करती है। जैसे संगीत के एक ही स्वर को कई लयों में गाया जाता है, किंतु लय का स्वर से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं होता, उसी प्रकार इस नानारूपात्मक संसार का महत्त्व तभी तक है जब तक उसकी विविधता के भीतर 'एकता' की स्थिति है। उनके मत में विश्व के तथाकथित नियम 'विविधता में एकता' के प्रतिबिंब हैं और 'परम एकता ही सारे नियमों का नियम है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उस दशा में जब कि एक बार मनुष्य अपने निजत्व को 'परमपुरुष' में लय कर देता है, तो उसके कर्म-स्वातंत्र्य पर विश्व के नियमों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। रवीन्द्रनाथ की दृष्टि में ऐसा होना संभव है। उनके विचार में कोई भी व्यक्ति अहं का विसर्जन करके प्रेम के माध्यम से ब्रह्म में लीन हो सकता है। इससे भी बढ़कर वह इस बात पर सदैव बल देते हैं कि केवल प्रम द्वारा ही परम सत्य का साक्षात्कार और परम एकता की प्राप्ति की जा सकती है। इस प्रकार प्रेम हमें नियमों के बन्धन से परे होने में सहायता देता है। 'साधना' में उन्होंने कहा है—"जिन्होंने यह जान लिया है कि आनंद की अभिव्यक्ति नियमों के माध्यम से होती है, उन्होंने ही नियमों से परे होना सीख लिया है।"† उनके अनुसार स्वाधीनता का अर्थ नियमों से मुक्ति नहीं है वरन् नियमों को अपने में आत्मसात् कर लेना है। इसी को वह जीवन का सर्वश्रेष्ठ प्रयोजन व सर्वश्रेष्ठ धर्म मानते हैं। हम अपने अनिर्दिष्ट की पूर्ति तभी करते हैं जब अनेकता से एकता के आनंद की ओर और नियमों के बंधन से प्रेम की ओर अग्रसर होकर अपनी सीमाबद्धता को असीम के साथ जोड़ दें। रवीन्द्रनाथ के विचार में 'धर्म' 'रिलीजन' से अधिक गंभीर और अर्थगर्भित शब्द है। धर्म ही सभी वस्तुओं की अंत-प्रकृति, सारतत्व और निहित सत्य है। धर्म जीवन का अंतिम उद्देश्य है जो हम सबके भीतर गतिशील है। जब हम कोई अनुचित कार्य करते हैं तो कहते हैं कि हमसे धर्म-प्रतिकूल कार्य हो गया; तात्पर्य यह है कि अपनी वास्तविक प्रकृति के प्रति झूठा कार्य हुआ। अतः कहा जा सकता है कि 'धर्म' हमारे अनिर्दिष्ट का लक्ष्य है। इस अर्थ में 'परम-पुरुष' ही सीमाबद्ध मनुष्य का धर्म है।

परमपुरुष की अनुभूति का साधन : प्रेम

रवीन्द्रनाथ ने भक्ति-योग द्वारा परम-पुरुष की अनुभूति पर बल दिया है। उनके अनुसार बहुत कम व्यक्ति हैं जो योग-साधन द्वारा ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त करें। साधारण व्यक्तियों के लिए ब्रह्म का मानवीकृत रूप ही ग्राह्य है, अतः वे प्रेम या भक्ति द्वारा ही ईश्वर तक शीघ्र पहुँच सकते हैं। इसके अतिरिक्त भी रवीन्द्रनाथ ने प्रेम को ज्ञान से ऊँचा स्थान दिया है और उसे ब्रह्म की अनुभूति का श्रेष्ठ साधन या मार्ग माना है। 'साधना' में

---

† Tagore : 'Sadhna', p. 119

उन्होंने लिखा है 'कि बुद्धि हमें ज्ञेय वस्तुओं से पृथक् करती है, किंतु प्रेम अपनी विलीनता के द्वारा लक्ष्य को पहचानता है और उससे एकता स्थापित करता है।' प्रेम में विभिन्न अस्तित्व के अंतर्विरोध नष्ट हो जाते हैं। प्रेम में द्वैत और अद्वैत में विरोध नहीं रहता। चेतना के उच्चतम रूप को प्रेम में लीन करके ही हम 'ब्रह्मविहार' की प्राप्ति कर सकते हैं। 'ब्रह्मविहार' को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि पुत्र के प्रति माता का जो प्रेम होता है उसी अपरिमेय प्रेम से विश्व को अपना समझकर देखना ही 'ब्रह्मविहार' है।

उनके विचार में प्रेम ज्ञान की सिद्धि है क्योंकि ज्ञान यदि सत्य है तो उसे 'एकता' का ग्रहण करना आवश्यक है। बुद्धि का कार्य विश्लेषण है और प्रेम का संश्लेषण या समन्वय। बुद्धि विषय और विषयी में भेद करके चलती है, वह दोनों के भेद को भूलती ही नहीं है और जब तक यह द्वैत की भावना वर्त्तमान रहती है तब तक विषय में विषयी का पर्यवसान नहीं हो सकता। अतः विषय और विषयी के भेद को तिरोहित करने के लिए बुद्धि के स्थान पर अंतःज्ञान का सहारा लेना होगा। अंतःज्ञान इस भेद को दूर कर के एकता का आभास प्रदान करता है। ज्ञान के दृष्टिकोण से एकता ग्रहण करने को अंतःज्ञान कहते हैं और उसी को मानव-अनुभव के दृष्टिकोण से प्रेम। रवीन्द्रनाथ के दर्शन का लक्ष्य मानव रूप में 'परमपुरुष' की प्रतीति है, अतः वह उसे प्रेम ही कहते हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं, कि रवीन्द्रनाथ रहस्यवादी हैं, क्योंकि कल्पना की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति से बचने का प्रयास वह नहीं करते; परंतु फिर भी वह नश्वर जगत् के प्रति उदासीन नहीं हैं। उनकी देन यही है कि वह व्यावहारिक जगत् में सक्रिय रुचि और अद्वैत की भावना, दोनों में संगति स्थापित करते हैं। उनके विचार में वैराग्य और ज्ञानमार्ग ही केवल परम सत्य के साक्षात्कार के साधन नहीं हैं। उनका कहना है कि संसार और उसके अनुभवों का त्याग करने के लिए कहना वैसा ही है जैसे शरीर को छोड़ कर कूद पड़ना। हम वैराग्य मार्ग का अनुसरण करके संसार में अंतर्निहित एकता का अनुभव नहीं कर सकते हैं। उन्होंने चेतावनी दी है कि इस प्रकार के कार्य हमें द्वैत की ओर ले जायेंगे। उनके विचार में केवल प्रेम—जो सक्रिय रूप में एकता की प्रतीति कराता है—द्वारा ही हम जीवन के उद्देश्य की प्राप्ति कर सकते है। इस प्रकार रवीन्द्रनाथ ने अपने दर्शन में अद्वैत और वैष्णव भक्ति का समन्वय किया है। ऐसा प्रयत्न केवल रवीन्द्रनाथ ने ही नहीं किया है, किन्तु वल्लभाचार्य ने भी किया है। इसे 'वैष्णव-अद्वैत' कह सकते हैं। रवीन्द्रनाथ और वल्लभाचार्य दोनों के विचार में अद्वैत तर्क और प्रमाण के परे है, अतः दोनों ने ईश्वर को 'परम ऐक्य' माना है और दोनों ने प्रेम को सभी भेदों से परे होने का साधन स्वीकार किया है।

शिक्षा-दर्शन

रवीन्द्रनाथ ने जिस प्रकार जीवन-दर्शन के संबंध में समन्वयकारी अंतर्दृष्टि से विचार किया है, उसी प्रकार उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में भी समन्वय को विशेष महत्त्वपूर्ण माना है। उनके शिक्षा-दर्शन में आदर्शवाद और प्रकृतिवाद, आदर्शवाद और व्यवहार-वाद, व्यक्तिवाद और समाजवाद, राष्ट्रवाद और अंतर्राष्ट्रवाद में यह समन्वयकारी दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। उन्होंने व्यक्ति के जीवन को भी एक समन्वय माना है, अतः शिक्षा के सभी उपक्रमों—लक्ष्य, पाठ्यविषय आदि में यही दृष्टिकोण परिलक्षित है।

जीवन का चरम लक्ष्य

रवीन्द्रनाथ के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य है—'मनुष्य को मनुष्य' बनाना। उनके विचार में, मनुष्य को जो जिस रूप में देखता है, वह उसी के अनुसार शिक्षा का लक्ष्य निर्धारित करता है और लक्ष्य के अनुरूप ही समस्त शिक्षा का आयोजन करता है। मनुष्य को तीन रूपों में देखा जा सकता है, (१) वह एक जीव है, (२) वह एक सामाजिक जीव है और (३) वह आत्मा है। भारतीय आदर्शवादी परंपरा के अनुसार मनुष्य के प्रथम दो रूपों की सार्थकता तीसरे रूप के अंतर्गत रहने में ही है। मनुष्य का वास्तविक रूप आत्मा है।

जीवन की इन विभिन्न स्थितियों को ध्यान में रखते हुए उन्होंने कहा है कि आहार-संग्रह तथा आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति का जहाँ तक प्रश्न है, मनुष्य का जीवन पशु-पक्षियों के समान ही है। किंतु मनुष्य केवल 'जीव' नहीं है वह 'एक सामाजिक जीव है'। मनुष्य की विशिष्टता इस बात में है कि वह केवल आहार-संग्रह और अपनी रक्षा करके ही संतोष का अनुभव नहीं करता, वह समाज के प्रति भी अपने दायित्व को समझता है। वह समाज के अन्य व्यक्तियों के हितार्थ अपने व्यक्तिगत सुखों को तिलांजलि दे सकता है। इसी दृष्टि से मनुष्य पशु-पक्षियों से श्रेष्ठ है। किंतु मनुष्य को केवल 'सामाजिक जीव' कह देने से भी उसके पूर्ण स्वरूप का परिचय नहीं मिलता। कारण, सामाजिकता तो उसके पूर्ण रूप का एक पक्ष है, एक अंग है। मनुष्य का पूर्ण परिचय एवं उसके जीवन की समग्रता का बोध तभी प्राप्त हो सकता है जब हम उसे आत्मा के रूप में देखें। अपने इस रूप में वह समस्त सृष्टि से तद्रूप होता है। भारतीय ऋषियों के आदेश—'आत्मानं विद्धि' अर्थात् आत्मा को जानो—का रवीन्द्रनाथ पूर्णतया समर्थन करते हैं। आत्मा की अनुभूति प्राप्त करने को ही, उन्होंने मानव-जीवन की चरम सिद्धि माना है।

मनुष्य का सामान्य जीवन उसके आदर्श जीवन का अनुगामी होता है। इसी कारण, जहाँ मनुष्य को आहार, निद्रा आदि की मूल प्रवृत्तियाँ उसे सामान्य जीव की भाँति जीवन

व्यतीत करने के लिए प्रेरित करती हैं, वहीं सामाजिक जीवन की प्रेरणा उसे उन पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिए वाध्य करती है। समाज के लिए इसी व्यक्तिगत भूख, प्यास, स्वार्थ आदि के त्याग करने को 'धर्म' कहते हैं। अतः मनुष्य के 'जीव-धर्म' को संयत करके उसे समाज-धर्म के अनुकूल करना ही सामाजिक जीव की शिक्षा का प्रधान कार्य है'। रवीन्द्रनाथ का कथन है कि भारत में मानव के सत्य को, उसके वास्तविक स्वरूप को सामाजिकता तक ही सीमित नहीं माना गया है। यह सत्य समाज-धर्म को पहचानने और उसका अनुसरण करने तक ही सीमित नहीं हैं। इस सत्य की प्राप्ति आत्मा को प्राप्ति अथवा आत्मोपलब्धि है। अतः जीवधर्म और समाज-धर्म दोनों को 'आत्म-उपलब्धि के अनुगत करने की साधना' ही शिक्षा है।

पाश्चात्य सभ्यता और लक्ष्य के संबंध में विचार करते हुए रवीन्द्रनाथ ने कहा है कि पश्चिम ने मनुष्य को किसी स्थान पर लक्ष्य निर्धारित नहीं करने दिया है। कारण, पाश्चात्य सभ्यता का मूल-मंत्र अथवा सारतत्व है 'प्रगति' (Progress)। 'प्रगति' का अर्थ है निरंतर चलते रहना, लक्ष्य तक पहुँचना नहीं; 'शिकार के पीछे दौड़ते रहना, शिकार पाना नहीं।'† अतः जीवन के प्रत्येक कार्य—धनार्जन, ज्ञानार्जन आदि में वहाँ के लोगों का उद्देश्य है निरंतर अग्रसर होना; उनके कार्यों का कोई अंत नहीं हैं क्योंकि उनका कोई निर्दिष्ट लक्ष्य नहीं है। उनके यहाँ जीवन के दो ही भाग देखने में आते हैं—एक शिक्षा ग्रहण करने का और दूसरा संसार में कार्य करने का। इस प्रकार कार्य करते-करते, बिना किसी लक्ष्य की पूर्ति के ही वहाँ लोगों की जीवन-यात्रा सहसा समाप्त हो जाती है। किंतु भारत का जीवन-दर्शन इससे सर्वथा भिन्न है। हमारे जीवन का एक लक्ष्य है और उस लक्ष्य तक पहुँचने में ही जीवन की सार्थकता मानी गयी है। हमारे जीवन का परम लक्ष्य है 'आत्मोपलब्धि'—आत्मा की प्राप्ति; और इसकी प्राप्ति के लिए जीवन को चार भागों में विभाजित किया गया है। प्रथम दो भाग, पाश्चात्य जगत् की तरह शिक्षा ग्रहण करने और संसार में कार्यरत रहने के हैं और अंतिम दो धीरे-धीरे संसार के बंधनों को शिथिल करने और ब्रह्म के साक्षात्कार करने के लिए है। मनुष्य और मनुष्य के लक्ष्य के प्रति ऐसा दृष्टिकोण होने के कारण ही भारतवर्ष अपने धर्म-मार्ग से कभी विपथ नहीं हुआ है, अपनी आस्था पर अडिग रहा है और सनातन सत्य के प्रति अपना अटल विश्वास बनाये रख सका है। हमारे देश में 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' के मंत्र का सतत स्मरण होता रहा है और ब्रह्मानंद को जान कर मनुष्य किसी से भयभीत नहीं रहा। इसी 'ब्रह्म के आनंद,' 'एक' के आनंद को भारत ने जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य माना है और रवीन्द्रनाथ के अनुसार यही शिक्षा का भी चरम लक्ष्य है।

---

† 'Not the game but the chase.

व्यक्तिवाद का आदर्श

रवीन्द्रनाथ मूलतः व्यक्तिवादी हैं और उनके विचार में प्रत्येक मनुष्य को अपने विचारों के अनुसार, अपने ढंग से जीवन को बनाने का अधिकार और स्वतंत्रता है। किंतु उनके इस व्यक्तिवाद का स्वरूप मूलतः भारतीय है, जिसके कारण पाश्चात्य देशों के व्यक्तिवाद की तुलना में इसमें एक विशेषता पायी जाती है। उनके व्यक्तिवाद में मानव-एकता ही नहीं वरन् समग्र सृष्टि—मानव एवं प्रकृति—की एकता को विस्तृत स्थान प्राप्त है। उनके विचार में जगत् की विविधता के बीच इस मौलिक एकता का कारण है हममें से प्रत्येक में सर्वांतर्यामी ब्रह्म की स्थिति। ब्रह्म का अंश होते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे से भिन्न एवं अद्वितीय है। प्रत्येक व्यक्ति के माध्यम से ब्रह्म अपनी अद्वितीय परंतु आंशिक अभिव्यक्ति करता है। प्रत्येक में ब्रह्म की इसी अभिव्यक्ति के कारण व्यक्ति मानव-एकता का बोध करता है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के माध्यम से, पृथक्-पृथक् ढंग से, हम ब्रह्म की पूर्ण अनुभूति का प्रयत्न करते हैं। पुनः प्रकृति में भी ब्रह्म की अभिव्यक्ति के कारण, हम मानव-एकता के साथ-साथ, मानव और प्रकृति के बीच भी एकता का अनुभव करते हैं। इसी एकता के कारण, रवीन्द्रनाथ, वैयक्तिकता के विकास पर अनपेक्षित बल नहीं देते क्योंकि अनपेक्षित बल व्यक्ति के अहंकार को विकृत कर देता है और उसके व्यक्तित्व के विकास में वाधा पहुँचाता है। व्यक्ति का व्यक्तित्व तभी पूर्ण होगा जब वह इसी मौलिक एकता का अनुभव करेगा। इसी अनुभव के आधार पर व्यक्ति वास्तविक स्वतंत्रता का बोध करेगा, अपने सत्य रूप का बोध करेगा। 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' हमारे देश में आरंभ से ही साधना का विषय रहा है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' से व्यक्ति की भौतिक स्वतंत्रता का तात्पर्य नहीं, वरन् उसकी आत्मा की स्वतंत्रता अथवा आत्मा की मुक्ति से है। 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' व्यक्ति समाज के नियम-संयम के बंधन में रहकर ही प्राप्त करेगा। अतः व्यक्ति का समाज के साथ यथार्थ संबंध जानने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य को उसके सत्य रूप में देखा जाय। कारण, मनुष्य को समाज के प्रयोजनवादी दृष्टिकोण से देखने पर उसका वास्तविक व्यक्तित्व हमारी दृष्टि से ओझल हो जायगा। उदाहरण के लिए, यदि हम आम को केवल खटाई की दृष्टि से देखें तो उसे कच्चा तोड़कर, उसके स्वाभाविक विकास में बाधा पहुँचायेंगे और उसका पूरा रूप नहीं देख पायेंगे; यदि वृक्ष को केवल इंधन की दृष्टि से देखें तो उसकी संपूर्ण सुंदरता के बोध से वंचित रहेंगे; इसी प्रकार क्षणिक प्रयोजनों एवं आवश्यकताओं के आधार पर हम व्यक्ति को केवल सैनिक, वणिक, नागरिक, देशभक्त आदि के रूप में ही देख सकेंगे और इन्हीं रूपों में उसकी सार्थकता को आँकेंगे। मनुष्य को इस एकांगी दृष्टि से देखने में भी किंचित् हित है परंतु यदि हम अपनी दृष्टि एकांगी ही रखेंगे तो उससे अंत में अधिक अहित की ही संभावना है क्योंकि हम व्यक्ति का समग्र, पूर्ण एवं सत्य रूप विकसित होते न देख

पायेंगे। इसी एकांगी दृष्टि से बचने के लिए हमारे देश में मनुष्य को सत्य-रूप में देखने पर बल दिया गया है क्योंकि उसकी आत्मा सब प्रकार के प्रयोजनों से बड़ी है। रवीन्द्रनाथ ने चाणक्य के निम्नांकित विचार का समर्थन किया है :—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥

अर्थात् मनुष्य की आत्मा कुल, ग्राम, जनपद और पृथ्वी से भी बड़ी है। रवीन्द्रनाथ के विचार में "मनुष्य की आत्मा को समस्त देशिक और क्षणिक प्रयोजनों से पृथक् करके विशुद्ध और वृहत् रूप में देखना होगा, तभी संसार के समस्त प्रयोजनों के साथ उसके सत्य संबंध और जीवन के क्षेत्र में उसके यथार्थ स्थान का निर्णय करना संभव हो सकता है।"† मनुष्य की आत्मा विशाल है, व्यापक है और उसकी मर्यादा की कहीं सीमा नहीं है, अतः उसकी समाप्ति ब्रह्म में ही है।

रवीन्द्रनाथ कहते हैं कि भारतवर्ष आरम्भ से ही जानता था कि मनुष्य का अंतिम लक्ष्य समाज नहीं है। समाज का निर्माण इसलिए हुआ है कि वह मनुष्य को मुक्ति के मार्ग में अग्रसर कराने का प्रयत्न करे। रवीन्द्रनाथ के विचार में मनुष्य ने जो सभी प्रकार के सामाजिक संगठन बनाए हैं, उनसे यह व्यक्त होता है कि एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के साथ आध्यात्मिक संबंध है। इस आध्यात्मिक संबंध के कारण दूसरे मनुष्यों की कल्याण-कामना से प्रेरित होकर मनुष्य सामाजिक संगठनों का निर्माण करता है। उन्होंने स्वीकार किया है कि समाज और सामाजिक कर्तव्य में ही मनुष्य के व्यक्तित्व की पूर्ति है। उनके व्यक्तिवाद में एकता की भावना निहित है, अतः वह सामाजिक दलों का निर्माण, मनुष्य के आध्यात्मिक महत्त्व के आधार पर करने के पक्ष में है। वह केवल सामाजिक प्रगति के लिए समाज-सेवा को महत्त्व नहीं देते, वरन् व्यक्ति के आध्यात्मिक उत्थान के लिए उसे महत्त्वपूर्ण मानते हैं। अतः व्यक्ति और समाज में विरोध नहीं है। 'व्यक्ति-स्वातंत्र्य' की प्राप्ति के लिए समाज एक अनिवार्य माध्यम है।

रवीन्द्रनाथ सब मनुष्यों में ब्रह्म की अभिव्यक्ति के कारण व्यक्ति को दो रूपों में देखते हैं—प्रथम, वह समाज का एक अंग है। उसका अस्तित्व समाज से परे नहीं है। सब मनुष्यों से आत्मीयता स्थापित करके ही वह ब्रह्म को पाने की चेष्टा कर सकता है। द्वितीय, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के माध्यम से ब्रह्म अपनी आंशिक परन्तु अद्वितीय अभिव्यक्ति करता है, अतः प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से भिन्न है और स्वयं में पूर्ण है। रवीन्द्रनाथ अपनी शिक्षा-पद्धति में व्यक्ति के इन दोनों रूपों में से किसी पक्ष की उपेक्षा नहीं करते। प्रथम पक्ष को, वह जीवन के अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक

†'रवीन्द्र साहित्य,' भाग २५, पृष्ठ ८८

और द्वितीय पक्ष को शिक्षण-पद्धति में अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। प्रत्येक बालक में अपनी व्यक्तिगत विशेषताएँ होती हैं जिन्हें अध्यापक को ढूंढ़ना और विकसित करना है। कारण, इन वैयक्तिक विशेषताओं और क्षमताओं के हनन से बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास न हो सकेगा। यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ सबके लिए समान शिक्षा के सिद्धांत के विरोधी हैं। वह व्यक्तिगत प्रभेदों का वलिदान कर के वाह्य रूप से शिक्षा में समरूपता लाने के पक्ष में नहीं हैं।

राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद

रवीन्द्रनाथ ने जिस प्रकार व्यक्ति और समाज के बीच के विरोध को दूर किया है उसी प्रकार राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता के बीच के विरोध को, 'अनेकता में एकता' के आदर्शवादी सिद्धांत के आधार पर दूर करने की चेष्टा की है। उन्हीं के शब्दों में "यद्यपि मानव-जातियों में प्राकृतिक भेद हैं, जिनकी रक्षा और सम्मान करना चाहिए, तथापि इन भेदों के होते हुए भी हमारी शिक्षा का उद्देश्य मानव-एकता का बोध तथा विरोधों के बीच सत्य की खोज होना चाहिए।"† रवीन्द्रनाथ अन्तर्राष्ट्रवाद की भावना को सही दिशा में विकसित करना चाहते थे। मानव-जाति की एकता और उसके माध्यम से ब्रह्म की अभिव्यक्ति की भावना में ही उनके अन्तर्राष्ट्रवाद का मूल स्रोत निहित है। वह उन सभी प्रयत्नों को किसी भी दशा में स्वीकार नहीं करना चाहते जो सृष्टि में अन्तर्निहित, अविभाज्य मौलिक एकता के बोध में बाधक हैं। यही कारण है कि उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक दलबंदियों के भेद को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। वह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य इसलिए सामाजिक संगठन करता है क्योंकि उसके भीतर दूसरे मनुष्यों से आध्यात्मिक संबंध स्थापित करने की आंतरिक प्रेरणा है। इसके प्रतिकूल राजनीतिक संगठनों के पीछे संकीर्ण एकाकीपन की भावना होती है। यद्यपि वह सामूहिक संस्कृति के महत्त्व को स्वीकार करते हैं, भिर भी राष्ट्रवाद के छद्म-रूप में राजनीतिक गुटबंदी को नहीं मानते। इसीलिए उन्होंने योरोप के संकुचित राष्ट्र-वाद का विरोध किया और अंतर्राष्ट्रीयता में अपना विश्वास प्रकट किया। यह स्पष्ट है कि उनके अंतर्राष्ट्रवाद का आधार आर्थिक व राजनीतिक नहीं है वरन् मौलिक रूप से आध्यात्मिक और मानवतावादी है। मानव-बंधुत्व में उनका दृढ़ विश्वास था। अतः वह अंतःसांस्कृतिक एवं अंतर्जातीय संपर्क को बढ़ाना चाहते थे और इस प्रकार वर्त्तमान युग के चरम लक्ष्य—मानव-जाति की एकता—की पूर्ति करना चाहते थे। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर उन्होंने 'विश्व-भारती' की स्थापना की।

अंतर्राष्ट्रीयता के समर्थक होने के कारण, वह उसकी प्राप्ति के लिए किसी देश को राष्ट्रीयता का बलिदान नहीं चाहते थे। अंतर्राष्ट्रीयता की भावना को आध्यात्मिक

† Tagore : Thoughts on Education, 'The Visva-Bharti Quarterly, Vol. XIII, 1947, p. 7

आधार पर विकसित करने के कारण, वह प्रत्येक राष्ट्र के उत्थान एवं विकास में ही वास्तविक अंतर्राष्ट्रीय उद्देश्य की प्राप्ति मानते हैं। इस संबंध में उनके विचार एक पत्र में मिलते हैं, जिसे उन्होंने शांतिनिकेतन के एक सह-अध्यापक को लिखा था।† इस पत्र में उनका कहना है कि विद्यार्थियों में अपनी मातृभूमि के प्रति प्रेम और सम्मान के भाव विकसित होने चाहिए। उनमें मातृभूमि के प्रति भक्ति और पूजा का भाव इष्ट है। जिस प्रकार माता-पिता में दिव्यता की भावना निहित होती है उसी प्रकार मातृभूमि में दिव्यता का भाव निहित है। यही मातृभूमि हमारे पूर्वजों की जन्मभूमि और शिक्षा का का केन्द्र है। अतः वह भी उतनी ही पूजनीय है जितने माता-पिता। विद्यार्थियों को कभी भी संकुचित दृष्टिकोण से दूसरे देशों की तुलना में मातृभूमि के प्रति घृणा, उपहास, उपेक्षा और अनादर करना नहीं सीखना चाहिए क्योंकि राष्ट्रीय उत्तराधिकार और उसकी विशेषताओं की उपेक्षा करने से स्वतंत्रता की प्राप्ति या रक्षा नहीं हो सकती है। जब हम अपने चरित्र को राष्ट्र की प्रमुख विशेषताओं और महानताओं के अनुकूल पूर्ण बनायेंगे तभी सच्चे अर्थों में विश्वनागरिक के कर्तव्यों का पालन कर सकेंगे। अपनी राष्ट्रीय विशेषताओं की उपेक्षा करके दूसरे राष्ट्रों से मिलना लाभप्रद नहीं होता। इस प्रकार के आत्मघात और आत्मविनाश के द्वारा हमें कुछ भी उपलब्ध नहीं होगा। अपने निजीपन का विनाश करके हम जो कुछ भी प्राप्त करेंगे, वह नगण्य होगा। अतः हमारे लिए यही शुभ है कि हम विस्तृत अर्थों में, व्यापक दृष्टिकोण से अपने राष्ट्रीय मार्ग का अनुगमन करें। विदेशों का अनुकरण हमारे लिए वरदान नहीं होगा।

संगतिपूर्ण विकास

समन्वयवादी दृष्टिकोण होने के कारण, रवीन्द्रनाथ ऐसी शिक्षा में विश्वास करते हैं जो मनुष्य को पूर्ण बनाए। उपनिषदों की परंपरा के अनुसार वह जीवन के दो पक्ष स्वीकार करते हैं—आंतरिक (आध्यात्मिक) तथा बाह्य (सामाजिक)। आध्यात्मिक पक्ष मनुष्य-जीवन के शाश्वत लक्ष्य—आत्मानुभूति अथवा परम-पुरुष से योग-स्थापन की ओर संकेत करता है। उनके अनुसार शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा मानव-मन का उत्थान और विस्तार करके 'योग' की प्राप्ति की जा सकती है। योग का तात्पर्य है मन का मानव और प्रकृति के साथ आत्मीयता-पूर्ण संबंध-स्थापन। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रथम आवश्यकता यह है कि व्यक्ति का चरित्र निर्मल हो और द्वितीय, वह अपनी साधना में निरन्तर रत रहे। अतः रवीन्द्रनाथ ने स्पष्ट कहा है कि विद्यालयों को बालकों के लिए केवल पाठ पढ़ने के स्थल नहीं होने चाहिए। उनका काम आत्मा का निर्देश तथा आत्मिक प्रेम की प्रेरणा प्रदान करना भी है। सामाजिक पक्ष मनुष्य के जीवन के समाज-संबंधी क्रिया-कलापों एवं नियम और बंधन तथा वातावरण में

† विद्या और विद्यालय का आदर्श, 'शिक्षा', जुलाई, १९५२, पृष्ठ १३०

उसकी व्यावहारिक कुशलता की ओर संकेत करता है। शिक्षा द्वारा इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आवश्यकता इस बात की है कि विद्यालय बालकों को विभिन्न प्रकार की क्रियाओं के लिए अवसर प्रदान करें ताकि इन क्रियाओं के माध्यम से वे अपनी क्रियात्मक शक्तियों को व्यावहारिक रूप दे सकें। इसके अतिरिक्त बालकों को विद्यालय में अपनी सृजनात्मक एवं रचनात्मक क्षमताओं के विकसित होने के लिए भी सुविधाएँ मिलनी चाहिए। कारण, इन शक्तियों एवं क्षमताओं की निरंतर गतिशीलता से चरित्र-निर्माण में सहायता मिलती है तथा उसमें संचित दोष और विनाश की ओर ले जाने वाले तत्व स्वयं नष्ट हो जाते हैं। सामाजिक पक्ष की शिक्षा के संबंध में रवीन्द्रनाथ ने पाश्चात्य शिक्षादर्श की व्यावहारिकता को भारतीय शिक्षण-पद्धति में स्थान देने का समर्थन किया है और कहा है कि भारतीय शिक्षादर्श को शक्तिशाली एवं यथार्थ रूप में कार्यान्वित करने के लिए पाश्चात्य प्रतिभा का समन्वय करना चाहिए क्योंकि उसमें मार्ग को प्रशस्त बनाने की क्षमता तथा व्यावहारिक उद्देश्य की ओर ले चलने की शक्ति है। यहाँ यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि भारतीय आदर्शानुसार सामाजिक पक्ष को सदैव आध्यात्मिक पक्ष के अनुगत रहना होगा। 'भारतवर्ष ने प्रत्येक व्यक्ति को जीवन के प्रतिदिन के भीतर से, समाज के प्रत्येक संबंध के भीतर से उसे मुक्ति का अधिकार देने की चेष्टा की है।'

रवीन्द्रनाथ ने अपनी शिक्षा-योजना में यद्यपि आध्यात्मिक पक्ष पर अधिक बल दिया है, फिर भी उन्होंने सामाजिक पक्ष की उपेक्षा नहीं की है। सामाजिक पक्ष को उन्होंने आध्यात्मिक पक्ष के उद्देश्य की प्राप्ति में एक साधन के रूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार उन्होंने ईशोपनिषद् के सत्य को व्यावहारिक रूप दिया है जिसके अनुसार, 'जो लोग केवल अविद्या अर्थात् संसार की ही उपासना करते हैं वे अन्ध तमस् में प्रवेश करते हैं, और उससे भी अधिक अंधकार में वे प्रवेश करते हैं जो केवलमात्र ब्रह्मविद्या में ही निरत हैं।'† 'विद्या और अविद्या दोनों को ही जो एकत्र जानते हैं वे अविद्या के द्वारा मृत्यु से उत्तीर्ण होकर विद्या के द्वारा अमृत को प्राप्त करते हैं।'‡ कहने का तात्पर्य है कि जिस प्रकार संसार और सांसारिक बंधन मनुष्य के अंतिम लक्ष्य नहीं हैं वरन् उसके अंतिम उद्देश्य अमरत्व की प्राप्ति में केवल साधन मात्र हैं, उसी प्रकार शिक्षा का सामाजिक पक्ष आध्यात्मिकता की प्राप्ति का साधन-मात्र है। हम पहले भी देख चुके हैं कि 'समाज मनुष्य का अंतिम लक्ष्य नहीं है, मनुष्य का चिर-अवलम्बन नहीं है; समाज बना

---

†अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥

‡विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह,
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वाविद्ययामृतमश्नुते।

है मनुष्य को मुक्ति के मार्ग में अग्रसर कराने के लिए।' अतः हमें दोनों पक्षों में संगति स्थापित करके चलना चाहिए।

रवीन्द्रनाथ के विचार में जीवन एक समन्वय है। मानव-जीवन में उसके विभिन्न अंगों एवं तत्वों में संगति की स्थापना होनी चाहिए। जीवन के शारीरिक, बौद्धिक तथा सामाजिक पक्षों को आध्यात्मिक पक्ष से अलग नहीं किया जा सकता। जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए इन्हें एकरूप होना पड़ेगा। रवीन्द्रनाथ के अनुसार सत्य एक है। अतः शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए बालक को सत्य की एकता का बोध कराना। परन्तु बालक को सत्य का वह रूप भी जानना आवश्यक है जिस रूप में वह सामाजिक जगत् में बालक के जीवन को प्रभावित करता है। सत्य की स्पष्ट रूपरेखा निर्धारित करते हुए उन्होंने दो प्रकार के सत्यों को स्वीकार किया है—व्यावहारिक सत्य और परम सत्य। व्यावहारिक सत्य का संबंध हमारे व्यावहारिक जीवन तथा प्रयोजनवादी उद्देश्यों से है और वह हमारे सामाजिक जीवन को प्रभावित करता है। परम सत्य व्यावहारिक प्रयोजनों से परे है, प्रेरणाप्रद है, और हमारे जीवन को प्रेरणा प्रदान करता है। इस प्रकार का सत्य भोज्य पदार्थ की भाँति नहीं है, वरन् हमारी भूख के समान है, जो सारी चीज़ों को पचा कर हमारे शरीर के अंगों का संगतिपूर्ण विकास करती है और शरीर को शक्तिशाली बनाती है। 'धर्म' इसी प्रकार का सत्य है। रवीन्द्रनाथ पाठ्यक्रम में सत्य के इन दोनों रूपों का समावेश करने के पक्ष में हैं। दूसरे शब्दों में, वह शिक्षा में मनुष्य के आध्यात्मिक, मानसिक, नैतिक तथा शारीरिक संवर्द्धन करने वाले तत्वों को सम्मिलित करना चाहते हैं। उन्होंने वर्त्तमान शिक्षापद्धति को इसीलिए एकांगी माना है कि इसमें केवल बौद्धिक उन्नति की ओर ही ध्यान दिया जाता है। शिक्षा को सर्वतोमुखी बनाने के लिए ही उन्होंने आध्यात्मिक और सामाजिक दोनों पक्षों के विकास को आवश्यक माना है। हाथों के प्रशिक्षण के लिए 'हस्तकला' तथा आत्मा के प्रशिक्षण के लिए 'धर्म' को उन्होंने अपने आश्रमवासियों के लिए इसी कारण अनिवार्य बनाया।

रवीन्द्रनाथ ने जीवन की विभिन्न अवस्थाओं अथवा आश्रमों में भी संगति स्थापित करके चलने के लिए आदेश किया है। हमारे जीवन का उद्देश्य है ब्रह्म की प्राप्ति। अतः हमारे संपूर्ण जीवन को इसी उद्देश्य के अनुकूल व्यतीत होना चाहिए। यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ बल देकर स्पष्ट करते हैं कि शिक्षा केवल पुस्तकीय ज्ञान एवं विषय-शिक्षा तक ही सीमित नहीं होनी चाहिए। हमारे देश में प्राचीन काल में शिक्षा से तात्पर्य था ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म में विचरण करना। हमारा संपूर्ण जीवन धर्ममय होना अनिवार्य था और इसीलिए शिक्षा का कार्य था बालक के जीवन को धर्म-व्रत के लिए तैयार करना। निष्कर्ष रूप में ब्रह्मचर्याश्रम में बालक को अपनी इच्छा-शक्ति का विश्व की इच्छा-शक्ति के साथ एकीकरण कर लेना चाहिए अन्यथा बालक का ज्ञान, प्रेम और कर्म उसके अहंभाव से प्रेरित होगा जिसका परिणाम उचित न होगा। नियम और

संयम का जीवन बालक के लिए भोग और त्याग दोनों को सरल बना देता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम में उच्च ज्ञान को ग्रहण करके व्यक्ति को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए। इस द्वितीय आश्रम में शुभ कर्मों द्वारा उसे अपनी आत्मा को और अधिक बलशाली बनाना चाहिए। इसके उपरांत जीवन के तृतीय भाग, वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करके व्यक्ति को अपने जीवन के संचित ज्ञान एवं अनुभव को दूसरों को दान करना चाहिए और अपने आत्म-ज्ञान की वृद्धि करनी चाहिए। चतुर्थ आश्रम संन्यास में व्यक्ति को संसार के सब बंधन छोड़कर अकेले उस अद्वैत ब्रह्म से एकाकार होने के लिए प्रस्तुत होना चाहिए। 'मनुष्य के जीवन को इस प्रकार से चलाने से ही उसका आद्यांत-संगतिपूर्ण तात्पर्य प्राप्त किया जा सकता है।' यही जीवन-साधना का पथ है। रवीन्द्रनाथ के अनुसार इस पथ पर चलते समय हम जगत के संबंधों की उपेक्षा नहीं कर सकते। उनके भीतर से निकलकर ही हम लक्ष्य की प्राप्ति कर सकेंगे अन्यथा 'यदि पंथ को वैराग्य से छोड़ दिया जाय, तो अपथ में तो सात गुना चक्कर खाते फिरना होगा।'

रवीन्द्रनाथ ने जीवन के उपरोक्त चार आश्रमों की तुलना दिन के चार स्वाभाविक अंशों—पूर्वाह्ण, मध्याह्न, अपराह्ण और सायाह्न से की है। मनुष्य जीवन के यह चार विभाग उसके स्वभावानुकूल ही किये गए हैं। जिस प्रकार दिन के पूर्वार्द्ध में धीरे-धीरे प्रकाश और उष्णता की वृद्धि होती है और उत्तरार्द्ध में ह्रास, ठीक उसी प्रकार मानव-जीवन के प्रथम दो आश्रमों में इन्द्रिय-शक्ति की क्रमशः उन्नति होती है और बाद के दो आश्रमों में अवनति। जीवन का यह स्वाभाविक क्रम, मनुष्य को कर्म और त्याग में संगति स्थापित करके चलने के लिए मार्ग निर्देशन करता है, अर्थात् जीवन के प्रथम अर्द्धभाग में कर्मशील रहना परन्तु उत्तरार्द्ध में बाहरी उपकरणों का त्याग करके एक अन्तरात्मा में निमग्न रहना। जो इन्द्रिय शक्ति घटने पर भी त्याग के लिए प्रस्तुत नहीं होता उसको सब कुछ विवशात् छोड़ना पड़ता है।

धर्म का स्वरूप

भारत के प्राचीन दार्शनिकों की भाँति रवीन्द्रनाथ का विश्वास है कि अन्य विषयों की तरह धर्म की शिक्षा नहीं दी जा सकती है। धर्म को नपे-तुले रूप में विद्यार्थियों को ग्रहण नहीं कराया जा सकता है और न उसे शिक्षा-व्यवस्था द्वारा शासित किया जा सकता है। धर्म की भावना उत्पन्न करने या उसकी शिक्षा देने के लिए उपयुक्त वातावरण और धार्मिक जीवन के प्रकाश की अपेक्षा होती है। इसीलिए उन्होंने धार्मिक शिक्षा प्रदान करने के लिए भारत की प्राचीन गुरुकुल-व्यवस्था को एकमात्र साधन माना है। उन्होंने अनुभव किया कि उपनिषदों में धार्मिक विचार उत्पन्न करने की अद्भुत शक्ति है क्योंकि उनमें संकीर्णता की भावना नहीं है। उन्होंने कहा है, "उपनिषदों ने इस विचित्र जगत्-संसार को ब्रह्म के ही अनंत सत्य में, ब्रह्म के ही अनंत ज्ञान में विलीन करके

देखा है। उपनिषदों ने किसी विशेष लोक की कल्पना नहीं की, किसी विशेष मंदिर की रचना नहीं की, किसी विशेष स्थान में उनकी विशेष मूर्ति की स्थापना नहीं की, एकमात्र ब्रह्म को ही परिपूर्ण-रूप से सर्वत्र उपलब्धि करके सर्व-प्रकार की जटिलता और कल्पनाओं के चाञ्चल्य को दूर हटा दिया है। धर्म की विशुद्ध सरलता का ऐसा विराट आदर्श और कहाँ है ?"†

रवीन्द्रनाथ ने धर्म को 'परिपूर्णता और सरलता का आदर्श' माना है। पर आज संसार में धर्म का प्रचलित रूप अत्यंत दुरूह और जटिल हो गया है। धर्म अनेकों क्रिया-कर्म, तंत्र-मंत्र और वादों में जकड़ दिया गया है। इसके अतिरिक्त एक-एक धर्म के अंतर्गत कई-कई संप्रदाओं की स्थापना हो गयी है। इन संप्रदाओं में उपासना, पूजा, क्रिया-कर्म की अपनी अपनी विधियाँ हैं, ईश्वर के स्वरूप और उनको प्राप्त करने के पृथक-पृथक मार्ग हैं जिसके कारण प्रायः उनमें परस्पर संघर्ष, द्वेष और विरोध भी चलता रहता है। अतः इस प्रकार का धर्म संसार में शान्ति के स्थान पर अशान्ति ही फैलाता है। धर्म ने जो आज यह विकृत रूप धारण कर रखा है उसका एक मात्र कारण है कि हमने धर्म को अपने अनुरूप बनाने का प्रयत्न किया है। हमने धर्म को स्वार्थवश व्यवहार-योग्य एवं उपयोगी बनाने की चेष्टा की है। इसके प्रतिकूल उत्तम तो यह होगा कि हम अपने को धर्म के अनुरूप बनाने का प्रयत्न करें। धर्म किसी स्थान-विशेष, काल-विशेष के अनुसार नहीं होता है। उसका आदर्श अमर और सनातन है। उसका रूप नहीं बदलता और अपने इसी रूप में वह सदैव धारण करने योग्य है। यही कारण है कि उपनिषद् में कहा गया है :—

'यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति।'

अर्थात्, "जो भूमा है वही सुख है, जो अल्प है उसमें सुख नहीं। उस 'भूमा' को यदि हम धारणा-योग्य बना लेने के लिए 'अल्प' कर लेते हैं तो उससे दुःख की ही सृष्टि होगी। फिर दुःख से रक्षा कैसे होगी ? इसलिए, संसार में रहकर हमें भूमा की उपलब्धि करनी होगी, सांसारिक प्रयोजन के लिए, उस भूमा को खण्डित और जटिल करने से काम नहीं चलेगा" ‡

रवीन्द्रनाथ कहते हैं कि उपनिषद् के ब्रह्म अगोचर ब्रह्म हैं। वह विश्वव्यापी हैं, वह सर्वान्तर्यामी हैं। वह सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' हैं। 'उनके सत्य से ही हम सत्य हैं और उनके आनन्द से ही हम व्यक्त हैं।' अतः ऐसे ब्रह्म की प्राप्ति के लिए किसी प्रकार के वाह्य आडंबरों की आवश्यकता नहीं है, कोई विशेष मुहूर्त छाँटने की आवश्यकता नहीं है और न कहीं दूर जाने की ही आवश्यकता है। जिस प्रकार दिन का प्रकाश देखने के लिए केवल आँख खोलने की आवश्यकता है उसी प्रकार ब्रह्म को पाने के लिए केवल

† 'रवीन्द्र साहित्य भाग २५, पृष्ठ ७
‡ 'रवीन्द्र साहित्य', भाग २५, पृष्ठ ५

हृदय में तीव्र इच्छा जाग्रत करने की आवश्यकता है। रवीन्द्रनाथ का कथन है जो सहज ढंग से प्राप्त किया जा सकता है उसे नाना प्रकार के साधनों द्वारा प्राप्ति की चेष्टा उसे और अधिक दुर्लभ बना देगी।

विदेशियों और उनके अनुगामी भारतीयों का यह आरोप है कि 'प्राचीन हिन्दू-शास्त्रों में पाप की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है, यही हिन्दू-धर्म की असंपूर्णता और निकृष्टता का परिचय है।' किन्तु जिन बातों को लेकर हिन्दू-धर्म को निकृष्ट कहा जाता है उन्हीं बातों को रवीन्द्रनाथ उसकी श्रेष्ठता और महानता का आधार मानते हैं। उनके अनुसार हमारे शास्त्रकार पाप की समस्या से पूर्णतया परिचित थे। वे जानते थे कि जब मनुष्य की आत्मा ब्रह्म में रम जाती है, चित्त ईश्वर की ओर लग जाता है और उसे ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है तब पाप और सब प्रकार के दोष स्वतः नष्ट हो जाते हैं। हृदय में ईश्वर-आनन्द का प्रकाश होते ही पाप रूपी अंधकार स्वयं नष्ट हो जाता है। उदाहरण के लिए यदि माँ को यह उपदेश दिया जाय कि तुम्हें बच्चे के पालन-पोषण में सावधान रहना चाहिए, तुम्हें यह करना चाहिए और यह नहीं करना चाहिए तो उपदेशों का कहीं अंत नहीं होगा। माता को बच्चे के प्रति कर्त्तव्य-पालन का उपदेश देने वाली एक संहिता बन जायगी। किन्तु यदि माता को यह ज्ञात है कि बालक को 'प्यार करना' है तो किसी अन्य उपदेश की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इसी प्रकार जब अंतःकरण में ब्रह्म का प्रकाश भर जायगा तब पाप के विषय में कुछ कहने-सुनने का अवकाश ही नहीं रह जायगा। रवीन्द्रनाथ का मत है कि पाश्चात्य धर्मशास्त्रों ने पाप और पाप से मुक्ति की समस्या को उलझनपूर्ण बना दिया और बुद्धिवादी विचारणा ने ईश्वर को खंडित एवं धर्म को दुर्बल बना दिया है।

रवीन्द्रनाथ के अनुसार वर्त्तमान युग में धर्म-प्रचारकों की दशा भी विचित्र है। ऐसे व्यक्ति जिन्होंने कभी जीवन में धर्म को धारण नहीं किया, जिन्होंने धर्म की अनुभूति नहीं प्राप्त की, आज धर्म का प्रचार करते हैं। इस प्रकार के प्रचारक धर्म में हमें अनुरक्त नहीं करते वरन् उसे हमारे जीवन से पृथक करते हैं। विभिन्न धर्म-संप्रदायों ने धर्म को विचित्र रूप दे डाला है। उपासना के लिए मन्दिर, मसजिद और गिरजाघरों की व्यवस्था करके धर्म को स्थान विशेष तक सीमित कर दिया है। इसी प्रकार दिन और समय का बंधन लगा कर धर्म को सीमित कर दिया गया है। सभी धर्म-संप्रदायों की अपनी-अपनी मान्यतायें हैं जिन्हें वे लक्षण-रेखा समझते हैं। अपनी बनायी हुई परिधि के भीतर रहना धर्म और उसके बाहर जाना अधर्म समझते हैं। धर्म की इसी कृत्रिम सीमा की रक्षा करने के लिए इनमें संघर्ष और उपद्रव होता है। धर्म इसी रेखा की रक्षा का पर्याय बन गया है। ऐसा प्रतीत होता है मानो धर्म कोई ऐसी पृथक वस्तु है जिसका हमारे जीवन से कोई संबंध नहीं। मनुष्य के दैनिक व्यापारों का उसमें कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार के सीमा-निर्धारण और संकुचित दृष्टिकोण के कारण ही आज मनुष्य के बीच विषमता और

द्रोह उत्पन्न करना धर्म का लक्षण हो गया है।

रवीन्द्रनाथ इस प्रकार के सीमित एवं संकुचित धर्म को सच्चा धर्म नहीं मानते हैं। उनका कथन है कि "संसार के समस्त वैषम्यों में जो एकमात्र ऐक्य है, समस्त विरोधों में जो शान्ति लाता है और समस्त विच्छेदों में जो एक-मात्र मिलन का सेतु है, उसी को धर्म कहा जा सकता है।"† उनके विचार में धर्म के अंतर्गत संपूर्ण मनुष्यता समाविष्ट है और धर्म जीवन के संपूर्ण क्षेत्रों में समन्वय स्थापित करता है। धर्म की इस समन्वयकारी प्रवृति की उपेक्षा करके जब उसे खंडों में विभक्त किया जाता है, देश-जाति सापेक्ष्य बनाया जाता है, संकुचित एवं सीमित बनाया जाता है तब वह विनाशकारक हो जाता है।

वह स्पष्टतः घोषणा करते हैं कि भारतवर्ष में धर्म का यह संकुचित रूप एवं संकीर्ण आदर्श नहीं रहा है। "हमारा धर्म 'रिलीजन' नहीं है, वह मनुष्यत्व का एकांश नहीं है; वह राजनीति से तिरष्कृत नहीं हैं. वह युद्ध से बहिष्कृत नहीं है, व्यवसाय से निर्वासित नहीं है, दैनन्दिन व्यवहार से दूरीकृत नहीं है। समाज के किसी विशेष-अंश में इसे प्राचीर-बद्ध करके मनुष्य के आराम-आमोद से, काव्य-कला से, ज्ञान-विज्ञान से उसकी सीमा-रक्षा के लिए सर्वदा पहरा नहीं खड़ा है। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ आदि आश्रम इस धर्म को ही जीवन में, संसार में, सर्वतोभाव से सार्थक करने के सोपान हैं। धर्म संसार के आंशिक प्रयोजन-साधन के लिए नहीं है; समग्र संसार ही धर्म-साधन के लिए है। इस तरह धर्म ने गृह में गृह-धर्म, राज्य में राजधर्म होकर भारतवर्ष के समग्र समाज को एक अखंड तात्पर्य प्रदान किया था"‡ हमारे यहाँ जीवन की सफलताओं—कीर्ति, यश आदि को तभी सार्थक माना जाता था जब वह धर्म के अनुकूल प्राप्त की जाती थीं। अतः व्यक्ति का संपूर्ण जीवन, उसका प्रत्येक कार्य, धर्ममय होना चाहिए। धर्म जीवन के किसी भी क्षेत्र से परे नहीं है।

धर्म-साधन की विधि—रवीन्द्रनाथ के अनुसार धर्म, "हमारे संपूर्ण जीवन का सत्य है। अव्यक्त के साथ हमारे व्यक्तित्व के संबंधों की चेतना है, यह हमारे जीवन के गुरुत्वाकर्षण का वास्तविक केंद्र है।" तथ्य यह है कि धर्म अनुभूति है वह केवल सीखने या जानने की वस्तु नहीं है। यही कारण है, कि वह धर्म की शिक्षा को अन्य विषयों की भाँति पाठ्यक्रम का विषय नहीं बनाना चाहते हैं और न उसे समय-सारणी की सीमा में बाँधना चाहते हैं। धार्मिक शिक्षा के लिए, धार्मिक आलोक की प्राप्ति, सादगी का जीवन तथा उचित वातावरण की आवश्यकता है। जब साधन साध्य के अनुरूप होते हैं तभी सलफता शीघ्रता से मिलती है। अतः ब्रह्म, 'जो अन्तर में हैं, जो आत्मा में हैं उन्हें अन्तर में ही, आत्मा में ही' प्राप्त करना चाहिए।

---

† रवीन्द्र-साहित्य', भाग २५, पृष्ट ५७

‡ 'रवीन्द्र-साहित्य', भाग २५, पृष्ट ५८

उनके विचार में, ब्रह्म की प्राप्ति के लिए 'सोना पाने की-सी चेष्टा न करके आलोक पाने की-सी चेष्टा करनी चाहिए।' कारण, 'सोना पाने की-सी चेष्टा' अर्थात् नाना प्रकार के बाह्य उपकरण अनेक विरोध, वैमनस्य का कारण बनकर ब्रह्म की प्राप्ति को और अधिक दुःसाध्य बना देते हैं। इसके विपरीत 'आलोक पाने की-सी चेष्टा' में जैसे केवल आँख खोलने की आवश्यकता है उसी प्रकार ब्रह्म के पाने के लिए केवल हृदय के उन्मीलन की आवश्यकता है। केवल हृदय में इच्छा-शक्ति को बलवती करना है। मनुष्य के जीवन में इच्छा-शक्ति का महत्वपूर्ण स्थान हैं क्योंकि इसी के द्वारा विश्व-शक्ति, अर्थात् ब्रह्म के साथ सामंजस्य की स्थापना की जा सकती है और उसके आनंद को प्राप्त किया जा सकता है। रवीन्द्रनाथ ने मन को निखिल ब्राह्मांड में प्रसारित करके ब्रह्म की अनुभूति करने के लिए गायत्री मंत्र का ध्यान सर्वोत्तम साधन माना है, यह उद्बोधन मंत्र 'बाहर के साथ अंतर और अंतर के साथ अंतरतम का योग कराता है, और हमें स्पष्ट रूप से यह आभास देता है कि ब्रह्म ही इस जगत को तथा हमारी बुद्धियों को प्रेरित करता है। ब्रह्म ही परम सत्य है और उसे जानने पर विश्व के सभी रहस्य स्वयमेव प्रकट हो जाते हैं। रवीन्द्रनाथ कहते हैं कि ब्रह्म के ध्यान करने की यह वैदिक पद्धति बड़ी सरल और उदार है। सरल इसलिए है कि बाह्य जगत और अपनी बुद्धि को कहीं ढूंढ़ने जाने की आवश्यकता नहीं है और उदार इस कारण है कि इसमें देश, काल, जाति और संप्रदाय तथा व्यक्ति विशेष की प्रकृति की कोई अपेक्षा नहीं है।

प्राचीन भारत में इस उद्बोध-मन्त्र के सदृश्य ही प्रार्थना का मन्त्र भी था :

असतोमा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतंगमय।

अर्थात् मुझे असत्य से सत्य की ओर ले जाओ, अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाओ, मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाओ। परन्तु रवीन्द्रनाथ ने यहाँ यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रार्थना-मन्त्र को केवल कानों से सुनने और मुख से उच्चारण करने मात्र से सार्थकता नहीं प्राप्त की जा सकती है। हम सत्य, ज्योति और अमृत को तभी प्राप्त कर सकेंगे जब अपने संपूर्ण जीवन से उसे पाने की चेष्टा करेंगे। हम जिसकी इच्छा करेंगे वही हमें प्राप्त होगा। धन, मान-सम्मान की इच्छा हमें अनेकता, वैषम्य और विरोध की ओर ले जायेगी। इसी प्रकार सत्य, आलोक और अमृत की इच्छा हमें 'एक' की ओर ले जायेगी। अतः यह सब केवल 'इच्छा' का ही 'धर्म' है।

हमें अपनी 'इच्छा' को यथार्थ रूप से जानना चाहिए। इच्छाशक्ति को आरम्भ से ही उचित दिशा में, उचित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नियंत्रित करना चाहिए अन्यथा सांसारिक कामनाओं का कहीं अन्त नहीं। 'इच्छा को नष्ट करना हमारी साधना का विषय नहीं है, इच्छा को विश्व-इच्छा के साथ एक-सुर में बाँधना ही हमारी सकल शिक्षा का चरम लक्ष्य' है। इच्छाशक्ति को मर्यादित रखने के लिए ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है। यही कारण है कि भारत में शिक्षा, ब्रह्मचर्यव्रत और धर्मव्रत थी। सत्य, अहिंसा,

इन्द्रिय-निग्रह, दान, कर्म आदि को तपस्या कहा गया हैं। विद्यार्थी इसी प्रकार का तपस्यापूर्ण जीवन व्यतीत करता था। नियम संयम के अभ्यास द्वारा अपनी आत्मा में और विश्व में ब्रह्म का साक्षात्कार करता था। रवीन्द्रनाथ का कथन है कि ब्रह्म के प्रति अनुराग का अर्थ यह नहीं है कि संसार की उपेक्षा की जाय अथवा उससे विरक्त हुआ जाय। वह संसार से विरक्त होने को, उसके प्रति विमुख होने को ब्रह्म के प्रति विरक्त होना मानते हैं। मनुष्य को यह विचार करना चाहिए कि उसमें धैर्य कितनी मात्रा में है, वह दूसरों के अपराधों को क्षमा कर सकता है या नहीं, ईर्ष्या-द्वेष, घृणा, दूसरों की निन्दा, लोभ आदि दुर्गुण उसमें हैं या नहीं और वह अपने अहंकार को जीत सका है या नहीं। इस प्रकार जब वह अपने को टटोलेगा, अपने दोषों को झुक-झुक कर देखेगा और आत्म-परिष्कार करेगा तब उसे यह ज्ञात होगा कि ब्रह्म की प्राप्ति की दिशा में वह कहाँ तक अग्रसर हो सका है, ब्रह्म के सत्य स्वरूप को इस विश्व में कहाँ तक देख सका है।

ब्रह्मचर्य सादे जीवन का प्रतीक है। सादगी और धार्मिक शिक्षा के लिए उपयुक्त वातावरण का महत्व सर्वाधिक है। इनकी पूर्ति ऐसे वातावरण में ही सम्भव है जहाँ सत्य के आध्यात्मिक जगत की प्राप्ति में कृत्रिम आवश्यकताओं का समूह बाधा न उत्पन्न करता हो, जहाँ जीवन में सरलता और अवकाश हो, जहाँ वायु स्वच्छ हो, प्रकृति पूर्णतया शान्त हो और मनुष्य अनादि जीवन में पूर्ण आस्था रखते हुए निवास कर सके।

शिक्षा के प्राचीन भारतीय आदर्श

रवीन्द्रनाथ के जीवन-दर्शन और शिक्षा-दर्शन में साम्य है। उन्होंने भारतीय आदर्शवादी दर्शन के अनुसार जीवन और शिक्षा का अन्तिम लक्ष्य परम सत्य की अनुभूति ही माना है। स्वभावतः उन्होंने भारतीय शिक्षादर्शों के उपयोग का समर्थन किया है।

तपोवन आश्रम—रवीन्द्रनाथ भारत की तपोवन शिक्षा-व्यवस्था के प्रबल समर्थक थे। प्रचीन भारत के शिक्षा-प्रयोग में उन्हें अपने देश की समस्याओं का समाधान प्राप्त हुआ। तपोवनस्थित आश्रमों में सरल एवं जीवन के पूर्ण आदर्शों की शिक्षा दी जाती थी और वहाँ जीवन-विकास के लिए पवित्र तथा अनुकूल वातावरण प्राप्त होता था। उन्होंने कहा है कि ऐसे स्थलों में बालकों को शिक्षा देना व्यर्थ है, जो उन्हें सत्य के मार्ग से दूर ले जाते हैं। ऐसे स्थानों में जहाँ जीवन व्यक्तिगत हित के लिए संघर्ष से भरा हुआ है और व्यक्ति का ध्यान केवल अपने ही स्वार्थों पर केन्द्रित हैं जहाँ मनुष्य केवल अपने हितों और सुखों के लिए जीवन को कृत्रिम ढंग से व्यतीत करता है, वहाँ शिक्षा देने से बालकों के मन में असामयिक इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। बौद्धिक जीवन के बीजारोपण के समय और विकास की प्राथमिक स्थिति में कोमल, शांत एवं आदर्शपूर्ण वातावरण की आवश्यकता होती है, अतः बालकों को ऐसे क्षेत्रों से दूर रखना चाहिए, जहाँ मनुष्य केवल अपने स्वार्थों तथा क्षुद्र आवश्यकताओं के लिए संघर्ष-रत है। उन्हें ऐसे स्थानों

में रखना चाहिये जहाँ उनके अनुकूल विकास की संभावनाएँ हों, जहाँ वे स्वतन्त्रता पूर्वक जीवनानुभवों के मार्ग पर शांतिपूर्वक चल सकें, जीवनानुभवों को संचित कर सकें, और जहाँ आध्यात्मिक उत्तराधिकार उनकी प्रतीक्षा करता हो।

शिक्षा में ग्रामीण आदर्श—रवीन्द्रनाथ प्राचीन भारत की तपोवन शिक्षा-व्यवस्था में आस्था रखने के साथ ही साथ, भारतीय शिक्षा में 'ग्रामीण-आदर्श' की पुनः स्थापना का समर्थन करते हैं। ग्राम्य जीवन की विशेषताएँ हैं—सरलता, धन-धान्य की पूर्णता एवं अतिथि-सत्कार, अर्थाति सामाजिक भावना का विकास। इसके विपरीत नगर के जीवन की विशेषताएँ हैं–कृत्रिमता, शिक्षा की आधुनिक व्यवस्था, व्यापार-वृत्ति फल-स्वरूप स्पर्धा के भाव की जाग्रत, अर्थात् वैयक्तिक भावना का विकास। शिक्षा के वास्तविक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वैयक्तिक और सामाजिक दोनों पक्षों के विकास की अपेक्षा हैं। इसके अतिरिक्त, वैयक्तिक और सामाजिक, दोनों आदर्शों में संपूर्ण सामन्जस्य की आवश्यकता है। यदि हम वर्त्तमान परिस्थिति पर ध्यान दें तो यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि आज गाँवों के स्थान पर नगरों की संख्या बढ़ती जा रही है; अर्थात् वैयक्तिक आदर्श को प्रधानता मिल रही है। 'भारतमाता मुख्यतः ग्रामवासिनी है।' पाश्चात्य सभ्यता के फेर में उसके आदर्शों की उपेक्षा की गयी है। अतः हमें पुनः 'ग्रामीण आदर्श'—सामाजिक आदर्श की स्थापना करना आवश्यक है। केवल यही नहीं, 'मानवीय सभ्यता की रक्षा के लिए' भी इस आदर्श को पुनः प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए।

रवीन्द्रनाथ ने ग्रामों की तुलना स्त्री से की है—"जनपद स्त्रियों के समान हैं। मानव जाति की रक्षा के लिए उनकी रक्षा करना आवश्वक है। नगरों की अपेक्षा वे प्रकृति के अधिक समीप हैं, अतएव वे जीवन स्रोत के निकट संपर्क में हैं।" यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ ने 'शांतिनिकेतन' की स्थापना एक गाँव के शाँत वातारण में की और अपने आश्रम में ग्रामीण आदर्श को प्रमुखता दी।

विद्यार्थी और ब्रह्मचर्य—प्राचीन भारतीय आदर्शों और व्यवहारों में रवीन्द्रनाथ का दृढ़ विश्वास था, अतः उन्होंने ब्रह्मचर्य-व्यवस्था की बहुत प्रशंसा की है और इसलिए शिक्षा को ब्रह्मचर्य-व्रत और धर्मव्रत कहा है। उन्होंने ब्रह्मचर्य का पालन विद्यार्थी के लिए अनिवार्य बताया है। उनके अनुसार विद्यार्थी को संयमी, विलास से पृथक, पवित्र हृदय वाला होना चाहिए। उसमें अपने लक्ष्य के प्रति निष्ठा और गुरु के प्रति भक्ति अपेक्षित है। इन आदर्शों को अपने सम्मुख रखकर ही विद्यार्थी मानवता के साक्षात्कार की दिशा में अग्रसर हो सकते हैं। शिक्षा, ससांरिक जीवनयापन की तैयारी है और योगसाधन द्वारा 'परमपुरुष' के साथ सम्बन्ध-स्थापन का साधन है। अतः विद्यार्थी के लिए विद्या-प्राप्ति और जीवन के अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति, दोनों ही दृष्टि से ब्रह्मचर्य का पालन करना अनिवार्य है।

आदर्श अध्यापक—भारतीय परंपरा के अनुसार रवीन्द्रनाथ भी मानते हैं कि शिक्षा में अध्यापक का उत्तरदायित्व सबसे अधिक है। इसीलिए उसे आत्मसंयमी तथा त्यागी होना चाहिए क्योंकि इन्हीं गुणों द्वारा वह छात्रों को अपनी ओर आकर्षित कर सकता है। अध्यापक को पूर्वग्रही, असहिष्णु, चंचल, निम्नविचार वाला, अहकारी और संकीर्ण स्वभाव का नहीं होना चाहिए। उसे आलस्य और प्रमाद से दूर रहना चाहिए। यदि अध्यापक विद्यार्थियों पर शुभ प्रभाव डालना चाहता है तो उसे अपना आचरण शुद्ध रखना चाहिए क्योंकि सात्विक आचरण द्वारा ही वह छात्रों की भक्ति, स्नेह और सम्मान का पात्र हो सकता है। प्रत्येक दृष्टि से आदर्श अध्यापक ही छात्र के जीवन का पूर्ण विकास कर सकता है, किंतु शिक्षक को बालकों पर अपने विचार नहीं लादना चाहिए। जो अध्यापक बालक के स्वभाव और उसकी प्रवृतियों को नहीं समझता है, वह शिक्षा देने के लिये पूर्णतया अनुपयुक्त होता है। वह अध्यापक सही रूप में शिक्षा नहीं दे सकता जो स्वयं भी ज्ञान प्राप्त करने के लिए निरंतर प्रयत्नशील नहीं रहता है। शिक्षक और छात्र में सजीव संपर्क होना चाहिए। जब एक मन से दूसरे मन का संपर्क होता है, तभी आनंद की उत्पत्ति होती है। वह आनंद सृजनात्मक होता है और विद्यालय में जो शिक्षक प्रतिक्षण आत्म-साक्षात्कार करता है, वही अपनी ज्ञानराशि सरलता पूर्वक छात्र को दे सकता है।

रवीन्द्रनाथ का कहना है कि बालकों का ऐसा स्वभाव होता है कि वे अध्यापकों द्वारा प्रदान की जाने वाली विद्या को सीखने में तो बहुत बिलम्ब करते हैं, किंतु उनके मनोभावों को सीखने में उन्हें कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ता है। अतः शिक्षण-कार्य में जो कुछ अन्याय, अविचार, अधैर्य, क्रोध और पक्षपात होता है, उसे बालक अन्य ग्रहणीय बातों की अपेक्षा शीघ्र ग्रहण कर लेते हैं। इसलिए दोषों के संक्रामक रोग से बालकों को बचाने के लिए अध्यापकों को स्वयं अपने चरित्र और व्यवहार के विषय में विशेष रूप से सतर्क रहना चाहिए।

अध्यापक और दंड—रवीन्द्रनाथ बालकों को दंड देने के संबंध में अध्यापक को सचेत करते हैं। शिक्षा में बालकों को दंड देने की जो परिपाटी चली आ रही है, उन्होंने उसका सदैव विरोध किया है। उन्होंने स्वयं अपने अनुभवों से सीखा था कि विद्यार्थी को दंड देना किसी भी दशा में उचित नहीं है। बच्चों के स्वतंत्र विकास के पक्षपाती होने के कारण वह अपराध के लिए बालकों को दंड देने के पक्ष में नहीं है। उनका कथन है कि अपराध करना बालकों का काम है और क्षमा करना शिक्षकों का धर्म है। वह लिखते हैं, 'अब अगर हममें से कोई छात्रों के व्यवहार से क्रुद्ध और भयभीत होकर, विद्यालय के अमंगल की आशंका से असहिष्णु होकर उन्हें तत्काल दंड देने के लिए उद्यत हो जाता है, तो मेरे अपने छात्र-अवस्था के समस्त पाप एक क़तार में खड़े होकर मेरे मुँह की ओर देखते हुए हँसने लगते हैं।' 'मैं अच्छी तरह समझता हूँ कि लड़कों के अपराधों को हम

बड़ों के पैमाने पर नापा करते हैं और यह भूल जाते हैं कि छोटे लड़के झरने के समान वेग से चलते हैं। वह जल यदि दोषों का स्पर्श करता है, तो हताश होने का कोई कारण नहीं क्योंकि गतिशीलता में सभी दोषों का सहज प्रतिकार विद्यमान हैं। वेग जहाँ रुकता है, वहीं खतरा है और वहाँ सावधान होना ही चाहिए।' अतः शिक्षक को स्वयं अपराध से डरना चाहिए, छात्रों को उतना नहीं। अध्यापक को उचित है कि वे बालकों को उचित मार्ग की ओर प्रेरित करें।

शिक्षा का माध्यम—रवीन्द्रनाथ ने स्वीकार किया है कि बालकों को पूर्ण शिक्षा प्रदान करने के लिए विदेशी भाषा उचित माध्यम नहीं है। विदेशी भाषा के माध्यम से शिक्षा देना एक बहुत बड़ा दोष है, जिसके कारण बालक अध्ययन से विरक्त होने लगते हैं। उनके विचार में अधिकांश छात्र स्वभावतः विदेशी भाषा सीखने में असमर्थ होते हैं। भारत में ऐसे छात्र, अंग्रेज़ी के बिना पर्याप्त ज्ञान के ही, किसी प्रकार मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिए विवश होते हैं। ऊँची कक्षाओं में इसका परिणाम बड़ा हानिकारक होता है। अंग्रेज़ी शिक्षा का परिणाम यह होता है कि हम अनिवार्यतः पश्चिम से प्रेरणा लेने को बाध्य होते हैं। उनका कहना है कि बालकों की शिक्षा उनकी मातृभाषा के माध्यम से होनी चाहिए, ऐसी व्यवस्था होने पर ही उनका पूर्ण विकास हो सकता है। राष्ट्रीय शक्ति का यह कितना भयंकर अपव्यय है कि इस देश के हज़ारों विद्यार्थियों को ऊँची कक्षाओं में उस विदेशी भाषा का व्यवहार करना पड़ता है, जिसे सीखने की योग्यता उनमें नहीं है यद्यपि उनमें सीखने की इच्छा है।

उनके अनुसार 'अनेकता में एकता' का सिद्धांत शिक्षा के माध्यम के विषय में भी पूर्ण रूप से चरितार्थ होता है। उनका कहना है कि पहले लैटिन ही सारे योरोप की संघीय भाषा थी, किंतु वास्तव में वहाँ एक संघीय संस्कृति का विकास तभी संभव हुआ जब वहाँ के देशों ने अपनी-अपनी भाषाओं का विकास कर लिया। यही बात अपने देश के विषय में भी सत्य है। एक समय था जब हमारे देश में संस्कृति व विचारों के आदान-प्रदान की भाषा संस्कृत थी, किंतु वास्तव में विचारों की समृद्धि के लिए राष्ट्रीय भाषा के साथ-साथ सभी प्रांतीय भाषाओं का पूर्ण विकास होना चाहिए। इस प्रकार रवीन्द्रनाथ ने बालकों को मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देने को आवश्यक माना है। मातृभाषा में शिक्षा पाने पर ही बालक का उचित विकास हो सकता है।

पाठ्य-विषय

रवीन्द्रनाथ के शिक्षादर्शन के सांकेतिक शब्द हैं—'संपूर्णता,' 'संबद्धता' और 'समन्वय'। वह मनुष्य को पूर्ण बनाने वाली शिक्षा में विश्वास करते हैं। उपनिषदों की परंपरा के अनुसार जैसा हम पहले भी देख चुके हैं, वह मानव जीवन के दो पक्ष स्वीकार करते हैं—आंतरिक (आध्यात्मिक) तथा बाह्य (सामाजिक)। इन्हीं दोनों पक्षों का विकास शिक्षा का उद्देश्य है। प्रथम पक्ष का विकास मनुष्य को जीवन के परम सत्य, 'एकता',

के साक्षात्कार में सहायक है और द्वितीय पक्ष उसके जीवन के समाज संबंधी व्यावहारिक सत्यों के जानने में। मनुष्य के आंतरिक विकास में सहायक है 'धर्म' की साधना और सामाजिक विकास में समाज संबंधी विषय—कला और विज्ञान। अतः वह पाठ्य विषय में दोनों प्रकार से संबंधित विषयों का समावेश चाहते हैं। परंतु रवीन्द्रनाथ के विचार में जीवन एक समन्वय है। मानव जीवन के विभिन्न अंगों में संगति की स्थापना आवश्यक है; जीवन के बौद्धिक और शारीरिक पक्ष से आध्यात्मिकता को दूर नहीं किया जा सकता। अतः सभी सामाजिक विषयों की शिक्षा इस प्रकार दी जानी चाहिए कि वे आध्यात्मिक पक्ष के अंतर्गत रहते हुए बालक के आंतरिक और सामाजिक विकास में सहायक हों। दूसरे शब्दों में, परम सत्य और व्यावहारिक सत्यों में संगति की आवश्यकता है। यह संगति इस आधार पर सरलता पूर्वक की जा सकती है कि प्रथम प्रकार का सत्य अर्थात् धर्म, अन्य विषयों की भाँति पढ़ाने का विषय नहीं है, वह सूचना मात्र नहीं है, वह है प्रेरणा-प्रद सत्य। अतः सभी विषयों को इस सत्य से प्रेरणा प्राप्त करते हुए, बालक का बाह्य और आंतरिक दोनों प्रकार का विकास करना चाहिए। रवीन्द्रनाथ वर्तमान शिक्षा-पद्धति को एकांगी बताते हैं। वह बालक की केवल बौद्धिक उन्नति पर ही ध्यान देती है। व्यक्ति के संपूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिए सत्य के दोनों रूपों का पाठ्य-विषय में प्रतिनिधित्व आवश्यक है।

रवीन्द्रनाथ के जीवन-दर्शन के संबंध में हमने देखा कि उपनिषद् में ब्रह्म के स्वरूप को तीन भागों में विभक्त किया गया है—सत्यं, ज्ञानं और अनन्तं। ब्रह्म के इन्हीं तीन रूपों के अनुरूप मानव-आत्मा की भी तीन दिशाएँ हैं—'मैं हूँ', 'मैं जानता हुँ', और 'मैं व्यक्त करता हूँ'। यह तीनों दिशाएँ मिलकर मानव के पूरे रूप का परिचय देती हैं। यदि हम मानव-आत्मा की इन दिशाओं को ध्यान में रखकर पाठ्यक्रम का निर्धारित करें तब भी हम उपर्युक्त निष्कर्ष पर ही पहुँचेंगे। 'मैं हूँ', यह ब्रह्म के सत्य स्वरूप के अंतर्गत है, अतः ब्रह्म के इस रूप को जानने के लिए बालकों को शारीरिक विज्ञान मनोविज्ञान, चिकित्सा-शास्त्र, समाज-शास्त्र का अध्ययन आवश्यक है। 'मैं जानता हूँ'—यह ब्रह्म के ज्ञान स्वरूप के अंतर्गत है, अतः ब्रह्म के इस रूप को जानने के लिए, नीति-शास्त्र, धर्म-शास्त्र, भाषा, इतिहास, भूगोल गणित-शास्त्र नाना-विज्ञान आदि विषयों का अध्ययन करना अनिवार्य है। 'मैं व्यक्त करता हूँ', यह ब्रह्म के अनंत स्वरूप के अंतर्गत है, अतः विभिन्न प्रकार के हस्त-कौशल, संगीत और कला ब्रह्म के इस रूप को व्यक्त करने के लिये सहायक साधन हैं। ब्रह्म के इन तीनों रूपों को लेकर ही 'एक अखंड सत्य' होता है, अतः बालक के संपूर्ण विकास के लिए उसकी शिक्षा में इन तीनों पक्षों में से किसी की भी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। पाठ्य-क्रम को इतना व्यापक होना चाहिए कि बालक अपनी रुचि के अनुसार विषयों का अध्ययन कर सकें। विषयों की सार्थकता बालक के सामाजिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के विकास में निहित है।

यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ ने बहुत पूर्व ही शांतिनिकेतन में 'संपूर्णता' के सिद्धांत का शिक्षा में प्रयोग किया। 'अखंड-ज्ञान' को ही उन्होंने 'बुद्धिमत्ता' कहा। विद्यालयों का उद्देश्य बालकों के शारीरिक अंगों को केवल शिक्षित बनाना और आकस्मिक समय के लिए प्रस्तुत करना ही नहीं है वरन् जीवन-शक्ति और विश्व-शक्ति के बीच संगति स्थापित करना है।

शिक्षण-कला के सिद्धांत

रवीन्द्रनाथ का विश्वास है कि अध्यापक और छात्र के बीच सजीव संपर्क होना चाहिए। इसी कारण वह प्रत्येक अध्यापक के लिए बाल्य प्रकृति की भली-भाँति जानकारी अनिवार्य समझते हैं। प्रचलित शिक्षण-पद्धति से भिन्न, वह बालक का विकास एक स्वतंत्र प्राणी की भाँति, स्वतंत्र परंतु साथ ही आदर्श वातावरण में चाहते हैं। इस संबंध में उन्होंने कुछ विशेष तथ्यों की ओर शिक्षा-जगत का ध्यान आकर्षित किया है :—

बालक के प्रति सहानुभूति—रवीन्द्रनाथ वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति से बहुत ही असंतुष्ट थे क्योंकि इसमें न तो बालक की प्रकृति की ओर ध्यान दिया जाता है और न उसके प्राकृतिक परिपार्श्व की ओर। बालक को विद्यालय की चहार दीवारी में सीमित करके उसे जीवन के मुक्त प्रवाह से विलग कर दिया जाता है। परिणामतः बालक का जीवन बहुत कुछ अंशों में कृत्रिम बन जाता है जिससे शिक्षा का वास्तविक मूल्य नष्ट हो जाता है। उनके अनुसार "शाला की पद्धति अनुशासन की पद्धति है जो व्यक्ति को नगण्य समझती है। शाला रूपी इस यंत्र में सभी परिणाम एक समान निकालने का दुराग्रह रहता है। शाला एक काल्पनिक ऋजु रेखा पर चलना चाहती है, परन्तु वास्तविक जीवन काल्पनिक सीधी रेखा से भिन्न है।"*

रवीन्द्रनाथ को बालक के प्रति असीम सहानुभूति है। उनके अनुसार बालक में जन्मजात प्रवृत्तियाँ होती हैं। वह उनकी अभिव्यक्ति के लिए स्वतंत्रता चाहता है। वह प्रकृति से शुद्ध है। उसका अपना व्यक्तित्व है। बालक के व्यक्तित्व और उसकी मनोवृत्तियों की किसी प्रकार अवहेलना नहीं करनी चाहिए। वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति बालक के मानसिक जगत की इस सजीवता की ओर तनिक भी ध्यान न देकर उसके प्रति अन्याय करती है। इस सजीव तथ्य अर्थात् बालक की प्रकृति के साथ सहानुभूति के स्थान पर शालाओं में इसका विरोध ही किया जाता है। बालक खुली हवा में प्रकृति के प्रांगण में स्वच्छंद प्राणी की भांति विचरण करके अपना शारीरिक विकास चाहता है। वह प्रकृति की विशाल पुस्तक से ज्ञान ग्रहण करके मानसिक विकास करना चाहता है तथा प्रकृति की पवित्र एवं प्रभावशाली शक्ति का प्रत्यक्ष अनुभव करके, उससे एकात्मीयता स्थापित करके, सत्य को पहचान कर अपनी आत्मोन्नति करना चाहता है। परन्तु शालाओं में पुस्तकें पाठ्य-

* लक्ष्मी लाल के० ओड़ : रवीन्द्रनाथ ठाकुर का शिक्षा दर्शन, 'शिक्षा', जुलाई १९५७, पृष्ठ १७

विषय, समय-सारिणी आदि का बंधन बालक के प्राकृतिक जीवन-प्रवाह में बाधाएँ उपस्थित करते हैं। रवीन्द्रनाथ बालक को उसके इन कृत्रिम बंधनों से मुक्त कराना चाहते हैं। वह बालक का प्राकृतिक एवं स्वतंत्र विकास चाहते हैं।

बालक के प्राकृतिक विकास के लिए, रवीन्द्रनाथ शाला के शुद्ध एवं वात्सल्यपूर्ण वातावरण पर बल देते हैं। आजकल शाला का प्रेम रहित वातावरण और शिक्षकों का क्रूर एवं असहानुभूतिपूर्ण व्यवहार बालक के अंदर अनेक भावना-ग्रंथियों को जन्म देता है। बालक शिक्षक के नाम से ही भयभीत हो जाता है और स्कूल से अपना पीछा छुड़ाना चाहता है। यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ स्कूल के वातावरण को कौटुम्बिक वातावरण में परिवर्तित करना चाहते हैं। शिक्षक को माता के सदृश्य बालकों के प्रति सहानुभूति और प्रेमपूर्ण व्यवहार करने के लिये सचेत करते हैं।

मानव और प्रकृति के बीच प्रत्यक्ष संबंध द्वारा शिक्षा—बालक के प्राकृतिक विकास के लिए रवीन्द्रनाथ, प्रकृति और मानव के बीच सक्रिय संबंध पर बल देते हैं। उनके अनुसार यदि जीवन का उद्देश्य आत्मानुभूति है तो उसकी प्राप्ति का साधन संसार को जान लेना मात्र नहीं है क्योंकि ज्ञान से तो केवल हमारी शक्ति बढ़ती है। परम उद्देश्य की प्राप्ति के लिए संपूर्ण सृष्टि से समरस होने की, उसके साथ तादात्म्य स्थापित करने की आवश्यकता है। मनुष्य और प्रकृति ब्रह्म के ही व्यक्त रूप हैं। रवीन्द्रनाथ ने अपने शिक्षा-दर्शन में मानव-जगत से भी अधिक प्राकृतिक जगत के साथ एकात्मीयता स्थापित करने पर महत्व दिया है। इस महत्व का कारण संभवतः यह भी है कि मनुष्य की अपेक्षा प्रकृति के विभिन्न रूपों द्वारा ब्रह्म की अभिव्यक्ति अधिक स्पष्ट रूप में परिलक्षित होती है। अतः मनुष्य का प्रकृति के साथ निकटता और घनिष्ठता का अनुभव प्रत्यक्ष संबंध की स्थापना द्वारा होना चाहिए। बालक को उसकी पवित्र तथा प्रभावशाली शक्ति का अनुभव करना चाहिए।

प्रकृति के प्रभावों और उसकी शक्ति में विश्वास रखने के कारण रवीन्द्रनाथ बालक को प्राकृतिक वातावरण में शिक्षा देने के पक्षपाती हैं। वह बालक को प्रकृति के संपर्क में इसलिए और लाना चाहते हैं क्योंकि इससे उसे यथार्थ जगत का बोध सफलता पूर्वक हो जाता है। प्रकृति-प्रदत्त ज्ञान के लिए बालक को कोई मूल्य भी नहीं चुकाना पड़ता। उदाहरण के लिये पृथ्वी पर नंगे पैर घूमने से उसके रहस्य—ऊँचाई, नीचाई, मृदुता, कंकरीलापन आदि गुण सहज ही प्राप्त हो जाते हैं। प्रकृति के संपर्क में रहने से बालक में कठिनाई सहन करने की क्षमता भी स्वभावतः आ जाती है। प्राकृतिक जीवन व्यतीत करना, सादगी का जीवन व्यतीत करना है। विद्याध्ययन काल में विद्यार्थियों को सीधा और सरल जीवन व्यतीत करना चाहिए। रवीन्द्रनाथ के अनुसार, अमीरी की अपेक्षा ग़रीबी ज़्यादा अच्छी शिक्षक है। अमीरी यथार्थ जगत का बोध नहीं करा पाती। प्रकृति से प्रत्यक्ष संबंध-स्थापन के साथ-साथ रवीन्द्रनाथ बालक को, प्रारंभिक ज्ञान मानव के प्रत्यक्ष संबंध

द्वारा भी देने के पक्ष में हैं। इसीलिए वह आश्रम के पवित्र, एकांतमय प्राकृतिक एवं सामाजिक वातावरण जैसे नदी या उसका किनारा, सूर्योदय एवं सूर्य्यास्त, अध्यापक, मित्र आदि के बीच बालक को शिक्षा प्रदान करने के पक्षपाती हैं। प्रकृति के शुभ संसर्ग में, पाठशाला की आत्मीयता एवं पारिवारिक वातावरण में बालक का जो सांवेदनिक, सांवेगिक, एवं बौद्धिक विकास होता है वह बालक के हर प्रकार के विकास में शैक्षिक दृष्टिकोण से अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। रवीन्द्रनाथ के प्रकृति संबंधी विचार रूसो से किसी सीमा तक मिलते जुलते हैं। दोनों आरंभ में पुस्तकीय ज्ञान के विरोधी हैं। दोनों राविनसनक्रूसो के प्रायद्वीप का वातावरण शिक्षा के लिए उपयुक्त समझते हैं।

प्राकृतिक और सामाजिक शक्तियों में संतुलन—रवीन्द्रनाथ के जीवन-दर्शन का अध्ययन करते समय हम देख चुके हैं कि उनका दृष्टिकोण समन्वयवादी है। बालक की प्रकृति के संबंध में उनके विचारों में यही दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है। वह कहते हैं कि आरंभ में बालक के सारे कार्य 'स्व' की भावना से प्रेरित होते हैं। 'स्व' से यहाँ तात्पर्य है आत्म-प्रेम अथवा अपने जीवन से प्रेम। बालक आरंभ में जो भी ज्ञान ग्रहण करता है वह इसी स्व-संबंधी कार्यों के संपादन द्वारा। उसके उपरांत ज्ञान प्राप्त करने के लिए वह जीवन भी त्याग सकता है और अंततः जब उसकी बुद्धि परिपक्व हो जाती है तब पूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिये वह समाज में तत्पर होता है। रवीन्द्रनाथ के इन विचारों की तुलना रूसो के अभावात्मक सिद्धांत से की जा सकती है जिसमें १५ वर्ष की आयु तक बालक के आचरण का आधार आत्म-प्रेम ही रहा है। १५ वर्ष के उपरांत बालक अन्यों से प्रेम करना सीखता है। रवीन्द्रनाथ और रूसो में अंतर यह है कि रवीन्द्रनाथ की नैतिकता का आधार सामाजिक न होकर आध्यात्मिक है। संपूर्ण सृष्टि में एक ही परम-पुरुष की अभिव्यक्ति है। परम-पुरुष की अनुभूति एकांत में संभव नहीं वरन् संपूर्ण सृष्टि—मानव और प्रकृति, जहाँ ज़रा भी जीवन की ज्योति झलकती हो—समरस होने में ही प्राप्त हो सकती है। रवीन्द्रनाथ के अनुसार 'स्व' के दो पक्ष हैं—पहला निजी और दूसर सामाजिक। पहले पक्ष में स्वार्थ की भावना निहित है और दूसरे में परार्थ की। पहला, व्यक्ति को भौतिकता की ओर खींचता है और दूसरा अध्यात्म की ओर। अतः दोनों में संतुलन स्थापन की आवश्यकता है। इस संतुलन को रवीन्द्रनाथ ने 'स्व' की तुलना दीपक से करके स्पष्ट किया है। यदि दीपक अपना तेल अपने पास जमा रखना चाहे और अपना प्रकाश अपने ही पास सीमित रखना चाहे तो स्वयं भी अंधेरे में रहेगा और दूसरों को भी अंधेरे में रखेगा। परन्तु यदि दीपक अपने प्रकाश का प्रसार दूसरों के लिए करता है तो स्वयं भी प्रकाशित होता है और इस प्रकार अपने वास्तविक लक्ष्य (आत्मानुभूति) की पूर्ति करता है। ठीक इसी प्रकार व्यक्ति समाज के कार्यों में भाग लेकर, समाज-सेवा द्वारा अपनी भी उन्नति कर सकता है और अपने अंतिम लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सकता है।

अतः शिक्षा में भी रवीन्द्रनाथ मनुष्य की 'प्राकृतिक' और 'सभ्य' या 'सामाजिक' शक्तियों के बीच संतुलन स्थापित करने पर बल देते हैं। उनके अनुसार आधुनिक शिक्षण-कला में ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि वह बालकों की समाज-विरोधी प्रवृत्तियों को दूर करें, तभी समाज़ की शक्ति अक्षुण्ण रह सकेगी। पाश्चात्य जगत की ओर लक्ष्य करते हुए रवीन्द्रनाथ का कथन है कि रूसो के समय से ही, योरोप में छोटे बालकों पर प्रकृति के महत्वपूर्ण प्रभाव को स्वीकार किया गया किंतु जीवन में औद्योगीकरण और यंत्रीकरण के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण इस धारणा को व्यावहारिक रूप देना असंभव हो गया। बालकों का जीवन प्रकृति से दूर हटता गया और स्वस्थ संवेगात्मक जीवन, कठिन नियमों और अनुशासनों में बंधता गया। इसका परिणाम यह हुआ कि आरंभ में ही बालक का व्यक्तिगत स्वभाव और आत्म-विश्वास समाप्त हो गया। कठोर नियंत्रण में शिक्षित बालकों की मूलशक्तियाँ, आत्म-प्रकाशन की भावना से प्रेरित होकर आगे चलकर निरंतर दुर्बलों को पीड़ित करने के रूप में व्यक्त होती रहीं और वहाँ का जीवन अविकसित ही रह गया। इस भयंकर परिस्थिति से बचने के लिए और अपनी पूर्णता प्राप्त करने के लिए रवीन्द्र नाथ का मंतव्य है कि हमें मूल शक्ति के विचार से जंगली और मानसिक दृष्टि से सभ्य बनने की आवश्यकता है। हमारे भीतर प्रकृति के बीच प्राकृतिक और समाज के बीच मानव बने रहने की योग्यता होनी चाहिए। 'मानव में असभ्यता और सभ्यता को उसी अनुपात में होना चाहिए, जितना पृथ्वी पर स्थल और जल है, जिसमें पहले का महत्व अधिक है।'† अतः प्राकृतिक एवं सामाजिक शक्तियों में इस प्रकार का संतुलन व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों दृष्टिकोण से हितकर होगा।

यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ ने प्रकृति का महान समर्थक होते हुए भी, शिक्षक, पाठशाला या पुस्तकों की पूर्णतया उपेक्षा नहीं की है। वह प्राकृतिक साधनों के माध्यम से, प्रत्यक्ष वस्तु तथा मनुष्यों के संपर्क द्वारा, बालकों को प्रारंभिक ज्ञान अवश्य देना चाहते हैं, पर इसके उपरांत उन्होंने पुस्तकीय ज्ञान को ही आवश्यक माना है। उनकी शिक्षा में शास्त्रीय साहित्य एवं संस्कृति को प्रमुख स्थान प्राप्त है। उनका अटूट विश्वास है कि बालक का पूर्ण विकास मांनवसमाज के पूर्वार्जित अनुभवों पर निर्भर है यद्यपि वह विज्ञान का ज्ञानका बालक के लिए आवश्यक समझते हैं तथापि व्यक्ति और समाज दोनों का हित ध्यान में रखने के कारण ही वह उसकी शिक्षा साधन के रूप में देना चाहते हैं साध्य के रूप में नहीं। वह विज्ञान का ज्ञान वैयक्तिक अनुभव के आधार पर देना चाहते हैं परंतु विज्ञान के विद्यार्थी को भावना से शून्य व्यक्ति के रूप में नहीं देखना चाहते हैं।

स्वतंत्रता—रवीन्द्रनाथ के शिक्षण-कला संबंधी सिद्धांत एक दूसरे से सह संबंधित हैं और उन सब को एक सूत्र में बाँधने वाला केन्द्रीय तथ्य है उनका बालक के 'प्राकृतिक विकास' में विश्वास। अतः स्वभावतः रवीन्द्रनाथ बालकों को स्वतंत्रता प्रदान करने के

† The Visva-Bharati Quarterly, May- Oct, 1947, p. 33

समर्थक हैं। उन्होंने स्वयं अपने आश्रम में बालकों को स्वतंत्र और आनन्दित रखने के सिद्धांत को व्यावहारिक रूप दिया। वह बालकों की स्वतंत्रता पर तनिक भी प्रतिबंध लगाना नहीं चाहते थे। उनके विचार में बालकों को धूल में खेलने की स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। खुली हवा से बढ़ कर स्वास्थ्यप्रद और आकाश से बढ़कर प्रेरणादायक अन्य कोई वस्तु नहीं है। सभी प्रकार की शारीरिक और मानसिक उन्नति के लिए स्वतंत्रता आवश्यक है। वह बालक को कक्षा के बंधन में भी नहीं बांधना चाहते क्योंकि अधिक मात्रा में किये जाने वाले नियमित कार्य, बालक के विकास में बाधा उपस्थित करते हैं। इसीलिए उनके आश्रम में, नित्य के पाठ-अध्ययन के अतिरिक्त बालक अपने मन के अनुसार अपनी रुचि के कामों और खेलों को चुनते हैं। उनका पढ़ना-लिखना पुस्तकों और अभ्यास-पुस्तिकाओं तक ही सीमित नहीं है। बालक कहानी कहते है, सुनते हैं और स्वतंत्रता पूर्वक अन्य कार्यों में भाग लेते हैं। आश्रम का वातावरण स्वतंत्रता को भावना से ओतप्रोत रहता है। बालकों पर किसी प्रकार का बाहरीं अनुशासन नहीं लादा जाता है; इसका परिणाम यह होता है कि उनमें बिना सिखलाये अपने आप उत्तर-दायित्व की भावना जाग्रत हो जाती है। बालक आश्रम को आत्मीयता की दृष्टि से देखते हैं।

रवीन्द्रनाथ का विचार है कि बालकों को किसी विशेष स्वभाव के अपनाने के लिए बाध्य नहीं करना चाहिए। प्रकृति ने बालकों को शक्ति का सर्वोत्तम दान दिया है। हमारे सभ्य परिवारों में, बालकों की इस शक्ति और शिष्टाचार के नियमों में बराबर संघर्ष चला करता है। अतः संकुचित सामाजिक व्यवहारों को उन पर लादना नहीं चाहिए। रवीन्द्रनाथ पद्धतियों की अपेक्षा मनुष्य की आत्मा में अधिक विश्वास करते हैं। उनका कहना है कि शिक्षा का प्रयोजन मन की मुक्ति है और मन की यह मुक्ति स्वतंत्रता के मार्ग पर चल कर ही प्राप्त की जा सकती है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि वह स्वतंत्रता में विश्वास करते हैं, तथापि यह स्वतंत्रता स्वच्छंदता नहीं है क्योंकि स्वच्छंदता के अर्थ में स्वतंत्रता निस्तत्व है। पूर्ण स्वतंत्रता की प्राप्ति सामाजिक संबंधों की पूर्ण संगति में ही की जा सकती है, जिनका अनुभव हम संसार में करते हैं।

उनका कहना है कि प्राचीन भारत में स्वतंत्रता का जो आदर्श रहा है, वह योरोपीय स्वतंत्रता के आदर्श से भिन्न है। योरोप में स्वतंत्रता का अर्थ भौतिक स्तर पर स्वतंत्र होने—खाने, पीने, मौज उड़ाने की स्वतंत्रता—से माना जाता है। इस प्रकार की स्वतंत्रता को बनाए रखने के लिए भी नाना प्रकार के साधनों की आवश्यकता पड़ती हैं। किन्तु भारतवर्ष में स्वाधीनता को इस रूप में कभी भी स्वीकार नहीं किया गया है। कारण, यहाँ 'इच्छा' और 'कर्म' के बंधन से भी स्वतंत्र होने का प्रयत्न किया गया है। वास्तविक स्वतंत्रता कीं प्राप्ति के लिए निरंतर साधना की आवश्यकता है। रवीन्द्रनाथ कहते हैं, 'स्वाधीन हो गये समझ लेनें से स्वाधीन नहीं हुआ जा सकता नियम अर्थात्

अधीनता के भीतर से बिना निकले स्वाधीन होना संभव नहीं।' यद्यपि देखने में यह कथन स्वतःविरोधी प्रतीत होता है तथापि उनके विचार में यह सत्य है कि 'परतंत्रता के भीनर से ही स्वतंत्रता के आने का पथ है।' तात्पर्य यह कि जितना ही व्यक्ति नियमों का पालन करता है उतनी ही उसकी आत्मा मुक्त होती जाती है।

वास्तविकता यह है कि रवीन्द्रनाथ बालक को शारीरिक स्वतंत्रता उसी मात्रा में देना चाहते हैं जहाँ तक वह प्राकृतिक वातावरण से शुभ शिक्षा एवं प्रेरणा ग्रहण कर सके। पर वह बालक को 'यम' और 'नियम' के पालन से मुक्ति नहीं देना चाहते। कारण, यम और नियम का बंधन बालक की वास्तविक स्वतंत्रता—आत्मा की मुक्ति—के लिए अनिवार्य है। वह बालक को समाज के अन्य सदस्यों के प्रति अपने कर्त्तव्य के बंधन से छुटकारा नहीं दिलाना चाहते, क्योंकि कर्त्तव्य पालन से स्वयं उसकी आत्मोन्नति होगी। हाँ, वह बालक को आज की भौतिक सभ्यता के कृत्रिम बंधनों से अवश्य मुक्त रखना चाहते हैं।

सामाजिक शिक्षा एवं स्वशासन—स्वतंत्रता को उपर्युक्त रूप में ग्रहण करते हुए रवीन्द्रनाथ का कहना है कि बालकों को सामाजिक व्यवहार के संपर्क में लाना चाहिए। समाज में रहकर ही बालकों का सम्यक् विकास संभव है। सामाजिक संपर्क में आने के लिए उन्हें अधिक से अधिक अवसर दिया जाना चाहिए जिससे उनके व्यवहारों में सामाजिकता आ सके। इस संबंध में रवीन्द्रनाथ के विचारों की तुलना प्रो० फ़िडले ने अमेरिका के दार्शनिक ड्यूई से की है। प्रो. फ़िडले के अनुसार "दोनों का ही पुनीत विश्वास है कि व्यक्ति का विकास समाज के अंदर रह कर ही संभव है। शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है तथा बालक की शिक्षा का आधार, सामाजिक प्रवृत्तियाँ हैं, फलतः शिकागो की प्रयोगशाला तथा बोलपुर के शांतिनिकेतन में पारिवारिक भावना का समावेश किया गया है। दोनों स्थानों पर बालक के सम्मुख समाज के जटिल संबंधों को अधिक सामान्य रूप में, लघुरूप में तथा आदर्शरूप में प्रस्तुत किया जाता है। दूसरे शब्दों में दोनों ही शिक्षाशास्त्रियों के विचार में शाला एक लघु समाज है।"† दोनों में यह समानता होते हुए भी ध्यान रहे कि दोनों के जीवन के लक्ष्य भिन्न होने के कारण दोनों के सामाजिक जीवन एवं सामाजिक वातावरण का आदर्श भिन्न है। ड्यूई वर्त्तमान में समाज की भौतिक उन्नति करना चाहते हैं, पर रवीन्द्रनाथ समाज को केवल साधन मानकर प्रत्येक व्यक्ति की आत्मोन्नति करना चाहते हैं।

बालकों में सामाजिक प्रवृत्ति के उचित दिशा में विकास के लिए, रवीन्द्रनाथ का कथन है कि उन्हें सहकारी क्रिया-कलापों में लगाना चाहिए। सहकारी क्रिया-कलाप न केवल बौद्धिक क्षेत्र में, वरन् शिक्षा के सभी क्षेत्रों में प्राप्य होने चाहिए। यहाँ यह ध्यान

---

† लक्ष्मी लाल के० ओड़ : रवीन्द्रनाथ ठाकुर का शिक्षा-दर्शन 'शिक्षा', जुलाई, १९५७ पृष्ठ २४

रखना आवश्यक होगा कि इन कार्यों के संपादन में बालक को 'स्वशासन' का भी अवसर प्राप्त हो। 'स्वशासन' के आधार पर बालक में स्वावलम्बन, सहयोग, उत्तरदायित्व आदि नैतिक गुणों का विकास होगा। 'स्वशासन', स्वतंत्रता एवं सामाजिक शिक्षा का आवश्यक अंग है और उन्हीं के फलस्वरूप प्राप्त होता है। रवीन्द्रनाथ के आश्रम-समाज में अनेक ऐसे कार्यों में बालकों को भाग लेना होता है जिनसे उनकी सामाजिक दृष्टि से स्वयमेव शिक्षा हो जाती है। दूर-दूर से आये हुए बालक बड़े स्नेह और मैत्री भाव से मिलकर रहते हैं, साथ-साथ भोजन करते हैं, खेलते हैं तथा अनेक सामाजिक उत्सव और पर्व मनाते हैं। भ्रमण, नाट्य-प्रयोग, संगीत और साहित्य प्रदर्शन आदि अनेक संगठन-संबंधी कार्यों में व्यावहारिक रूप से बालक सामाजिक भावना का विकास करते हैं। अध्यापकों और विद्यार्थियों में परस्पर प्रेम और आदर का भाव विद्यमान है और वे आश्रम के कार्य संचालन में सहयोग देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

क्रिया द्वारा शिक्षा—बालक प्रकृति से क्रियाशील होता है। वह पल भर भी निष्क्रिय नहीं रह सकता। वह अपनी ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियों और मन को सक्रिय रूप से प्रयोग करना चाहता है। अतः रूसो, ड्यूई, गाँधी आदि शिक्षा-शास्त्रियों की भांति रवीन्द्रनाथ बालक को वास्तविक क्रिया द्वारा शिक्षा देने के पक्ष में हैं। यहाँ यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि यद्यपि सामान्यतः ये सब 'क्रिया' पर बल देते हैं फिर भी भिन्न जीवनादर्श होने के कारण इन सबकी क्रियाओं एवं क्रिया-विधि में विभिन्नता है।

यदि हम रवीन्द्रनाथ के आश्रम पर दृष्टि डालें तो पता चलता है कि विभिन्न कार्यों द्वारा वहाँ पर बालक अपनी शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं आत्मिक उन्नति करते हैं। व्यायाम, आवास स्वच्छ रखना आदि कार्य बालक के शारीरिक विकास में सहायक हैं। प्रकृति एवं मनुष्यों से प्रत्यक्ष संबंध द्वारा बालक आरंभिक ज्ञान ग्रहण करते हैं और इस प्रकार उनका मानसिक विकास होता है। बाद में पुस्तकीय अध्ययन भी इस ओर सहायक होता है। ऋतुपर्व और उत्सव मनाना, अतिथि-सत्कार, बीमारों की सेवा, सहपाठियों, पड़ोसी ग्रामवासियों की सहायता और सेवा विद्यार्थियों में नैतिक अथवा सामाजिक गुणों का विकास करते हैं। शिष्टाचार के नियम, जैसे नमस्कार करना, दूसरों के साथ कैसे व्यवहार करना, भोजन के समय कैसे उठना बैठना आदि, वास्तविक परिस्थितियों में क्रियाओं द्वारा विद्यार्थियों को सिखाया जाता है। आत्मिक उन्नति के लिए सौन्दर्यबोध आवश्यक है; इस दिशा में संगीत की शिक्षा, चित्रांकन, प्रकृति का निरीक्षण एवं संपर्क-स्थापन आदि कार्य बालक को सहायता प्रदान करते हैं। प्रातः वेतालिक तथा दोनों समय समवेत उपासना बालक को 'आत्मीय एकता' का अनुभव कराती है। अतः विभिन्न कार्यों द्वारा बालक अपने संपूर्ण व्यक्तित्व का विकास करते हैं। बालक का यह विकास भारतीय परंपरा के सर्वथा अनुकूल है। कारण, जब कि अन्य शिक्षा-शास्त्री 'क्रिया द्वारा सीखने' (Learning by doing) पर बल देते हैं, भारतीय आदर्श क्रिया द्वारा

पूर्णरूप से जीने और 'जीने द्वारा सीखने' (Learning by living) पर बल देता है। रवीन्द्रनाथ को श्रेय है कि उन्होंने अपने आश्रम में इस सिद्धांत को व्यावहारिक रूप प्रदान किया।

रचनात्मक अभिव्यक्ति—रवीन्द्रनाथ के विचार में शिक्षा की कोई प्रणाली तब तक पूर्ण नहीं हो सकती जब तक उसमें बालक की रचनात्मक शक्ति की अभिव्यक्ति के लिए स्थान न हो। उनके अनुसार मनुष्य में 'दैहिक प्यास' के साथ ही एक और प्यास होती है और वह है अपने को व्यक्त करने की। अपनी इस प्यास की तृप्ति मनुष्य साहित्य संगीत, नृत्य, और चित्रकारी द्वारा करता है। यह प्यास इतनी प्रबल होती है कि इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। कारण, यह अंतर्वासी 'एक की वेदना है' जो रूप, स्वर, वाणी, नृत्य आदि किसी न किसी रूप में अपने को व्यक्त करना चाहती है। रवीन्द्रनाथ के जीवन-दर्शन और शिक्षा-दर्शन में पाठ्य-विषय पर विचार करते हुए हमने देखा कि ब्रह्म के तीन रूपों के अनुसार ही मानव आत्मा के भी तीन रूप हैं—'मैं हूँ,' 'मैं जानता हूँ' और 'मैं व्यक्त करता हूँ।' मनुष्य की यह प्यास उसकी आत्मा की 'मैं व्यक्त करता हूँ' की दिशा से संबंधित है। विभिन्न प्रकार के हस्त-कौशल और कलाओं के माध्यम से अभिव्यक्ति की कुशलता प्राप्त की जा सकती है, क्योंकि वे हमारी आध्यात्मिक भव्यता एवं अंतःप्रकृति के सहज उद्‌गार हैं। अतः रवीन्द्रनाथ रचनात्मक अभिव्यक्ति की क्षमता में वृद्धि करने पर, केवल व्यावहारिक जीवन के विचार से ही नहीं, वरन् आध्यात्मिक विचार से भी, विशेष बल देते हैं।

रवीन्द्रनाथ का कथन है कि मनुष्य अपने मन की बहुत-सी बातों को शब्दों में नहीं प्रकट कर पाता। अतः उसे रेखाओं, रंगों, ध्वनियों और गतियों के माध्यम से व्यक्त करने का ढंग सीखना चाहिए। इनमें पारंगत होकर वह केवल अपनी प्रकृति को ही नहीं व्यक्त करेगा, वरन् अपने 'अंतर्वासी' को व्यक्त करने के प्रयास में लगे हुए प्रत्येक देश और काल के मनुष्य को समझने की क्षमता भी प्राप्त करेगा। शिक्षा की उपयोगिता केवल तथ्यों को एकत्रित करने में नहीं है, वरन् मनुष्य को जानने और स्वयं को दूसरों के जानने देने में है। तथ्य यह है कि प्रत्येक मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि 'वह बुद्धि की भाषा पर अधिकार प्राप्त करने के साथ-साथ किसी सीमा तक व्यक्तित्व की भाषा पर भी अधिकार प्राप्त करे।' रवीन्द्रनाथ 'जीवन' के अभिव्यक्तीकरण संबंधी सभी क्रियायों के करने के लिए बालक को स्वतंत्रता और प्रोत्साहन देने का समर्थन करते हैं।

रवीन्द्रनाथ ने रचनात्मक अथवा सृजनात्मक क्रिया और निर्माण-क्रिया में भेद किया है। दोनों को एक नहीं माना जा सकता। कारण, दोनों के लक्ष्य में विभिन्नता है। उन्हीं के शब्दों में, "मनुष्य का सर्वोत्तम परिचय यह है कि 'मनुष्य स्रष्टा' है। आज की सभ्यता उसे मज़दूर बनाती है, मिस्त्री बनाती है और महाजन बनाती है। लोभ दिखाकर 'स्रष्टा' को छोटा बनाती है। मनुष्य निर्माण करता है व्यवसाय के लिए और 'सृष्टि' करता है

आत्मा की प्रेरणा से। व्यवसाय का प्रयोजन जब बहुत ज़्यादा बढ़ता ही जाता है, तब आत्मा की वाणी रुक जाती है।" अतः आत्मा की प्रेरणा को व्यक्त करना, स्रष्टा बनना विद्यार्थी के लिए आवश्यक है।

कल्पना का मुक्त विकास—स्रष्टा बनने के लिए विद्यार्थी को कल्पना करने की स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। कारण, प्रत्येक सृजन अथवा आविष्कार के मूल में कल्पना का अपना आवश्यक स्थान है। आज का मनोविज्ञान भी इसी तथ्य का समर्थक है कि कल्पना-शक्ति का यदि ठीक दिशा में निर्देशन किया जा सके तो यह शैक्षिक दृष्टिकोण से बड़ी ही लाभप्रद हो सकती है। आज का मनोविज्ञान अपने सिद्धांतों की पुष्टि प्रयोग, अनुसंधान तथा तर्क के आधार पर करता है। परन्तु रवीन्द्रनाथ नें आत्मानुभूति, चिन्तन तथा बालक के प्राकृतिक विकास के आधार पर इस शक्ति का महत्व पहचाना।

कल्पना करने को स्वतंत्रता केवल वयस्कों के ही लिए आवश्यक नहीं है वरन् बालक के लिए भी है। कल्पना के मुक्त प्रवाह द्वारा बालक अपनी उन इच्छाओं की तृप्ति कर लेता है जिनकी पूर्ति वास्तव जगत में कठिन और कभी-कभी पूर्णतया असंभव है। रवीन्द्रनाथ मांटेसरी से इस विषय में सहमत नहीं हैं कि कल्पना बालक को यथार्थ जगत से दूर ले जाती है। इसके विपरीत रवीन्द्रनाथ का कथन है कि यथार्थ जगत बड़ा कठोर है, वह बालक की भावनाओं का ध्यान नहीं रख सकता है। कल्पना द्वारा बालक क्षण भर में चन्द्रलोक और परीलोक की सैर कर लेता है। अतः कल्पना-जगत के सुख से बालक को वंचित कर देना मानो उसके जीवनको नीरस एवं निरानंद बना देना है। इसलिए रवीन्द्रनाथ, प्लेटो और मांटेसरी से भिन्न, छोटे बच्चों को काल्पनिक कहानियाँ सुनाने के पक्ष में हैं। कहानियाँ सुनने से बालकों में अनेक नैतिक गुणों का विकास होता है। कहानियाँ सुनते समय बालक जब कहानी के अनेक पात्रों के साथ एकाकार स्थापन करता है तो उसके बहुत से मनोद्वेगों को संतुष्टि प्राप्त होती है और कभी-कभी यदि उसके मन में भावना ग्रंथियाँ हैं तो उन्हें सुलझाने में उसे सहायता मिलती है। कहानियों द्वारा ही बालक में सृजन की भावना जागृत होती है और भविष्य में वह सृजन के लिए कल्पना करता है।

अचेतन मन और विशुद्ध वातावरण की आवश्यकता—रवीन्द्रनाथ के अनुसार बालक का अचेतन मन चेतन मन की अपेक्षा अधिक क्रियाशील होता है। अपने अचेतन मन के माध्यम से बालक जीवन के अनेक पाठ बिना किसी श्रम या थकान के सीख लेता है। पूर्व पीढ़ियों के संचित अनुभव भी वह इसी माध्यम के द्वारा प्राप्त करता है। ज्ञान की यह अचेतन शक्ति बालक के जीवन के साथ एकरस होती है। इस संबंध में रवीन्द्रनाथ ने बालक के विकास की तुलना एक वृक्ष से की है। जिस प्रकार वृक्ष अपने चारों ओर के वातावरण से अपने पोषक तत्वों को ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार

बालक भी अनजाने ही अपने समीपवर्त्ती वातावरण से प्रभावों को ग्रहण करता है। यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ बालक का विकास विशुद्ध, प्राकृतिक एवं सुशिक्षाप्रद वातावरण में चाहते हैं। उनके लिए शिक्षा के नियमों और प्रणालियों से भी बढ़कर महत्त्वपूर्ण वस्तु वातावरण है।

बालक एक विकासशील प्राणी है। अतः बालक के स्वस्थ मानसिक एवं आत्मिक विकास के लिए उसके चारों ओर प्राकृतिक सौन्दर्य के अतिरिक्त, आत्मीय-प्रेम से पूर्ण वातारण का होना आवश्यक है। आत्मीय-प्रेम से पूर्ण वातावरण का तात्पर्य है जहाँ गुरु और शिष्य परम उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एकत्रित हुए हों जहाँ दोनों साथ-साथ रहकर शारीरिक क्षुधा एवं आत्मिक क्षुधा की तृप्ति करें।† ऐसा ही आत्मीयता पूर्ण वातावरण, प्रत्येक पाठशाला में वांछनीय है।

शिक्षण-पद्धति

शिक्षण : बालक की प्रकृति के अनुरूप—रवीन्द्रनाथ वर्तमान शिक्षण-पद्धति से असंतुष्ट थे। उनके अनुसार बालक की प्रकृति के अनुरूप ही शिक्षण-पद्धति की व्यवस्था होनी चाहिए। बालक को शिक्षित करने के लिए केवल सविचार प्रशिक्षण की ही आवश्यकता नहीं है। शिक्षा प्राप्त करने के लिए स्वयं पहले बालक को ही अग्रसर होना चाहिए। अध्यापकों के विचार में बालक को शिक्षा देने का सर्वोत्तम साधन मन को एकाग्र करना है, किन्तु प्रकृति के अनुसार शिक्षा देने का सर्वोत्तम साधन मन को वितरित करना है। बालकों को चाहिए कि वे तथ्यों को अपने आप सीखें। इससे उनके मस्तिष्क को पूर्ण गतिशीलता और खोज का आनन्द प्राप्त होगा। अचानक सफलता प्राप्त करने पर उन्हें अपनी क्षमता का पता चलेगा। और इस तरह वे सृजनात्मक जीवन के पाठ सीखेंगे। यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ ने अपनी शिक्षण-पद्धति में खेल को एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

खेल और काम—रवीन्द्रनाथ की विशेषता यह है कि यद्यपि उन्होंने अपनी शिक्षण-पद्धति में खेल को महत्त्व दिया है फिर भी खेल और काम को विरोधी न ठहराकर, उन दोनों में सामंजस्य स्थापित किया है। उनके अनुसार बालक में अन्तर्निहित स्वाभाविक जिज्ञासा और सामाजिक प्रवृत्ति उसे उन क्रियाओं की ओर प्रवृत्त करती है जिन्हें वयस्क 'खेल' कहते हैं। यह ध्यान में रखने की बात है कि यद्यपि हम खेल को व्यर्थ का कार्य समझते हैं, तथापि बालक की चेतना के विकास के लिए वह एक गम्भीर क्रिया है। खेल की इस प्रक्रिया में दिवास्वप्न, कल्पना, वास्तविकता का निर्माण, वयस्क जिससे परे हैं, आदि क्रियाएँ सम्मिलित हैं। ये क्रियाएँ सभी बालकों के लिए सामान्य हैं। धीरे-

† तुलना कीजिए—ओं सह नाववतु। सहनौभुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

और बालक की प्रवृत्ति खेल-क्रियाओं की ओर से प्रयोजनपूर्ण क्रियाओं की ओर होती जाती हैं। खेल से प्रयोजनपूर्ण कार्यों की ओर अग्रसर होने के अवस्थान काल में ही बाह्य अनुशासन से बालक में आंतरिक अनुशासन उत्पन्न होता है। कारण, प्रयोजनपूर्ण कार्य में बालक अपने कार्य में निहित उद्देश्य को समझने लगता है और यही उद्देश्य आंतरिक अनुशासन की पुष्टि करता है। रवीन्द्रनाथ बालक की कल्पनापूर्ण खेल की प्रवृत्ति से पूर्णतया परिचित थे और यही कारण है कि शांतिनिकेतन में छोटी कक्षाओं के बालक खेल संबंधी अनेक क्रियाओं में मग्न रहते हैं। खेल की इस शिक्षण-प्रक्रिया में शिक्षक का कार्य है कि वह खेल को उद्देश्यपूर्ण बनाए। परन्तु कैसे? बालकों को शिक्षा देकर नहीं, वरन् उनके साथ खेलकर। सफल शिक्षक वही है जो बालक की इस प्रवृत्ति से परिचित है और उसको सद्कार्यों को ओर प्रेरित करता है।

रवीन्द्रनाथ बालक को आरंभ में खेल द्वारा शिक्षा देने के पक्ष में इसलिए और हैं कि ज़बरदस्ती और यान्त्रिक ढंग से दी हुई शिक्षा बालक के अन्दर आत्महीनता की भावना का विकास करती है। बालक के निर्माण काल में जब उसकी प्रवृत्तियाँ दबा दी जाती हैं और इस प्रकार जब उसमें आत्महीनता का भाव उदय हो जाता है तब वही बालक बाद में चलकर शारीरिक और आर्थिक दोनों दृष्टिकोणों से दुर्बल व्यक्तियों से बदला लेता है। खेल में बालक की प्रवृत्तियों का पूर्णरूप से अभिव्यक्तीकरण हो जाने पर उसके अंदर आत्महीनता की ग्रंथि-निर्माण का कोई प्रश्न ही नहीं उठता और स्वभावतः दूसरों को सताने और कष्ट देने की भावना का स्वयमेव निराकरण हो जाता है। खेल से न केवल बालक बल्कि किशोर और प्रौढ़ भी किसी सीमा तक इस दिशा में लाभ उठा सकते हैं। यांत्रिक शिक्षा का एक दोष और है। वह बालक को बाहरी संकेतों एवं सुझावों (**External suggestions**) के प्रति ठीक दृष्टिकोण निर्धारित करना नहीं सिखलाती। अतः बालक रेडियो, सिनेमा, समाचार-पत्र आदि द्वारा दिये गये सुझावों को एकदम बिना सोचे समझे ग्रहण कर लेता है। इस दोष से बचने के लिये रवीन्द्रनाथ बालकों को आरंभ में प्रकृति, मानव और आसपास के ग्रामीण वातावरण के प्रत्यक्ष संपर्क में रखना चाहते हैं ताकि इनसे प्रेरणा ग्रहण करके, वे बाह्य सुझावों को समझना सीखें और उनके प्रति प्रतिरोध करने की क्षमता उनमें उत्पन्न हो। उपर्युक्त दोनों प्रकार के दोष पाश्चात्य जगत में पाये जाते हैं और पाश्चात्य प्रणाली का अनुसरण करने के कारण हमारी शिक्षण-पद्धति में भी आ गये है। इनका हमें भरसक निराकरण करना चाहिए।

शिक्षण-प्रक्रिया में खेल के माध्यम से आरंभ में बालकों की मूल प्रवृत्तियाँ और उद्वेग प्रशिक्षित हो जाते हैं और उनमें कुछ अंशों में सहयोग की भावना जाग्रत हो जाती है। पर कुछ समय बाद खेल की प्रक्रिया में ही शिक्षक और छात्र के सम्मुख नैतिक और भावात्मक समस्याएँ उपस्थित होती हैं। रवीन्द्रनाथ कहते हैं कि साथ-साथ मिलकर रहने की कला केवल कोरे शिक्षा-दर्शन विषयक उपदेश से नहीं सीखी जा सकती है। खेल से

प्रयोजनपूर्ण कार्यों की ओर अवस्थान के संक्रमण-काल में जो नैतिक समस्याएँ उपस्थित होती हैं उन्हें बालक को स्वयं सुलझाना चाहिए। शिक्षक का कार्य उन समस्याओं के समाधान में केवल मार्ग निर्देश करना है। मार्ग निर्देशन की सबसे उत्तम विधि है बालक के कार्य—विशेषकर शारीरिक श्रम संबंधी कार्य—में शिक्षक स्वयं भी भाग लें। कारण यह है कि सभी कार्यों के पीछे (जो अब खेल नहीं हैं) कोई-न-कोई प्रयोजन अवश्य होता है। बालक की नैतिक समस्याओं के समाधन में यही 'प्रयोजन' सहायता करता है न कि शिक्षक। वास्तविकता यह है कि बालक के दैनिक कार्य उनके सामने नैतिक समस्याओं को ठोस कठिनाई के रूप में उपस्थित करते हैं और बालक से समाधान की माँग करते हैं। इसी समाधान की प्रक्रिया में बालक व्यावहारिक रूप से जीवन में नैतिक सिद्धांतों का मूल्य जान लेते हैं।

सविचार प्रशिक्षण—इस प्रकार खेल और काम तथा दिवा-स्वप्न एवं प्रयोजनपूर्ण संयोग के द्वारा विकास करके बालक किशोरावस्था में प्रवेश करता है। इस अवस्था में बालक को शिक्षा की आवश्यकता है, अतः उसका बौद्धिक प्रशिक्षण करके ज्ञान की प्राप्ति करानी चाहिए। विभिन्न विषयों का ज्ञान देते समय मुख्य बात जो ध्यान में रखनी चाहिए वह यह है कि तथ्य बालकों को इस प्रकार दिए जायँ जो 'उनके मन में आंदोलन' खड़ाकर दें, उनकी विचार-शक्ति को उत्तेजित करें और वह उन्हें और अधिक समझने की चेष्टा करें। इस संबंध में रवीन्द्रनाथ ने लिखा है, शब्द का अर्थ समझना ही बड़ी बात नहीं है। "शिक्षा का सबसे बड़ा अंग 'समझा देना' नहीं, बल्कि 'मन पर आघात करना' है। उस आघात के भीतर जो चीज़ बज उठती है, किसी बालक से यदि उसकी व्याख्या करने को कहा जाय, तो वह जो कुछ कहेगा वह महज़ लड़कपन जैसी ही कोई चीज़ होगी। किन्तु जो बात वह मुँह से कहता है उससे उसके मन में ध्वनित कहीं ज़्यादा होता है। जो लोग विद्यालय की शिक्षकता करके केवल परीक्षा द्वारा ही संपूर्ण फल निर्णय करना चाहते हैं वे इस चीज़ की कोई खबर ही नहीं रखते।"† इस कथन को उन्हीं के जीवन के कई अनुभवों से भली-भाँति समझा जा सकता है। 'जीवन स्मृति' में उन्होंने लिखा है कि 'बचपन में बहुत-सी बातें मेरी समझ में नहीं आती थीं, किन्तु वे मेरे मन में आंदोलन खड़ा कर देती थीं।' ...."बचपन में जब कि मैं अंग्रेज़ी कुछ नहीं जानता था तब बहुत-सी तस्वीरों वाली एक किताब 'ओल्ड क्युरिओसिटी शॉप' लेकर मैंने शुरू से आखीर तक पढ़ डाली थी। उसका मैं पन्द्रह-आना हिस्सा नही समझ सका था, अत्यन्त अस्पष्ट छाया-जैसी कोई चीज़ मन में बनाकर, नाना रंगों के छिन्न सूत्रों में गाँठ बाँध कर, उसी से मैंने अपने मन में तसवीरों को गूँथ लिया था। मैं किसी परीक्षक के हाथ पड़जाता तो एक बड़ा शून्य पाता, इसमें संदेह नहीं, किन्तु मेरे लिए वह पढ़ना उतना बड़ा शून्य नहीं हुआ।" रवीन्द्र-

†'रवीन्द्र-साहित्य', भाग १८, पृष्ठ ५१

नाथ के अनुसार सब कुछ समझ जाना ही नहीं वरन तत्वों का आभास पाना ही बालक की ज्ञान-वृद्धि लिये श्रेयस्कर है। यही कारण है कि हमारे देश में प्राचीन काल में कथक कहानियों में बड़े-बड़े संस्कृत के शब्द उपयोग करते या ऐसी तत्वकथाएँ लिखते जिन्हें श्रोतागण पूर्णरूप से समझ नहीं पाते थे, केवल उनका आभास पाते थे। इस आभास की प्राप्ति मात्र ही बालक के लिए महत्वपूर्ण है। कारण, 'अन्तरात्मा के अन्तःपुर में जो काम चल रहा है, बुद्धि के क्षेत्र में हर वक़्त उसका संवाद आकर नहीं पहुँचता।' रवीन्द्रनाथ का यह सिद्धांत आदर्शवादी शिक्षण पद्धति के सर्वथा अनुकूल है क्योंकि इसके अनुसार शिक्षक का कार्य बालक को एक संशय (Suspense) की स्थिति में ला देना मात्र है, बालक के लिए सब कुछ सरल बना देना नहीं। ज्ञान-प्राप्ति के लिए बालक को स्वतः क्रियाशील होना है।

रवीन्द्रनाथ बालक को संसार का पीढ़ियों दर पीढ़ियों द्वारा सभी क्षेत्रों में अर्जित ज्ञान प्रदान करना अवश्य चाहते हैं पर इस ज्ञान को देने की विधि में परिवर्तन चाहते हैं। शिक्षण प्रक्रिया में वह वस्तु-पाठ और प्रकृति-अध्ययन (Nature Study) पर बल देते हैं। वह विज्ञान के ज्ञान को केवल शिक्षक के मौखिक रूप से दिये गए व्याख्यान या केवल लेबोरेटरी में किये गये कार्य के आधार पर नहीं देना चाहते, वरन् सजीव प्रकृति के संपर्क एवं अध्ययन के रूप में। वह पाठ द्वारा केवल बौद्धिक प्रशिक्षण तथा खेल द्वारा केवल शारीरिक प्रशिक्षण में ही विश्वास नहीं करते वरन् बौद्धिक ज्ञानार्जन का हस्त-कार्यों के साथ समन्वय करना चाहते हैं। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह अपने आश्रम में तरह-तरह की उपयुक्त योजनाओं (Projects) की खोज, संचालन और पूर्ति के लिए आतुर रहते थे। सार रूप में सभी प्रकार का ज्ञान बालक की रुचि के आधार पर उसे प्रदान किया जाना चाहिए। बालक की विशेष क्षमता का आदर करना चाहिए। यही कारण है कि उन्होंने शांतिनिकेतन में विभिन्न विषयों के ज्ञान के लिए विभिन्न विभागों का आयोजन किया और विद्यार्थी को यह सुविधा प्रदान की कि वह अपनी रुचि अनुसार जिस विभाग में चाहे उसमें अध्ययन कर सकता है।

रवीन्द्रनाथ वर्तमान शिक्षा पद्धति से संतुष्ट नहीं हैं। स्कूलों और कालेजों में दी गई शिक्षा बालक आजीवन आत्मसात नहीं कर पाते। जबर्दस्ती लादा हुआ ज्ञान वे शीघ्र ही भूल भी जाते हैं। तथ्य यह है कि उनकी बुद्धियों को बिल्कुल ही प्रोत्साहित नहीं किया जाता है। पुस्तकें भी जो प्रयोग की जाती हैं उनका वास्तविक जीवन से अधिक संबंध नहीं होता। आज की शिक्षण-पद्धति की सब से बड़ी कमी यह है कि अधिकतर बालक तथ्यों एवं सिद्धांतों को रट लेते हैं, उन्हें समझते नहीं; कुछ व्यक्ति यदि किसी विषय का विशेष ज्ञान प्राप्त भी कर लेते हैं तो उनका ध्यान केवल ज्ञान के एक पक्ष तक ही सीमित रहता है, इसके अतिरिक्त यदि कुछ व्यक्ति सब विषयों का ज्ञान ग्रहण भी कर लेते हैं तो उनका ज्ञान व्यावहारिक नहीं होता। रवीन्द्रनाथ मन की तीनों शक्तियों का

विकास चाहते हैं। वह ज्ञान, प्रेम और क्रिया में सह-संबंध स्थापित करना चाहते हैं। यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ खेल द्वारा उद्वेगों के प्रशिक्षित होने और निकट के वातावरण से समायोजित हो जाने तथा विभिन्न विषयों का ज्ञान ग्रहण कर लेने में ही शिक्षा की समाप्ति नहीं स्वीकार करते। वह विषयों के ज्ञान के साथ-साथ संगीत कला आदि द्वारा बालक के संवेगों को स्थिर करना चाहते हैं। इसके उपरांत वह बालक को राष्ट्र को आर्थिक और सामाजिक वास्तविक परिस्थियों से व्यावहारिक रूप में परिचित कराना चाहते हैं; तत्पश्चात् विदेशी संस्कृतियों और उनके विभिन्न जीवनादर्शों से। इस प्रकार बालक को एक सफल नागरिक एवं विश्वनागरिक बनाने की क्षमता उनकी शिक्षा-व्यवस्था में निहित है।

शिक्षण का केन्द्र : संपूर्ण जीवन—शिक्षा के मुख्य तीन अंग हैं—शिक्षक, पाठ्य-विषय तथा शिक्षार्थी। शिक्षा-इतिहास पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि शिक्षण-प्रक्रिया में किसी न किसी अंग को एक समय पर प्रधानता मिलती रही। प्राचीन काल में हमारे देश में गुरु तथा उसका आध्यात्मिक अनुभव शिक्षण का केन्द्र माना जाता था और शिक्षा के अन्य अंगों को उसी के अनुरूप होना पड़ता था। फिर संसार भर में पाठ्य-विषयों को प्रधानता मिली। बालक की रुचि की उपेक्षा करके विषयों का अध्ययन अनिवार्य माना गया। आजकल बालमनोविज्ञान की प्रगति के कारण शिक्षा का केन्द्र बालक, उसकी रुचियाँ और अनुभव माना गया है। रवीन्द्रनाथ इन तीनों में से किसी भी अंग पर बल देने के पक्ष में नहीं है। कारण, ऐसा करने से साम्यता नष्ट हो जावेगी। शिक्षण का केन्द्र ऐसा होना चाहिए जिसमें इन तीनों को यथास्थान प्राप्त हो सके। वह केन्द्र है 'जीवन'; किसी विशेष बालक का जीवन नहीं और न मानव-जीवन के किसी विशेष पक्ष से संबंधित जीवन, वरन् जीवन अपने समग्र रूप में अर्थात् 'संपूर्ण' जीवन जो अपने श्रेष्ठतम एवं उत्कृष्ट रूप में अध्यापक और छात्र को मिलकर जीना है। 'संपूर्ण जीवन' को शिक्षण का केन्द्र मानने से शिक्षा के विभिन्न अंगों में, ज्ञान के विभिन्न पक्षों में अथवा विभिन्न विषयों में स्वभावतः सह-संबंध स्थापित हो जाता है। शिक्षा के वास्तविक उद्देश्य की प्राप्ति तब तक असंभव है जब तक शिक्षा का केन्द्र बालक का 'संपूर्ण जीवन' नहीं माना जायगा। 'संपूर्ण जीवन' के लिए बालकों में रुचियों के जाग्रत करने में ही शिक्षा की सफलता एवं सार्थकता है। उन सभी ज्ञानों, सभी सूचनाओं एवं सामाजिक प्रयोजनों की उपेक्षा की जानी चाहिए जो आध्यात्मिक जीवन की प्रेरणा से संयुक्त नहीं हैं। शिक्षक एक कलाकार है। वह बालक के जीवन का निर्माता है, उसे बालक के संपूर्ण जीवन का निर्माण करना चाहिए। पाठशाला को कुछेक कार्यों का स्थल नहीं होना चाहिए वरन् संपूर्ण जीवन से संबंधित कार्यों का। पाठ्यक्रम का लक्ष्य होना चाहिए बालकों को व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन के अभिव्यक्तीकरण के लिए अवसर प्रदान करना। बालक को कोई भी ऐसा ज्ञान नहीं ग्रहण करना चाहिए जो

उसके सामूहिक जीवन के रूप में उसकी कुशलता या प्रसन्नता में बाधा पहुँचाता हो। अतः पाठशालाओं में वातावरण की ओर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। शिक्षण-पद्धति का उद्देश्य होना चाहिए बालकों को नित्यप्रति के दैनिक जीवन का कार्यक्रम निर्धारित करने और मिलकर रहने में सहायता प्रदान करना, ताकि वे सब आनन्दपूर्वक सफल जीवन व्यतीत कर सकें।

एकता का सिद्धांत—शिक्षा-दर्शन के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ की मुख्य देन यह है कि उन्होंने सत्य की एकता (Unity of truth) और विचार की एकता (Unity of thought) पर विशेष बल दिया है। उनकी शिक्षा योजना में संपूर्णता एवं एकता के सिद्धान्त निहित हैं और वास्तव में उन्होंने इन सिद्धांतों को शान्तिनिकेतन तथा श्रीनिकेतन में व्यावहारिक रूप प्रदान किया। उन्होंने प्रकृति को बालक के विकास में एकसूत्रता लाने वाली शक्ति माना है। प्रकृति के कई रूप हैं, अतः उन्होंने उन सबको क्रमवद्ध किया है। बालक के लिए प्रकृति पराआत्म (Super-personal) की वृद्धि और विकास का अचेतन संकेत है जिसके संबंध में किसी प्रकार का प्रश्न पूछने की आवश्यकता नहीं है। वह बालक के स्वप्न और क्रीड़ा के लिए पृष्ठभूमि के रूप में सदैव प्रस्तुत रहती हैं। किशोरों के लिए वही प्रकृति वैज्ञानिक या लयात्मक जिज्ञासा (Lyrical Curiosity) का विषय बन जाती है। हमें प्रकृति के इन दोनों पक्षों पर बालक को शिक्षा देते समय ध्यान देना चाहिए। बाल्यावस्था और किशोरावस्था को पार कर चुकने वाला प्रौढ़ प्रकृति को मिट्टी के रूप में देखता है, जिसके ऊपर राष्ट्र और देशवासियों का विकास हुआ है और जो मनुष्य के आर्थिक तथा सांस्कृतिक विकास के लिए पृष्ठभूमि के रूप में है। अतः प्रकृति वह केन्द्र स्थल है जहाँ मनुष्य की रुचियाँ और आकांक्षाएँ आकर मिलती हैं। रवीन्द्रनाथ के अनुसार प्रकृति का जो ज्ञान प्रयोगशालाओं में प्राप्त किया जाता है, वह अकेले पर्याप्त नहीं है; वरन् जब हमारे मन के ज्ञानात्मक और क्रियात्मक पक्ष में संबद्धता स्थापित हो जाती है, अर्थात् जब हम प्रकृति को केवल जानते ही नहीं वरन् उसके अनुरूप जीवन व्यतीत करते हैं, तभी हम विशाल और गहन स्वतंत्रता की प्राप्ति करते हैं। 'यह स्वतंत्रता उसी को प्राप्त होती है, जो जंगल के वृक्ष की भाँति संघर्ष में आत्म-संतोष प्राप्त करता है और बाल्यावस्था के धुँधले स्वप्नलोक से क्रमशः प्रौढ़ता के स्पष्ट प्रकाश की ओर अग्रसर होता है।'‡ स्वतंत्रता स्वच्छंदता नहीं है। वास्तविक स्वतंत्रता विश्व को केवल जानने-मात्र में नहीं है, वरन् उससे समरस होने में, उससे एकरस होने में है। 'प्रेम और क्रिया' के माध्यम से ही पूर्ण ज्ञान को प्राप्ति की जा सकती है।

रवीन्द्रनाथ और फ्रॉबेल—रवीन्द्रनाथ को श्रेय है कि उन्होंने फ्रॉबेल की भाँति

---

‡The *Visva-Bharati Quarterly*, May-Oct., 1947, p. 37

शिक्षा के क्षेत्र में खेल, आनंद, स्वतंत्रता, आत्म-रचनात्मक अभिव्यक्ति, एकता आदि पारिभाषिक शब्दों को प्रविष्ट किया है और सभी प्रकार के ज्ञान में समन्वय और संबद्धता स्थापित करने का प्रयत्न किया है। फ़्रॉबेल की भाँति उन्होंने भी उन स्तरों का वर्णन किया है जिनसे होकर बालक प्रौढ़ता प्राप्त करता है—सर्वप्रथम वातावरण के प्रति-बालक के संवेगों की अनुकूलता, तत्पश्चात् बुद्धि की शिक्षा और प्रशिक्षण तथा अंत में अपनी व्यक्तिगत पृथकता को जानते हुए, अपने समाज तथा मानव-समाजों के प्रति अपने उत्तरदायित्वों को समझते हुए मानव-जाति में सूत्रबद्धता स्थापित करना।

यहाँ हमें यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि यद्यपि दोनों का लक्ष्य एक ही है अर्थात् एकता की प्राप्ति, तथापि दोनों की शिक्षण-विधियों में महान अंतर है। फ़्रॉबेल जड़ जगत् से 'उपहार' और 'व्यापार' को ईश्वर के प्रतीक रूप में स्वीकार करके, उनके सहारे से ईश्वर की एकता का बोध बालक को कराना चाहता है। इससे भिन्न रवीन्द्रनाथ स्पष्ट घोषणा करते हैं कि 'जो अंतर में हैं, उन्हें अंतर में ही जानो।' बाह्य उपादान उसकी प्राप्ति को और अधिक दुर्गम बना देते हैं। वास्तविकता यह है कि फ़्रॉबेल के नाना प्रकार के 'उपहार' और 'व्यापार' द्वारा बालक ऐंद्रियिक ज्ञान तो अवश्य किसी मात्रा तक ग्रहण कर लेता है, परन्तु उनके पीछे रहस्य को न समझने के कारण एकता का बोध प्राप्त करने में असफल रहता है।

फ्रॉबेल, रवीन्द्रनाथ की भाँति ही, वैयक्तिक और जातीय विकास में विश्वास करता है, पर वह यह बताने में अक्षम है कि व्यक्ति अपना भावी विकास किस प्रकार करे। इसका कारण यह है कि "फ़्रॉबेल ईश्वर को एक अमूर्त्त सिद्धांत—एकता के रूप में स्वीकार करता है, परंतु टैगोर ईश्वर को विश्व-पुरुष के रूप में मानते हैं, जो कि यथार्थ के अधिक समीप है तथा मानव-मन एवं जीवन के सभी अंगों को स्पर्श करने वाला है।.....वे आत्मिक संसार को इस संसार से पृथक् नहीं मानते, बल्कि इस संसार का ही अंतरतम सत्य मानते हैं।"† अतः रवीन्द्रनाथ ब्रह्म की मानव और प्रकृति में अभिव्यक्ति मानने के कारण, व्यक्ति के विकास का मार्ग प्रशस्त कर देते हैं। रवीन्द्रनाथ के अनुसार व्यक्ति का विकास उपदेश द्वारा संभव नहीं, वरन् एक विशिष्ट वातावरण में जीवन-यापन द्वारा ही संभव है। व्यक्ति का आत्मिक विकास प्राकृतिक सौंदर्य एवं परिवारिक भावना से पूर्ण आश्रम में निवास, नियम-संयम का जीवन, ललित कलाओं के माध्यम से कलात्मक भावनाओं के अभिव्यक्तीकरण, पास-पड़ोस के मानवीय समाज से संबंध और उसकी सेवा, तथा विश्व की विभिन्न संस्कृतियों में 'अनेकता में एकता' के सिद्धांत के आधार पर समन्वय तथा मानवता से प्रेम द्वारा ही

† लक्ष्मी लाल के० ओड़ : रवीन्द्रनाथ ठाकुर का शिक्षा-दर्शन, 'शिक्षा', जुलाई, १९५७ पृष्ठ २३

संभव है। निष्कर्ष रूप में, समस्त सृष्टि से समरस होकर ही व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान सकेगा।

तथ्य यह है कि ब्रह्म के त्रिविध स्वरूप—'सत्यं', 'ज्ञानं' और 'अनंतं' के अनुरूप हो मनुष्य की जो तीन दिशाएँ हैं, 'मैं हूँ', 'मैं जानता हूँ' और 'मैं व्यक्त करता हूँ, उनको केवल मनुष्य के जीवन में व्यक्तिगत स्तर पर ही क्रियान्वित नहीं होना चाहिए, वरन् सामाजिक और आध्यात्मिक स्तर पर भी। कारण, व्यक्तिगत स्तर पर कार्य करने से वह व्यक्ति को स्वार्थी बना देती हैं और व्यक्ति अपने सत्य-रूप से दूर हटता चलता है। यदि व्यक्ति 'एकता' का बोध प्राप्त करना चाहता है तो उसे अपनी तीनों दिशाओं को ब्रह्म के स्वरूप में समस्वर करना होगा। यह कैसे संभव है? 'मैं हूँ' का वास्तविक रूप तभी विकसित होगा जब व्यक्ति समझेगा कि 'औरों की स्थिति में ही मेरी स्थिति हैं'। 'मैं जानता हूँ' का वास्तविक रूप केवल अपने दैहिक अस्तित्व को बनाये रखने वाले उपादानों को जानना-मात्र नहीं है, वरन् 'अपनी ज्ञानमय प्रकृति के साथ संगति रखकर ज्ञान-विज्ञान को जानना ही यथार्थ जानना है'। इसी प्रकार 'मैं व्यक्त करता हूँ' का वास्तविक रूप तभी प्रदर्शित होगा जब व्यक्ति अपने वास्तविक अस्तित्व अर्थात 'अन्यों की स्थिति में अपनी स्थिति' की अनुभूति करके, अपनी ज्ञानमय प्रकृति से एकाकार स्थापित करके, इसी ज्ञान को अपने विविध कार्यों में अभिव्यक्त करता है। वह कार्य हैं—विभिन्न प्रकार की सेवाएँ और त्याग। व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप को जानकर, जब आनन्दमय हो उठता है तो वह अपने भावों को नाना प्रकार की ललित कलाओं के माध्यय से व्यक्त करता है। 'असीमता बोध' ही 'एकता' अथवा 'अद्वैत:' की प्राप्ति का साधन है।

जीवन-दर्शन पर आधारित संस्थाएँ

रवीन्द्रनाथ विश्वविद्यालयों को ज्ञान और विद्या के क्रय-विक्रय अथवा यांत्रिक प्रसार का केन्द्र नहीं मानते हैं। उनके विचार में विश्वविद्यालय ऐसे स्थल हैं, जिनके माध्यम से मनुष्य अपनी मानसिक संपत्ति दूसरों को देने में समर्थ होता है। इसके साथ ही मानवता की सेवा तथा विभिन्न संस्कृतियों, धर्मों और मानव-समूहों के बीच के विभेदों को दूर करने तथा उनमें समन्वय स्थापित करने की दृष्टि से उन्होंने विश्वभारती की स्थापना की कल्पना की। इन्हीं आदर्शों को लेकर विश्वभारती की स्थापना के निम्नांकित उद्देश्य माने गये—

(१) सत्य के विभिन्न पक्षों का साक्षात्कार करने में मानव-मन का अनेक दृष्टिकोणों से अध्ययन करना।

(२) अंतर्निहित एकता के आधार पर पूर्व की विभिन्न संस्कृतियों का सहिष्णुतापूर्वक अध्ययन, खोज तथा उनमें घनिष्ठ संबंध की स्थापना।

(३) प्राच्य जीवन और विचारों को दृष्टि में रखते हुए पाश्चात्य विचारधारा से समन्वय-स्थापन।

(४) पाश्चात्य और प्राच्य विचारों में संगति स्थापित करके विश्वशांति के लिए मौलिक स्थितियों को सुदृढ़ बनाना तथा दोनों का आदान-प्रदान करना। इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर एक सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में शांतिनिकेतन की स्थापना हुई और वहाँ साहित्य, धर्म, इतिहास, विज्ञान, कला, बौद्ध, हिंदू, जैन, इस्लाम, ईसाई और सिक्ख आदि धर्मों के अध्ययन की व्यवस्था की गयी। इन विभिन्न धर्मों तथा संस्कृतियों के अध्ययन, इनमें सहकारिता और सहचिंतन की भावना का प्रारंभ किया गया। जाति, धर्म, वर्ण आदि के भेदों के परे एक परमसत्ता के नाम पर पाश्चात्य और प्राच्य विद्वानों तथा चिंतकों को विचार-विनिमय करने का अवसर प्रदान किया गया। रवीन्द्रनाथ ने विश्वभारती में शिक्षा के लिए एक उचित वातावरण की सृष्टि की, जिसमें छात्रों की क्षमताओं का सम्यक् विकास हो सके।

भारत सरकार ने विश्वभारती को एक अधिनियम द्वारा विश्वविद्यालय का रूप दे दिया है जिसमें निम्नांकित विभाग शिक्षा, धर्म, संस्कृति और कला के क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं—

(१) पाठभवन, (२) शिक्षाभवन, (३) कलाभवन, (४) संगीतभवन, (५) विनयभवन, (६) शिल्पभवन, (७) श्रीनिकेतन, (८) हिंदीभवन और (९) चीनाभवन।

विश्वभारती के अंतर्गत शांतिनिकेतन और श्रीनिकेतन सांस्कृतिक और ग्रामीण विषयों के अध्ययन के मुख्य केन्द्र हैं। विश्वभारती की मुख्य विशेषता है शिक्षा के लिए उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत करना तथा रचनात्मक अभिव्यक्ति एवं कार्य-कलापों के लिए अवसर प्रदान करना। यहाँ छोटे बच्चों, बड़े बच्चों, युवक छात्रों और शोध-विभाग के छात्रों के लिए अलग-अलग छात्रावास हैं और महिलाओं के लिए अलग छात्रावास हैं। यहाँ विद्यार्थियों को खुले मैदानों में शिक्षा दी जाती है और उनके व्यक्तित्व के विकास पर मुख्य रूप से ध्यान दिया जाता है। यहाँ का पाठ्यक्रम इतना व्यापक बनाया गया है कि उसमें बालक की विभिन्न रुचियों के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था की गयी है। बालक के पूर्ण विकास के लिए उसके व्यक्तिगत और सामाजिक विकास, दोनों का पूर्ण ध्यान रखा जाता है। बालकों को आसपास के दीन-दुखी लोगों के संपर्क में आने और उन्हें जीवन के विविध पक्षों का अनुभव प्राप्त करने का अवसर दिया जाता है। इस प्रकार विश्वभारती को भारत में एक नये जीवन का प्रारंभ करने वाली शिक्षा-संस्था के रूप में देखा जा सकता है, जिसकी स्थापना में कविगुरु रवीन्द्रनाथ के शिक्षा-संबंधी आदर्श साकार रूप प्राप्त कर सके हैं।

सहायक-साहित्य

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

1. *Sadhana*
2. *The Religion of Man*
3. *The Creative Unity*
4. *Personality*
5. *Nationalism*
6. *Reminiscences*
7. *Crisis in Civilisation*
8. *A Vision of India's History*
9. *The Centre of Indian Culture*
10. *A Poet's School,* Visva-Bharati Bulletin No 9, 1928
11. *Ideals of Education,* Bulletin No 14, 1929
12. *Education for Rural India,* Visva-Bharati, Education-Number, 1947
13. *Art in Education,* Visva-Bharati, Jan., 1941
14. *The Philosophy of Leisure,* Visva-Bharati Bulletin No 14, 1929
15. *Thoughts on Education,* Visva-Bharati Vol. XIII 1947
16. *The Place of Music in Education and Culture,* Ibid

अन्य लेखक

1. V. S. Narvane : *Rabindranath Tagore—A Philosophical Study*
2. S. Radhakrishnan : *Great Indians*
3. Edward Thompson : *Rabindranath Tagore, His Life and Works*
4. *Rabindranath and His Ashram School,* Visva Bharati Vol XIII, 1947
5. *Rabindranath's Contribution to Education in India,* Ibid
6. *Rabindranath's Educational Ideals and The West,* Ibid

महात्मा गांधी

जीवन और कार्य

भारतीय संत-परंपरा में सत्य और अहिंसा, धार्मिक जीवन के मेरुदंड रहे हैं और धर्म के दस लक्षणों में इनकी गणना होती आ रही है। आदर्श और व्यक्तिगत आचरण के रूप में इनका चरम उत्कर्ष अनेक महापुरुषों के जीवन में देखा जाता है किंतु जीवन के व्यापक व्यावहारिक क्षेत्र में इनके प्रयोग का प्रयत्न महात्मा गाँधी के जीवन में ही दृष्टिगोचर होता है जिन्होंने अपने संपूर्ण जीवन को ही सत्य का प्रयोग माना और अपने समस्त कार्य-कलापों को इनके द्वारा अनुशासित एवं नियंत्रित किया। सत्य और अहिंसा के प्रयोग-कर्त्ता के रूप में ही उन्होंने हमारे संपूर्ण जीवन को प्रभावित किया। हमारे जीवन का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है, जिस पर उनका प्रभाव न पड़ा हो। प्रभाव की इसी समग्रता के कारण ही इस शताब्दी का उत्तरार्द्ध हमारे राष्ट्रीय इतिहास में गांधी-युग के नाम से सदैव स्मरण किया जायेगा। उन्होंने सत्य और अहिंसा के द्वारा न केवल राष्ट्र को स्वतंत्र कराने का चमत्कारपूर्ण कार्य किया वरन् धर्म, समाज, राजनीति, शिक्षा आदि सभी क्षेत्रों में नूतन स्पन्दन भरा और दासता से आक्रांत राष्ट्र को नवीन आलोक से उद्भासित किया। इस प्रकार राष्ट्र को नई चेतना और नया जीवन प्रदान करने के कारण ही वह 'राष्ट्रपिता' के नाम से संज्ञापित हुए।

बाल्यावस्था और शिक्षा—गांधीजी (मोहनदास करमचंद गांधी) का जन्म, काठियावाड़ के पोरबंदर नामक स्थान में, २ अक्टूबर, सन् १८६९ ई० को हुआ था। इनका परिवार समृद्ध था और इनके पिता करमचंद गांधी पोरबंदर राज्य के दीवान थे। इनकी माता का नाम पुतलीबाई था। करमचंद गांधी साधारण पढ़े-लिखे किंतु एक अनुभवी, निर्भीक तथा राज-काज में कुशल व्यक्ति थे। गांधीजी की माता साध्वी और निष्ठावान स्त्री थीं। धर्म, व्रत और उपवास में उनका दृढ़ विश्वास था। गांधीजी ऐसे ही आदर्श माता-पिता की अंतिम संतान थे।

गांधीजी की बाल्यावस्था पोरबंदर में ही व्यतीत हुई। वहाँ की एक पाठशाला में यह आरंभिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए भर्त्ती किये गये। यह एक साधारण बुद्धि के बालक थे और पढ़ने-लिखने में इनकी रुचि कम ही थी। जब गांधीजी सात वर्ष के हुए तब इनके पिता दीवान होकर राजकोट चले आये। वहाँ की एक पाठशाला में गांधी जी का नाम लिखाया गया। गांधीजी संकोची स्वभाव के बालक थे, अतः वह अपने सह-

पाठियों के संपर्क से बचने का प्रयत्न करते थे और छुट्टी होते ही पाठशाला से घर चले आते थे। माता-पिता की सेवा में उनका मन खूब लगता था, अतः पाठशाला के समय के उपरान्त ये उनकी सेवा में लगे रहते थे। इस समय इन्होंने 'श्रवणपितृ-भक्ति' नाटक पढ़ा और 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक का अभिनय देखा। इन दोनों का प्रभाव उनकी भावनाओं पर पड़ा। सत्य के प्रति अनुरक्ति का बीजारोपण इसी अवस्था में इनके मन में हो गया जिसका विकास इनके भावी जीवन में दृष्टिगोचर होता है।
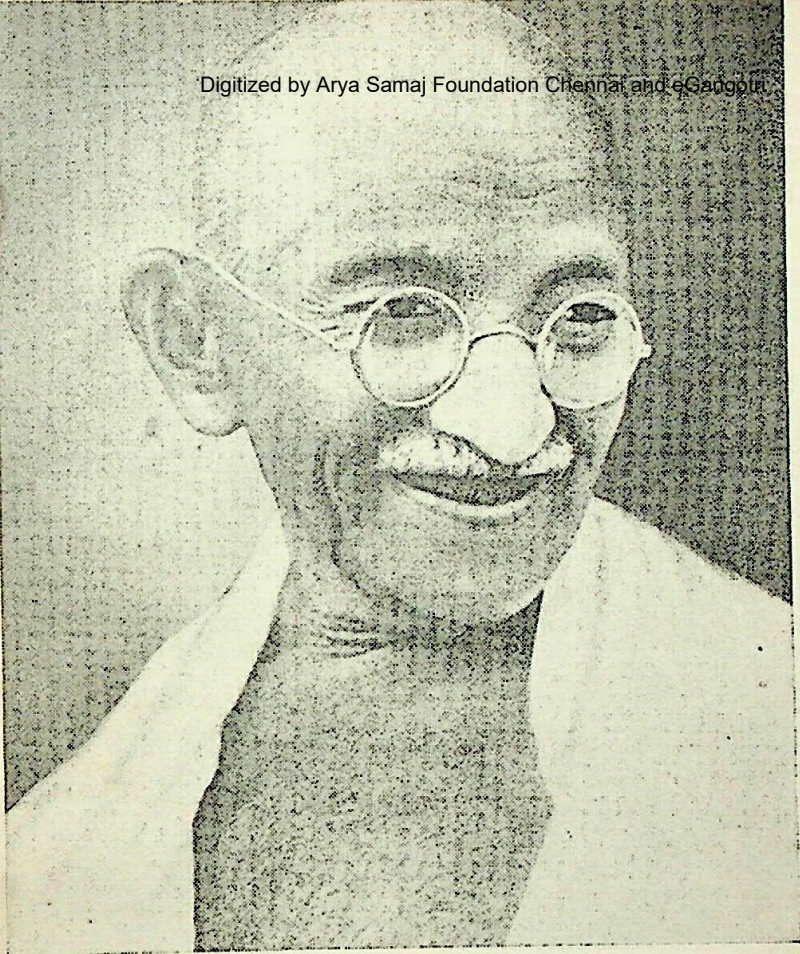
पाठशाला में इन्हें किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा नहीं मिली, किंतु इसकी पूर्ति घर के वातावरण से हो गयी। बचपन में गांधीजी भूत-प्रेत से डरते थे किन्तु इनके घर की पुरानी नौकरानी रम्भा ने इन्हें बताया कि भूत-प्रेत की एकमात्र औषधि रामनाम का जप है। यद्यपि गांधीजी रामनाम का जप अधिक दिनों तक नहीं कर सके, फिर भी इसका प्रभाव इनके जीवन के अंत तक बना रहा। गांधीजी का परिवार वैष्णव था। वह अपने माता-पिता के साथ हवेली जाते थे। उनके माता-पिता गांधीजी और इनके भाइयों को हवेली, राममंदिर और शिवालय ले जाते थे, अतः इनके हृदय में हिंदूधर्म के सभी संप्रदायों के प्रति सम्मान की भावना उत्पन्न हुई। इसके अतिरिक्त गांधीजी के पिता के पास जैन, पारसी और मुसलमान सभी धर्मों के अनुयायी मित्र आते थे और अपने-अपने धर्मों की चर्चा किया करते थे। पिता की सेवा करते समय ये इन बातों को सुना करते थे, अतः ऐसे वातावरण में इनके मन में सभी धर्मों के प्रति समभाव का जागरण हुआ।

इसी समय गांधीजी को अपने पिता की पुस्तकों में 'मनुस्मृति' का अनुवाद मिल गया। इसे पढ़ कर गांधीजी के मन में यह विश्वास दृढ़ हो गया कि यह संसार नीति पर टिका हुआ है। उन्होंने यह अनुभव किया कि नीति का समावेश सत्य में है। इसी समय नीति-विषयक एक छप्पय में उन्होंने पढ़ा कि अपकार का बदला अपकार नहीं, वरन् उपकार ही हो सकता है। इस छप्पय में मानो उन्हें जीवन का सूत्र प्राप्त हो गया।

तेरह वर्ष की अल्पायु में ही गांधीजी का विवाह कस्तूरबाई के साथ हुआ। इस समय गांधीजी हाई स्कूल में पढ़ रहे थे। अब पढ़ने-लिखने में उनका मन लगने लगा था और उनकी गणना मंद बुद्धि के छात्रों में नहीं होती थी। गांधीजी अपने सदाचरण के प्रति सदा सजग रहते थे, फिर भी कुसंगति में पड़ कर उन्होंने एक बार मांसाहार और धूम्रपान कर लिया था। उन्होंने अपने इस अपराध की सूचना एक पत्र द्वारा पिता को दी और अपने दोष को स्वीकार करते हुए भविष्य में ऐसा न करने का वचन दिया।

शैक्षिक दृष्टि से गांधीजी के कुछ अनुभव बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। जब वह सातवीं कक्षा में पढ़ रहे थे तब प्रधानाध्यापक ने उच्च कक्षाओं के सभी छात्रों के लिए व्यायाम, क्रिकेट, फ़ुटबॉल आदि खेलों में भाग लेना अनिवार्य कर दिया था। इसके पूर्व गांधीजी खेल-कूद में कभी भाग नहीं लेते थे। उनका विचार था कि खेल-कूद से शिक्षा का कोई संबंध नहीं है। किंतु अपने जीवन में आगे चल कर उन्होंने यह अनुभव किया कि शिक्षा में मानसिक और

शारीरिक दोनों प्रकार की शिक्षाओं का समावेश होना चाहिए। इसी प्रकार का एक और भ्रम उनके मन में आरंभ से ही था। वह शिक्षा में सुलेख को आवश्यक नहीं मानते थे। किंतु बाद में उन्होंने स्वीकार किया कि अक्षरों का सुंदर न होना अपूर्ण शिक्षा का लक्षण है। सुलेख न लिख सकने का परिणाम यह भी हो सकता है कि बालक में आत्म-हीनता की भावना का प्रवेश हो जाय। गांधीजी को संस्कृत पढ़ने में कठिनाई प्रतीत होती थी। एक दिन वह संस्कृत की कक्षा में न बैठकर फ़ारसी की कक्षा में बैठ गये। उनके इस कार्य से संस्कृत के अध्यापक को बड़ा कष्ट हुआ। अध्यापक ने उनसे उनकी कठिनाइयों के विषय में पूछा और उन्हें पुनः संस्कृत-कक्षा में बैठने का आदेश दिया। गांधीजी अपने शिक्षक के स्नेह की अवहेलना न कर सके। इस घटना के संबंध में उन्होंने लिखा है, 'आज मेरी आत्मा कृष्णशंकर पंड्या की कृतज्ञ है क्योंकि जितनी संस्कृत मैंने उस समय पढ़ी, यदि उतनी भी न पढ़ा होता तो आज मैं संस्कृत शास्त्रों का जो रसा-स्वादन कर पाता हूँ, वह न कर पाता। बल्कि अधिक संस्कृत न पढ़ सका, इसका पछ-तावा है। आगे चल कर मैंने समझा कि किसी भी हिंदू बालक को संस्कृत के अध्ययन से वंचित नहीं रहना चाहिए।'

सन् १८८५ ई० में गांधीजी ने मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की और श्यामलदास कॉलेज, भावनगर में उच्चशिक्षा के लिए प्रविष्ट हुए।

विलायत के लिए प्रस्थान—कॉलेज की शिक्षा में गांधीजी का मन नहीं लगता था। विषय कठिन प्रतीत होते थे। इसी समय इनके पिता के मित्र मावजी दवे ने यह परा-मर्श दिया कि मोहनदास को इंगलैंड जाकर बैरिस्टरी की शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए। गांधीजी के परिवार के लिए यह सर्वथा नयी बात थी। बड़ी कठिनाई से इनकी माता और भाई सहमत हो सके। किंतु माता ने इनसे यह प्रतिज्ञा करवायी कि यह मांस, मदिरा और स्त्री-संग से दूर रहेंगे। भाई और माता की अनुमति तो मिल गयी किंतु इनकी जातीय पंचायत 'ने विदेश-यात्रा को धर्मविरुद्ध बताकर इनके विलायत जाने का विरोध किया। गांधीजी ने इस विरोध की चिंता न की, और अन्त में ४ सितंबर, सन् १८८८ ई० को विलायत के लिए प्रस्थान किया।

गांधीजी निरामिषभोजी थे इसलिए यात्रा करते समय जहाज़ पर और लंदन-निवास-काल में इन्हें भोजन-संबंधी असुविधाएँ उठानी पड़ीं। लंदन में उस समय केवल चार ही निरामिष भोजनालय थे। गांधीजी या तो इन भोजनालयों में भोजन करते या कभी-कभी स्वयं भोजन बना लेते थे। लंदन में इन्होंने निरामिष भोजन के विषय में कई पुस्तकें पढ़ीं जिससे सात्विक आहार की उपयोगिता पर इनका विश्वास दृढ़ हो गया। उसी समय से भोजन-संबंधी प्रयोगों में इनकी जो रुचि उत्पन्न हुई वह आजीवन बनी रही। गांधीजी ने लंदन में 'अन्नाहारी मंडल' की स्थापना की जिसके अध्यक्ष डा० ओल्डफील्ड, उपाध्यक्ष एडविन अर्नाल्ड तथा मंत्री स्वयं थे।

लंदन में रहते समय गाँधीजी ने एडविन अर्नाल्ड द्वारा किया गया गीता का अनुवाद पढ़ा जिससे गीता की दिव्यता पर उनकी श्रद्धा बढ़ी। गांधीजी ने बैरिस्टरी की तैयारी करते हुई अन्य महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का अध्ययन भी किया। उनका संपर्क डॉ० एनीबेसेंट तथा अन्य थियोसोफ़िस्ट लोगों से भी हुआ। इसी समय उन्होंने बुद्ध-चरित (Light of Asia) और बाइबिल का अध्ययन किया। इन तीनों पुस्तकों ने उनके जीवन और विचारों को अत्यधिक प्रभावित किया। इनके अध्ययन के सारतत्व के रूप में वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'त्याग में ही धर्म' है। १० जून, सन् १८९१ ई० को बैरिस्टर होकर इन्होंने भारत के लिए प्रस्थान किया। गांधीजी जब बंबई पहुँचे तब इनके मित्र डा० मेहता ने गुजरात के कवि-दार्शनिक श्री रायचंद भाई से इनका परिचय कराया। रायचंद भाई सत्य और अहिंसा की मूर्ति थे। गांधीजी को उनसे धार्मिक प्रेरणा प्राप्त हुई और आगे भी वह समय-समय पर धर्म-विषयक शंकाओं के निवारण के लिए उनसे परामर्श करते रहे।

दक्षिण अफ्रीका की यात्रा—गांधीजी बैरिस्टर तो हो गये, किंतु स्पष्ट ढंग से बोलने, निर्भीकता से तर्क करने और न्यायालय में अपने पक्षको उपस्थित कर सकने का अभ्यास उन्हें नहीं था। अतः मित्रों की राय से, बंबई हाईकोर्ट में जाकर कुछ दिनों तक अनुभव प्राप्त करने का उन्होंने निश्चय किया। बंबई पहुँचकर गांधीजी ने क़ानून का अध्ययन और भोजन का प्रयोग, दोनों को साथ-साथ चलाया। क़ानून के पेशे में उन्हें विशेष सफलता नहीं मिल सकी और वह पाँच-छः मास बाद पुनः राजकोट चले आये। राजकोट आकर इन्होंने अपनी वकालत का कुछ सिलसिला जमाया ही था कि सेठ अब्दुल्ला की फ़र्म के एक हिस्सेदार ने एक मुक़दमे के संबंध में इन्हें दक्षिण अफ़्रीका बुलाया। अतः अप्रैल सन् १८९३ ई० में गांधीजी दक्षिण अफ़्रीका चले गये।

दक्षिण अफ़्रीका में गांधीजी को अनेक कटु अनुभव प्राप्त हुए। प्रवासी भारतीयों को वहाँ नानाप्रकार से पीड़ित और अपमानित किया जाता था। रंग-भेद के आधार पर ऐसे क़ानून बनाये गये थे जिनसे विवश होकर प्रवासी भारतीय दक्षिण अफ़्रीका छोड दें। उन्हें ट्रेन में उच्च श्रेणी में यात्रा करने, सड़क की पटरी पर चलने आदि के अनेक अधिकारों से वंचित कर दिया गया था। भारतीय होने के कारण स्वयं गांधीजी को कई बार अपमानित होना पड़ा। एक बार यह सेठ अब्दुल्ला के फ़र्म के मुकदमे के बारे में डरबन से प्रिटोरिया जा रहे थे। इनके पास प्रथम श्रेणी का टिकट था फिर भी इन्हें ट्रेन से उतार दिया गया, इनका सामान फेंक दिया गया और रात भर यह शीत में ठिठुरते रहे। इस घटना ने इन्हें न केवल भारतीयों वरन् मानवता के प्रति कर्त्तव्य का बोध कराया और इसी दिन से इनकी सक्रिय अहिंसा का प्रारंभ हुआ। इन्होंने दक्षिण अफ़्रीका के प्रवासी भारतीयों को तत्कालीन परिस्थिति से परिचित कराया और अपने अधिकारों की रक्षा के लिए सचेत किया। इन्होंने जाति-धर्म की भेद-भावना को दूर करके समस्त

भारतीयों को संगठित होने के लिए आह्वान किया। गांधीजी के इस प्रयत्न के फलस्वरूप एक मण्डल की स्थापना हुई जिसके द्वारा गांधी जी ने भारतीयों के कष्टों के निवारणार्थ सरकारी अधिकारियों से पत्र-व्यवहार किया। अधिकारियों ने भारतीयों के प्रति सहानुभूति प्रकट की, उनके कष्टों को दूर करने की माँग को न्यायोचित माना और गांधीजी को इस दिशा में थोड़ी सफलता भी प्राप्त हुई।

दक्षिण अफ्रीका में अन्य कार्यों के साथ-साथ, गांधी जी के धार्मिक विचारों का मंथन भी चलता रहा। उनके मुसलमान व ईसाई मित्र उन्हें अपने धर्म में लाना चाहते थे। इस स्थिति में धर्म का वास्तविक रूप जानने के लिए उन्होंने बाइबिल और क़ुरान का अध्ययन किया; मैक्समूलर-कृत 'भारत क्या सिखाता है ?' तथा उपनिषदों के अनुवाद को भी उन्होंने पढ़ा। इस संबंध में उन्होंने रायचंद भाई से पत्रों के द्वारा कई बार विचार विमर्श किया। रामचंद भाई के पत्रों से उनके मन में हिन्दू धर्म के प्रति श्रद्धा बढ़ी, किंतु साथ ही, अन्य धर्मों के प्रति उनके मन में सहिष्णुता का संचार हुआ। टॉलस्टॉय की पुस्तक 'द किंगडम ऑफ़ गॉड इज़ विदिन यू' के अध्ययन का भी गांधीजी के ऊपर वशेष प्रभाव पड़ा। रायचंद भाई से अहिंसा और टॉलस्टॉय से प्रेम का पाठ उन्होंने पढा। टॉलस्टॉय से हस्तकौशल या व्यवसाय के माध्यम से शिक्षा प्रदान करने का विचार भी ग्रहण किया, जिसे भविष्य में उन्होंने अपनी शिक्षा-योजना का प्रमुख अंग बनाया।

सेठ अब्दुला की फ़र्म के जिस मुकदमे के संबंध में गांधीजी दक्षिण अफ़्रीका गये थे उसका निर्णय हो जाने पर वह भारत वापिस लौटने की तैयारी करने लगे। किंतु इसी समय उन्हें ज्ञात हुआ कि प्रवासी भारतीयों को नेटाल की काउंसिल के लिए सदस्य निर्वाचित होने के अधिकार से वंचित करने के लिए एक बिल पेश हो रहा है। अतः भारतीयों के अधिकारों की रक्षा के लिए उन्हें वहाँ रुकना पड़ा। असेम्बली में इस बिल पर जब वाद-विवाद चल रहा था तभी गांधीजी ने बिल के विरोध में, भारतीयों से हस्ताक्षर करा के एक आवेदन-पत्र भेजा। यद्यपि इस आवेदन-पत्र पर सरकार ने ध्यान नहीं दिया और वह बिल स्वीकृत भी हो गया फिर भी इस काम से भारतीयों में नयी जागृति उत्पन्न हुई। यह पहला अवसर था जब प्रवासी भारतीयों ने अपने अधिकारों की रक्षा के लिए संगठित होकर प्रयास किया था। इस बिल के विरोध में आंदोलन जारी रखने के लिए गांधीजी ने सन् १८९४ ई० में 'नेटाल इंडियन कांग्रेस' की स्थापना की। इसी वर्ष दक्षिण अफ़्रीका की सरकार ने प्रत्येक गिरमिटिया भारतीय (गिरमिटिया पाँच वर्ष का अनुबंध-पत्र लिखकर दक्षिण अफ़्रीका में मज़दूरी करने जाता था) पर पच्चीस पौंड वार्षिक कर लगाने के क़ानून का मसविदा तैयार किया। नेटाल काँग्रेस ने गांधीजी के नेतृत्व में इस कर का विरोध किया जिसके फलस्वरूप सरकार ने पच्चीस पौंड के स्थान पर कर को घटा कर तीन पौंड कर दिया। कांग्रेस को यह तीन पौंड का कर भी अन्यायपूर्ण प्रतीत हुआ और उसने निश्चय किया किसी न किसी दिन इस कर को भी हटाना है।

गांधीजी के दक्षिण अफ़्रीका में इस प्रकार समाज-सेवा में तन्मय होने का कारण उनकी आत्म-साक्षात्कार की प्रवृत्ति थी। उन्होंने सेवा-धर्म इसीलिए स्वीकार किया था कि 'ईश्वर की पहिचान सेवा से होगी।' प्रवासी भारतीयों को अधिकार दिलाने में समय लगेगा इस कारण अपने कुटुंब को लेने तथा भारत में दक्षिण अफ़्रीका के प्रवासी भारतीयों के पक्ष में जनमत तैयार करने के विचार से गांधीजी भारत आये। यहाँ आकर उन्होंने लोकमान्य तिलक, गोखले आदि भारतीय नेताओं से भेंट की और दक्षिण अफ़्रीका की स्थिति का परिचय उन्हें दिया। इसी बीच दक्षिण अफ़्रीका से एक तार आया जिसके अनुसार गांधीजी अपने कुटुंब के साथ सन् १८९७ ई० में फिर दक्षिण अफ़्रीका लौट गये। जहाज़ से उतरने पर गोरों की उत्तेजित भीड़ ने उन पर हमला किया और उन्हें अपमानित करने का कोई भी प्रयत्न शेष नहीं रखा, किंतु गांधीजी धैर्य पर अटल रहे। हमला शांत होने पर वह डरबन में उतरे।

बोअर युद्ध; फ़िनिक्स आश्रम की स्थापना

दक्षिण अफ़्रीका में अहिंसात्मक प्रतिकार द्वारा भारतीयों के पक्ष का समर्थन करके गांधीजी अंग्रेज़ों का विरोध अवश्य कर रहे थे किंतु जब-जब अंग्रेज़ों पर विपत्ति आयी, उन्होंने उनकी सहायता भी की। यह कार्य उनकी अहिंसात्मक नीति के सर्वथा अनुकूल था। सन् १८९९ ई० में जब बोअर युद्ध आरंभ हो गया तब गांधीजी ने यथाशक्ति अंग्रेज़ों की सहायता की। उन्होंने रेडक्रॉस सोसाइटी द्वारा आहतों की सेवा-सुश्रूषा की। बोअर युद्ध समाप्त होने के पश्चात् सन् १९०१ ई० में, नेटाल में मि० खान और मि० मनसुखलाल नाज़र को कांग्रेस का कार्य सौंप कर और आवश्यकता पड़ने पर पुनः आने का आश्वासन देकर गांधीजी भारत आये। यहाँ आकर उन्होंने देश की स्थिति का अध्ययन किया और बम्बई में अपनी वकालत शुरू की ही थी कि उन्हें दक्षिण अफ़्रीका में सत्याग्रह-आंदोलन को जारी रखने के लिए पुनः वापस लौटना पड़ा। उन्होंने अपने परिवार को भारत में ही छोड़ दिया। सन् १९०४ ई० में गांधीजी ने अहिंसात्मक संघर्ष को तीव्र करने के लिए 'इंडियन ओपिनियन' नामक पत्रिका का प्रकाशन आरंभ किया। इस पत्रिका के संचालन-प्रकाशन में व्यय अधिक होता था, अतः कम व्यय में उसे सुचारु रूप से संचालन करने के लिए गांधीजी ने डरबन के समीप फ़िनिक्स आश्रम की स्थापना की। इस आश्रम की स्थापना उन्होंने रस्किन की पुस्तक—'अन टू दिस लास्ट'—के आदर्शों पर की, जिसका अध्ययन गांधीजी ने हाल में ही किया था। इस पुस्तक के संबंध में गांधीजी ने लिखा है, 'मेरे जीवन में यदि किसी पुस्तक ने तत्काल महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कर डाला तो यह वही पुस्तक है।' बाद में गांधीजी ने इस पुस्तक का अनुवाद 'सर्वोदय' के नाम से किया। फ़िनिक्स आश्रम के निवासी पवित्रता, स्वाद-संयम, स्वेच्छा से दीन जीवन व्यतीत करना, शारीरिक परिश्रम, निर्भयता, आत्म-निर्भरता और सहनशीलता आदि गुणों का पालन करते थे। वहाँ रहनेवालों के लगभग तीस बच्चे गांधीजी के आदर्शों पर शिक्षा

प्राप्त करते थे। बालक तीन घंटे पढ़ते, दो घंटे खेती करते और दो घंटे प्रेस का काम करते थे। इसके अतिरिक्त यदि रात में समय मिलता तो बच्चे अपने आप पढ़ते थे। यहाँ साहित्यिक शिक्षा की अपेक्षा चरित्र-निर्माण पर विशेष बल दिया जाता था। इस प्रकार फ़िनिक्स आश्रम में गांधीजी के शिक्षादर्शों को व्यावहारिक रूप प्राप्त हुआ। सन् १९०८ ई० में सबसे प्रथम गांधीजी ने अपने शैक्षिक विचारों को अपनी पुस्तक 'हिन्द-स्वराज' में प्रकट किया। उन्होंने बताया कि 'साक्षरता शिक्षा का उद्देश्य नहीं है। मैकॉले द्वारा निर्धारित शिक्षा-पद्धति भारत को बंधन में ही रखेगी। अंग्रेज़ी शिक्षा के माध्यम के रूप में हानिकारक है। प्रत्येक भारतीय को हिंदी का काम चलाऊ ज्ञान होना चाहिए।' इसके बाद गाँधीजी के शैक्षिक विचारों में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ। गांधीजी इस आश्रम में अधिक दिनों तक नहीं रह सके, जिसका उन्हें बाद में भी दुःख रहा। कारण यह था कि वह अब तक संवैधानिक विधि से भारतीयों को अधिकार दिलाने की चेष्टा कर रहे थे, अतः जोहेनेसबर्ग में जाकर वकालत करने लगे। उन्होंने अपने परिवार को भी भारत से यहाँ बुला लिया।

जोहेनेसबर्ग का जीवन—जोहेनेसबर्ग में गांधीजी ने 'सर्वोदय' के सिद्धांतों के अनुकूल अपना जीवन व्यतीत करना आरंभ किया। उन्होंने स्वयं श्रम एवं सादगी का जीवन अपनाया और अपने बच्चों को भी इसी अनुशासन में रखा। उनके बच्चे नौकरों के साथ घरेलू कार्यों में हाथ बँटाते। अतः उनके बच्चों को कभी भी किसी प्रकार के शारीरिक श्रम में संकोच का अनुभव नहीं होता था। उन्होंने अपने बच्चों को स्वेच्छापूर्ण अनुशासन, श्रम की महत्ता, आत्म-साहाय्य और स्वच्छता की शिक्षा दी। वह अपने साथ बच्चों को भी भ्रमण के लिए दफ़तर तक ले जाते थे और रास्ते में शिक्षाप्रद बातें भी बताते थे। सबसे बड़े पुत्र हरिलाल के सिवाय बाक़ी सब पुत्रों की शिक्षा इसी प्रकार हुई। समयाभाव के कारण गांधीजी अपने बच्चों को साहित्यिक शिक्षा न दे सके जिसका दुःख उन्हें रहा, किंतु संतोष इसी बात का था कि उनके चरित्र-गठन में किसी प्रकार की कमी नहीं रखी गयी। उन्होंने 'आत्मकथा' में लिखा है कि, "मेरी पक्की धारणा है कि बच्चों को माँ-बाप की सूरत-शक्ल की विरासत जैसे मिलती है वैसे उनके गुण-दोषों की विरासत भी जरूर मिलती है।" बच्चों को अंग्रेज़ी की शिक्षा न देने के विषय में, गांधीजी और उनके मित्र मि० पोलक में बहस होती थी। वह उनसे सदैव यही कहा करते थे कि जो माँ-बाप अपने बच्चों से, बचपन से ही अंग्रेज़ी बुलवाने लगते हैं वे उनका और देश का द्रोह करते हैं। इससे बालक अपने देश के धार्मिक और सामाजिक विरासत से वंचित रहते हैं और उतने अंश में देश और जगत् की सेवा करने के कम योग्य होते हैं। गांधीजी अपने बच्चों से सदैव गुजराती में ही बात करते थे। जोहेनेसबर्ग में रहते हुए, गांधीजी सत्याग्रह आंदोलन चलाने के साथ-साथ व्रत, उपवास, ब्रह्मचर्य, प्राकृतिक चिकित्सा आदि पर प्रयोग भी करते रहते थे।

सत्याग्रह; टॉलस्टॉय आश्रम

सन् १६०६ ई० में दक्षिण अफ़्रीका की सरकार ने 'न्यू एशियाटिक लॉ' बनाया। गांधीजी अब इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे कि अफ़्रीकी सरकार से वैधानिक विधि द्वारा एशियावासियों के अधिकार दिलाना कठिन है। अतः इस क़ानून का विरोध करने के लिए उन्होंने सामूहिक सत्याग्रह आंदोलन का सूत्रपात किया। जोहेनेसबर्ग में हज़ारों नर-नारी एकत्र हुए और उन्होंने अहिंसात्मक प्रतिकार की शपथ ली। अफ़्रीका में रहने वाले चीनी तथा अन्य एशियायी प्रवासियों ने भारतीयों का साथ दिया। यह आंदोलन चल ही रहा था कि वहाँ की ज़ुलू नामक आदिमवासी जाति के लोगों ने सरकार के विरुद्ध विद्रोह किया। इस विद्रोह को दबाने में भी गांधीजी ने सरकार का साथ दिया। समय-समय पर गांधीजी की इन निःस्वार्थ सेवाओं से भी अंग्रेजों का हृदय-परिवर्त्तन न हुआ। इस विद्रोह के सिलसिले में गांधीजी को जोहेनेसबर्ग छोड़ना पड़ा। उन्होंने अपने परिवार को फ़िनिक्स आश्रम भेज दिया। सत्याग्रह-आंदोलन के कारण गांधीजी और उनके साथियों को कई बार जेल जाना पड़ा।

सन् १६११ ई० में गांधीजी ने एक ऐसे आश्रम की स्थापना की आवश्यकता का अनुभव किया जहाँ सत्याग्रही क़ैदियों के परिवार रह कर धार्मिक जीवन व्यतीत करें। अपने इस विचार को कार्यरूप में परिणत करने के लिए उन्होंने ट्रांसवाल में एक आश्रम की स्थापाना की और इसका नाम 'टालस्टाय फ़ॉर्म' रखा। यहाँ का जीवन धार्मिकता से ओत-प्रोत था। फ़ार्म पर सभी धर्मों के अनुयायी रहते थे। वे परस्पर एक दूसरे का सम्मान करते हुए जीविकार्जन तथा आत्मोन्नति का उपाय करते थे। गांधीजी ने शीघ्र ही यह भी अनुभव किया कि टॉलस्टॉय फ़ॉर्म के निवासियों के बालकों की शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए।

यह फ़ार्म गांधीजी के शिक्षा-प्रयोग के लिए एक आदर्श प्रयोगशाला बन गया। उन्होंने फ़ॉर्म को घर के वातावरण में परिवर्त्तित कर दिया और चरित्र को सब प्रकार की शिक्षा की नींव माना। उनका विचार था कि यदि चरित्र सुदृढ़ हो तो शेष सारी बातों को बच्चे स्वयं सीख लेते हैं। यहाँ उन्होंने बच्चों को साहित्यिक शिक्षा देने की भी व्यवस्था की। भोजन बनाने से लेकर सफ़ाई करने तक का सारा काम बालक स्वयं करते थे। बच्चे बाग़वानी करते, पेड़ काटते, गड्ढे खोदते और इस प्रकार उन्हें फिर अतिरिक्त शारीरिक श्रम की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। गांधीजी ने इसके साथ ही व्यावसायिक प्रशिक्षण की ओर भी ध्यान दिया। भोजन, सफ़ाई, सैंडिल बनाने और बढ़ईगीरी आदि का काम बच्चों को सिखाया जाने लगा और इस प्रकार व्यावसायिक एवं हस्तकौशल की शिक्षा द्वारा उन्होंने बालकों को बहुमुखी विकास करने और आत्म-निर्भर होने का मार्ग दिखाया। गांधीजी ने अब तक ज्ञानार्जन के साथ व्यावसायिक प्रशिक्षण को संयुक्त किया था, पर किसी व्यवसाय को शिक्षा का माध्यम बनाने का

प्रयास नहीं किया था। आश्रम में विभिन्न धर्म के बालकों को एक-सी धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था करने के द्वारा गांधीजी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सब धर्मों की शिक्षा का सारतत्व 'नैतिकता के सिद्धांत' हैं जो सब मानव-प्राणियों के लिए समान हैं। अतः यहीं आश्रम पर उन्हें नैतिक धर्म का आभास प्राप्त हुआ जिसे बाद में 'नीति-धर्म' की पुस्तक का सन् १९१२ ई० में रूप मिला। इसके अतिरिक्त वह प्रत्येक बालक के लिए यह भी आवश्यक समझते थे कि वह अपने धर्म की विशिष्ट पूजा-विधि भी जाने। सार्वभौम नैतिक धर्म के सिद्धांतों के पालन के साथ-साथ बालक अपने धर्म के सिद्धांतों एवं कर्मविधि का पालन भी करे। फ़ॉर्म पर अपने शिक्षा प्रयोगों के बहुत पूर्व गांधी जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि 'आत्मा की शिक्षा स्वय में एक महान कार्य है। यह चरित्र-निर्माण में तथा ईश्वर-प्राप्ति अथवा आत्म-साक्षात्कार में सहायक है।' गांधीजी के विचार में जिस प्रकार शारीरिक और मानसिक शिक्षा के लिए प्रशिक्षण की आवश्यकता पड़ती है उसी प्रकार आत्मा की शिक्षा के लिए भी प्रशिक्षण की आवश्यकता है। इस आत्मिक प्रशिक्षण में शिक्षक का स्थान सर्वोपरि है। यहीं पर उन्होंने शिक्षा में भी अहिंसा के सिद्धांत का प्रयोग किया, अतः वह शारीरिक दंड के पक्ष में न थे।

सन् १९१३ ई० में सत्याग्रह आंदोलन का प्रसार ट्रांसवाल से नेटाल तक हो गया। स्थान-स्थान पर सभाएँ और हड़तालें हुई। जनता के इस विरोध के फलस्वरूप भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड हार्डिंज ने दक्षिण अफ़्रीका की सरकार के पास अपना प्रतिरोधपूर्ण पत्र भेजा। अंत में सन् १९१४ ई० में दक्षिण अफ़्रीका की सरकार ने 'एशियायी लॉ' को हटाया, तीन पौंड का कर भी उठा लिया और सबको स्वतंत्र रूप से बसने की सुविधा प्रदान की। दक्षिण अफ़्रीका में गांधीजी के बीस वर्ष के संघर्षमय जीवन व्यतीत करने पर यह 'सत्य' और 'अहिंसा' की विजय थी।

भारत-आगमन—सन् १९१४ ई० में गांधीजी इंगलैंड होते हुए भारत आये। बंबई में बड़े समारोह के साथ उनका स्वागत हुआ। बंबई से गोखले के साथ वह पूना गये। भारत में उनके आगमन से पूर्व ही 'फ़िनिक्स' के कुछ साथी यहाँ आ चुके थे। इन लोगों के साथ सी० एफ़० ऐंड्रूज़ भी थे। भारत में कार्य करने के पूर्व गांधी जी देश की स्थिति का अध्ययन करना चाहते थे, अतः फ़िनिक्स के साथियों को उन्होंने ऐंड्रूज़ को सौंप दिया और स्वयं देश के कई स्थानों के भ्रमण पर निकल पड़े। सी० एफ़० ऐंड्रूज़ फ़िनिक्स के साथियों के साथ कुछ दिनों तक तो गुरुकुल कांगड़ी में रहे किंतु बाद में शांतिनिकेतन चले आये जहाँ रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इन लोगों के प्रति असीम स्नेह प्रदर्शित किया।

फ़िनिक्स-वासियों को शांतिनिकेतन में पृथक् आवास दे दिया गया जहाँ वे अपने आदर्शों और दैनिक कार्य-क्रम के अनुसार रहते थे। कुछ समय बाद गांधी जी भी शांतिनिकेतन आये। उन्होंने शांतिनिकेतन के छात्रों को आत्मनिर्भर होने का पाठ पढ़ाया।

फ़िनिक्स-परिवार के लोग अपना सारा कार्य स्वयं करते थे, अतः शांतिनिकेतन के छात्रों ने भी ऐसा ही प्रयोग आरंभ किया। कुछ दिनों तक तो शांतिनिकेतन के छात्र भी फ़िनिक्स-वासियों की भाँति ही अपना सारा कार्य स्वयं करते रहे, किंतु उनसे यह क्रम अधिक दिनों तक नहीं चल सका। रवीन्द्रनाथ ने इस संबंध में यह अवश्य कहा, 'इस प्रयोग में स्वतंत्रता की कुंजी है।'

सत्याग्रह-आश्रम, साबरमती—गांधीजी ने दक्षिण अफ़्रीका में ही फ़िनिक्स के आदर्शों पर भारत में एक आश्रम स्थापित करने का संकल्प किया था। अतः उन्होंने २५ मई, सन् १९१५ ई० को अहमदाबाद में 'सत्याग्रह आश्रम' की स्थापना की। जब अहमदाबाद में प्लेग का प्रकोप हुआ तब गांधीजी ने वहाँ से आश्रम को हटा लिया और उसे स्थायी रूप से साबरमती ले आये। आरंभ में उनके साथ दक्षिण अफ़्रीका के बीस साथी थे। आश्रम में एक विद्यालय भी खोला गया जिसमें बच्चों को साहित्यिक शिक्षा दी जाती थी और अपढ़ प्रौढ़ों को भी पढ़ाया जाता था। यहाँ भी शिक्षा के अतिरिक्त व्यावसायिक और हस्तकौशल की शिक्षा सब लोगों को समान रूप से दी जाती थी। सारे कार्य फ़िनिक्स के आदर्शों पर ही होते थे। आश्रम में पाठ्यक्रम, विषय, पाठन-विधि आदि पर विचार-विमर्श होता था। यद्यपि आश्रमवासी गांधीजी के शिक्षा-सम्बन्धी सभी विचारों से सहमत नहीं थे फिर भी विचारों के आदान-प्रदान से गांधीजी के शिक्षा-संबंधी विचार दृढ़ होते चले गये।

गांधीजी भारत के राजनीतिक कार्यों में क्रमशः व्यस्त होते गये। गोखले की मृत्यु के कारण उनके ऊपर राजनीति के संचालन का विशेष उत्तरदायित्व आ पड़ा, अतः उन्होंने राजनीति की बागडोर अपने हाथों में ली। फिर भी, शिक्षा के संबंध में वह सदैव सोच-विचार करते रहे। सन् १९२१ ई० में उन्होंने देश के सामने राष्ट्रीय शिक्षा के विषय में अपने विचारों को प्रकट किया जिसमें उन्होंने वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति के दोषों को बताया और इस बात पर बल दिया कि शिक्षा को राष्ट्र की आवश्यकताओं तथा आदर्शों के अनुकूल होना चाहिए। उन्होंने कहा कि भारत का हित आज विद्यालयों में 'आत्मनिर्भर शिक्षा' पर अवलंबित है। भिन्न-भिन्न समयों पर किये गये प्रयोगों के आधार पर उनके शिक्षा-विषयक विचारों को सन् १९३७ ई० में वर्धा शिक्षा-योजना का रूप-प्राप्त हुआ।

स्वतंत्रता संग्राम और गांधीजी—देश की स्वतंत्रता के लिए किए गये आरंभिक सत्याग्रह-आंदोलनों में १९२०-२२ का असहयोग आंदोलन और सन् १९३० ई० का नमक क़ानून-विरोधी आंदोलन प्रसिद्ध हैं। खादी-प्रचार, हिंदू-मुस्लिम एकता, अछूतोद्धार आदि को उन्होंने स्वतंत्रता-संग्राम का अंग बनाया और उन्हें रचनात्मक कार्य की संज्ञा प्रदान की। सन् १९३१ ई० में सरकार को बाध्य होकर कांग्रेस से संधि करनी पड़ी जिसके कारण कांग्रेस ने आंदोलन स्थगित कर दिया और गांधीजी गोलमेज़ कांफ़्रेंस में भाग

लेने के लिए लंदन गये । लंदन सम्मेलन में देश की समस्याओं पर कोई समझौता न हो सका । गांधीजी की इच्छा के विरुद्ध सरकार ने हरिजनों को पृथक् निर्वाचन का मताधिकार दे दिया । गांधीजी ने सरकार के इस कार्य के विरोध में अनशन किया जिसके फलस्वरूप सरकार ने पृथक् मताधिकार को वापस ले लिया । सन् १९३४ ई० में कांग्रेस के बंबई अधिवेशन के पश्चात् गांधीजी कांग्रेस से पृथक् हो गये और कांग्रेस से बाहर रहकर ही देश की सेवा करने का निर्णय किया । फिर भी, उन्होंने कांग्रेस के पथ-प्रदर्शन का कार्य सदैव किया ।

कांग्रेस से पृथक् होकर गांधीजी पूर्णतया अछूतोद्धार और ग्रामोद्योग के विकास में लग गये । अत्यधिक परिश्रम के कारण उनका स्वास्थ्य गिर गया । सन् ११३५ ई० में वह वर्धा के निकट सेगाँव में एक ग्रामवासी की भाँति निवास करने लगे । सेगाँव का नाम बाद में सेवाग्राम रख दिया गया । सन् १९३६ ई० की फ़रवरी में कांग्रेस ने असेंबली का चुनाव लड़ा और देश के सात प्रांतों में मंत्रिमंडलों की स्थापना की । गांधीजी ने इन मंत्रिमंडलों को सदैव निर्देश दिया । उन्हीं के सुझाव पर मद्य-निषेध, बुनियादी शिक्षा, जेल सुधार आदि कार्य हुए । सन् १९३९ ई० में द्वितीय महायुद्ध के आरंभ होने पर अंग्रेज़ी सरकार ने युद्ध में भारत के सम्मिलित होने की घोषणा कर दी । अतः मंत्रिमंडलों ने उसके विरोध में त्याग-पत्र दे दिया और प्रांतों का शासन गवर्नरों के अधिकार में चला गया ।

सन् १९४२ ई० में गांधीजी ने अंतिम स्वतंत्रता आंदोलन का सूत्रपात किया । ८ अगस्त, सन् १९४२ को बंबई में कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक हुई जिसमें 'भारत छोड़ो' आंदोलन का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ । सरकार ने आंदोलन का दमन करने का निश्चय किया और ९ अगस्त के प्रातःकाल गांधीजी तथा कार्यसमिति के अन्य नेताओं को क़ैद कर लिया । इस गिरफ़्तारी से देश में भयंकर उपद्रव शुरू हो गया । गांधीजी महादेव देसाई और कस्तूरबा के साथ आग़ाखां महल में बंद कर दिये गये । आग़ा खां महल में ही गांधी जी के निजी सचिव महादेव देसाई और कुछ दिनों बाद कस्तूरबा का देहांत हो गया । इन दोनों की मृत्यु से गांधीजी शोक में डूब गये । बीमार होने के कारण सन् १९४४ ई० में गांधीजी छोड़ दिये गये ।

द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होने पर सरकार ने भारत को स्वतंत्रता देने का आयोजन किया । शिमला कांफ्रेंस की असफलता के पश्चात् कैबिनेट मिशन भारत आया । सन् १९४६ ई० के आरंभ में केबिनेट मिशन के चार नेताओं ने 'भारत छोड़ने' की बात स्वीकार की । मुस्लिम लीग ने भी कांग्रेस के साथ मंत्रिमंडल बनाना स्वीकार कर लिया, किंतु अंत में वह अपनी बात से हट गयी और जिन्ना ने 'सीधी कार्रवाई' की घोषणा कर दी । देश के विभाजन के आधार पर अंग्रेज़ी सरकार ने १५ अगस्त सन् १९४७ ई० को

देश की स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। इसके बाद गांधीजी ने हिंदू-मुस्लिम दंगों को रोकने के लिए नोआखाली की यात्रा की और वहाँ शान्ति स्थापित करके दिल्ली चले आये।

महाप्रयाण—दिल्ली में शांति स्थापित करने के विचार से गांधीजी प्रतिदिन प्रार्थना-सभा में प्रवचन करते और लोगों को देश में शांति स्थापित करने का संदेशा देते। किंतु देश का वातावरण क्षुब्ध हो गया था। सांप्रदायिक भावना उफान पर थी। ऐसी दशा में ३० जनवरी सन् १९४८ ई० को सायंकाल बिड़ला मंदिर के पीछे के मैदान में प्रार्थना के लिए जाते समय नाथूराम गोडसे नामक एक युवक ने गोली चला कर, मानवता के पुजारी गांधीजी का पार्थिव जीवन समाप्त कर दिया।

जीवन-दर्शन

गांधीजी के विचारों को एक व्यवस्थित रूप देने में कठिनाई का अनुभव होता है क्योंकि उन्होंने दार्शनिक सिद्धांतों पर एक तत्वदर्शी की भाँति कभी प्रकाश नहीं डाला, परंतु अपने दैनिक जीवन की व्यावहारिक समस्याओं के संबंध में उनकी ओर इंगित किया है। यह क्रम संभवतः उन्होंने इसलिए अपनाया कि वह केवल सिद्धांत की दृष्टि से धर्म और नीति-संबंधी दर्शन का प्रतिपादन नहीं करना चाहते थे। उनका दर्शन व्यावहारिक है और व्यवहार में ही उसकी उचित अभिव्यक्ति संभव है। इसके अतिरिक्त, दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि उनका यह व्यावहारिक दर्शन केवल तात्विक सत्यों के आधार पर निर्धारित नहीं है, वरन् स्वयं उनके व्यावहारिक जीवन में प्रयोग के आधार पर विकसित हुआ है। अतः गांधीजी अपने व्यावहारिक दर्शन को एक धार्मिक या नैतिक संहिता के रूप में नहीं, केवल सत्य के संबंध में अपने द्वारा किए हुए प्रयोगों की एक श्रृंखला के रूप में संसार के सामने रखना चाहते थे। एक वैज्ञानिक की भाँति वह अपने प्रयोगों के परिणामों को अंतिम या संपूर्ण सत्य मानने का दावा नहीं करते थे। गांधी जी का जीवन ही उनका दर्शन है।

आज से लगभग ढाई हज़ार वर्ष पूर्व महात्मा बुद्ध ने 'अहिंसा' का उपदेश किया था। आज उसी शाश्वत सिद्धांत का गांधीजी ने न केवल समर्थन किया है और हमें उसकी शिक्षा दी है, वरन् व्यवहार में भी उसका प्रयोग किया है। अतः वह सच्चे अर्थों में मुक्तिमार्ग के पथिक हैं। उनकी महानता की प्रथम विशेषता इसी में है कि उन्होंने अपने विचार और व्यवहार में एकरूपता की स्थापना की। उन्होंने अपने प्रत्येक विचार का सूक्ष्म निरीक्षण किया, उसे जाँचा और उसे आत्मसात् किया। उन्होंने अपने प्रत्येक विचार को जीवन के साथ संबद्ध किया एवं व्यवहार्य बनाया। उनकी महानता की दूसरी विशेषता इस बात में है कि उन्हें अपनी इच्छा-शक्ति पर नियंत्रण तो था ही, वह दूसरों की इच्छा-शक्ति पर भी नियंत्रण रखते थे। यही कारण है कि वह मानव-जाति के जन्मजात नेता बन सके।

गांधीजी ने कभी यह दावा नहीं किया कि उन्हें सत्य का पूर्ण ज्ञान प्राप्त है और

न उन्होंने कभी ईश्वर के अस्तित्व, सृष्टि, विकास या मूल्यों की प्रामाणिकता-संबंधी तात्विक समस्याओं में ही विशेष रुचि ली। वह एक निःसंग व्यक्ति की भाँति जीवन व्यतीत करना चाहते थे। उन्होंने जीवन की शाश्वत समस्याओं का समाधान हिंदू दृष्टिकोण से किया है। हिंदू धर्मशास्त्रों ने उनमें सत्ता के विषय में निश्चित विश्वास उत्पन्न किये। यहाँ यह स्वीकार करना होगा कि उन्होंने हिंदू धर्मशास्त्रों—वेद, उपनिषद्, गीता और पुराण—की मान्यताओं को वहीं तक स्वीकार किया जहाँ तक वे उन्हें तर्कसंगत जान पड़े। इस दृष्टि से वह रूढ़िवादी और अरूढ़िवादी दोनों कहे जा सकते हैं। उन्होंने हिंदू-धर्म और प्राचीन भारतीय दर्शन के अतिरिक्त अन्य धर्मों और दर्शनों की उन बातों को भी स्वीकार किया जिन्हें उन्होंने तर्कसंगत एवं नैतिक समझा।

गांधीजी जन्म से हिंदू थे और उन्होंने अपने अध्ययन और अनुभव के आधार पर जीवनपर्यंत हिंदू-धर्म की, उसके विशाल दृष्टिकोण की सराहना की। उनका कहना है कि जितने धर्मों को मैं जान सका हूँ उन सब में यह सबसे अधिक सहिष्णु धर्म है। इसकी अंधविश्वास-विहीनता ने मुझे अपनी ओर आकृष्ट किया है और यह अपने अनुयायी को आत्माभिव्यक्ति का पूरा अवसर प्रदान करता है। यह धर्म 'निषेधक धर्म' नहीं है; यह अपने अनुयायियों को दूसरे धर्मों का सम्मान करने में ही समर्थ नहीं बनाता, वरन् अन्य धर्मों की अच्छी बातों की सराहना करने और उन्हें आत्मसात् करने का परामर्श देता है। अहिंसा का महत्त्व सभी धर्मों में है, किंतु हिंदू धर्म में इसकी सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति और कार्यान्वय हुआ है। (मैं जैन और बौद्ध धर्मों को हिंदू धर्म से पृथक् नहीं मानता हूँ।) हिन्दू-धर्म केवल मानव-जीवन की ही एकता में विश्वास नहीं करता वरन् प्राणिमात्र के जीवन की एकता में आस्था रखता है। हिंदू धर्म में गो-पूजा का जो विधान है वह मेरे विचार से मानवतावाद के विकास में एक महत्त्वपूर्ण देन है। एकता में विश्वास करने का यह एक व्यावहारिक प्रयोग है और इसी कारण यह सभी जीवों के प्रति पवित्रता की भावना रखता है। इसी विश्वास का प्रत्यक्ष परिणाम है पुनर्जन्म में विश्वास। अंततः वर्णाश्रम धर्म की खोज सत्य के प्रति निरंतर प्रयत्नशील होने का महान परिणाम है।†

हमने देखा कि यद्यपि गांधीजी के विचारों को दर्शन की दृष्टि से एक क्रमबद्ध रूप देने में कठिनाई पड़ती है, फिर भी उनकी शिक्षाओं एवं विचारों की हम एक रूपरेखा निर्धारित कर सकते हैं।

सत्य ही ईश्वर है

गांधीजी ने 'सत्ता' के स्वरूप को 'सत्य' के रूप में जाना और अनुभव किया। उनके विचार में 'सत्य' ही 'ईश्वर' है। 'सत्य' शब्द सत् से बना है जिसका अर्थ है अस्तित्व। सत्य के बिना अन्य किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है। इसके अतिरिक्त

† Christian Mission, p. 36

'सत्' एवं 'सत्य' शब्द ही ईश्वर का सच्चा नाम है। ईश्वर को सच्चिदानंद भी कहा गया है जिसका तात्पर्य है कि ईश्वर सत्, चित् और आनंद स्वरूप है। सत् अथवा सत्य के साथ शुद्ध ज्ञान का होना आवश्यक है, क्योंकि जहाँ सत्य नहीं वहाँ शुद्ध ज्ञान की संभावना भी नहीं है। अतः ईश्वर के नाम के साथ 'चित्' अर्थात् ज्ञान शब्द भी संयुक्त किया गया है। जहाँ सत्य ज्ञान है वहाँ आनंद ही आनंद होगा, शोक नहीं क्योंकि सत्य शाश्वत है इसलिए आनंद भी शाश्वत होता है। अतः ईश्वर का 'सत्य' नाम ही उसका पूरा अर्थ प्रकट करता है। सत्य ही जीवन है। जब हम अपने भीतर सत्य को प्रतिष्ठित करते हैं तब जीवनी शक्ति-और आनंद का अनुभव करते हैं। यह वह शाश्वत तथ्य है जिसे कोई भी हमसे छीन नहीं सकता। हमें फाँसी पर भी क्यों न चढ़ाया जाय, यदि सत्य हमारे हृदय में है तो उसमें भी हमें आंतरिक आनंद का अनुभव होगा।

प्रश्न यह उठता है कि गांधीजी इस निष्कर्ष पर कैसे पहुँचे कि सत्य ही ईश्वर है? वह इस निष्कर्ष पर तर्क द्वारा नहीं, वरन् तात्कालिक सहजज्ञान द्वारा पहुँचे। गांधीजी बहुत कुछ अंशों में देकार्त्ते की भाँति सत्य का प्रारंभिक आधार सहजज्ञान मानते हैं। पर यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि देकार्ते की भाँति गांधीजी का दृष्टिकोण एक तत्वदर्शी का दृष्टिकोण नहीं, वरन् धार्मिक और नैतिक है। अपनी धार्मिक आस्था, अंतःप्रेरणा एवं सहजज्ञान द्वारा उन्होंने कुछ मुख्य सत्यों का अनुभव किया और चिंतन एवं मनन द्वारा उन सत्यों से जीवन-संबंधी अनेक निष्कर्ष निकाले, अतः अपनी विचारणा में उन्होंने तर्क को स्थान दिया है, किंतु उसे सहजज्ञान का अनुवर्ती माना है। उनका यह सहजज्ञान युक्तियुक्त है, यद्यपि वह बुद्धि द्वारा प्राप्त नहीं। बुद्धि इस ज्ञान की प्रामाणिकता का खंडन नहीं कर सकती क्योंकि वह तो स्वयं इसी पर अवलंबित है। सहजज्ञान अथवा अंतःप्रेरणा तथा तर्क में उचित संबंध यह है कि 'अंतःप्रेरणा वृक्ष है और युक्ति उसका पुष्प।' सत्य की अनुभूति में गांधीजी ने अंतःप्रेरणा को एक आवश्यक अंग माना है।

एक आदर्शवादी की भाँति गांधीजी का विश्वास है कि सत्य स्थिर और अपरिवर्तनीय है। सत्य एक है, परंतु वह अपने को नाना रूपों में व्यक्त करता है। उनका कहना है कि सीमाबद्ध मानव प्राणी सत्य और प्रेम को उसके पूर्ण रूप में नहीं जान सकेगा। परंतु कोई भी मनुष्य इस सत्य के स्वरूप को स्पष्ट से स्पष्टतर रूप में ग्रहण कर सकता है। इस प्रकार से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सत्य की अनुभूति के कई स्तर हैं; अतः गांधीजी के दर्शन में सत्य तो स्थिर है, परंतु उसके ज्ञान का स्वरूप परिवर्त्तनशील है। प्रयोजनवादी दर्शन से भिन्न गांधीजी का सत्य व्यक्तिगत विचारों और धारणाओं के अधीन नहीं है। सत्य के स्वरूप में कभी परिवर्त्तन नहीं होता है।

गांधी जी के विचार में सत्य, परम सत्ता है, जगत् का प्रथम कारण है। वह स्वयं में विधान और विधायक दोनों है। सांसारिक राजा और उसके विधान पृथक्-

पृथक् होते हैं, उसके विपरीत ईश्वर और उसके विधान पृथक्-पृथक् नहीं हैं। सत्य या ईश्वर विधानों अथवा नियमों की एक पूर्ण व्यवस्थित इकाई है। विधानों में ईश्वरीयता संलग्न है। ईश्वर को नियमों के रूप में देखने का अर्थ है कि गाँधीजी ईश्वर को निर्वैयक्तिक या निराकार मानते हैं। इस संबंध में उनका कहना है कि, "मैं इस अर्थ में सगुण ईश्वर में विश्वास नहीं करता जिस रूप में हम लोग व्यक्ति रूप प्राणी हैं। मैं ईश्वर को 'विश्व-विधान' के रूप में देखता हूँ। जो भी हो, ईश्वर का उसके पूर्ण रूप में वर्णन नहीं किया जा सकता। हम मानव-प्राणी अपने शब्दों में उसका वर्णन करते हैं। ईश्वर विधान और विधायक दोनों है, दोनों एक ही हैं। बौद्ध धर्म में ईश्वर का वर्णन विधान रूप में हुआ है। बहुत-से लोगों का कहना है कि बौद्ध धर्म अनीश्वरवादी है, किंतु मैंने कभी भी ऐसा नहीं सोचा है।"†

यद्यपि गाँधीजी यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर का पूर्ण वर्णन नहीं किया जा सकता हैं फिर भी उन्होंने विभिन्न प्रकार से उसका वर्णन किया है। 'मेरे लिए ईश्वर सत्य और प्रेम है; नीति-शास्त्र और नैतिकता है, ईश्वर अभयत्व है। ईश्वर ज्योति-स्रोत है फिर भी वह इन सबसे ऊपर और परे हैं। ईश्वर अंतरात्मा है।........ वह उन लोगों के लिए सगुण है जिन्हें उसकी आवश्यकता सगुण रूप में है। वह उन लोगों के लिए सदेह है जो उसका स्पर्श चाहते हैं। वह परम शुद्ध सारतत्व है। जो उसमें श्रद्धा रखते हैं उनके लिए ईश्वर है। वह सभी मनुष्यों के लिए सब कुछ है। वह हमारे भीतर है फिर भी हमसे परे है।' गांधीजी मूर्त्तिपूजा में भी अश्रद्धा नहीं रखते। इस प्रकार हम देखते हैं कि गांधीजी ईश्वर को सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में देखते हैं, किंतु शंकराचार्य से भिन्न (जो परमात्मा के लिए ब्रह्म और ईश्वर दो शब्दों का प्रयोग करते हैं, ब्रह्म का प्रयोग ऊँचे अर्थ में और ईश्वर का निम्न अर्थ में) गांधीजी रामानुज की भाँति, ब्रह्म और ईश्वर दोनों के लिए एक ही शब्द "ईश्वर' का प्रयोग करते हैं।

गांधीजी ने परमसत्ता का बोध सत्य के रूप में किया। उनका कहना है कि ईश्वर की अनुभूति सत्य अथवा अंतरात्मा के माध्यम से होती है। 'जब कभी भी हमारे मुँह से एक सत्य शब्द निकलता है, जब कभी भी हम एक 'सत्' कार्य करते हैं, जब कभी भी हमारे मन में सच्चा भाव उत्पन्न होता है तब हम ईश्वर के अस्तित्व का अनुभव करते हैं।' इस प्रकार देखने से ज्ञात होता है कि सत्य साध्य और साधन दोनों ही है। वास्तविकता यह है कि गांधीजी ने 'सत्य' शब्द का प्रयोग चार अर्थों में किया है—प्रथम दो अर्थ साध्य के रूप में—(१) सत्य परमसत्ता, ब्रह्म या ईश्वर है; (२) सत्य परमज्ञान है, अतः शाश्वत आनंद है जैसा कि सच्चिदानंद की उपर्युक्त व्याख्या में हमने देखा; अंतिम दो अर्थ साधन के रूप में –(३) सत्य बोलना, सत्य-चिंतन करना, अर्थात् 'मन और वचन में सत्यता'; (४) न्यायपरायणता अर्थात् 'कर्म में सत्यता।' कर्म में सत्यता के

† Gandhi: 'Unseen Power', p. 42

अंतर्गत सभी नैतिक नियमों का समावेश है और गांधीजी ने इसे 'सत्य का विधान' कहा है। अतः गांधीजो धार्मिक और नैतिक दृष्टि से जब भी सत्य की प्राप्ति की चर्चा करते हैं तो उसमें सत्य के ये चारों अर्थ समाविष्ट रहते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि गांधीजी साध्य और साधन दोनों के लिए 'सत्य' शब्द का ही प्रयोग क्यों करते हैं ? इसका उत्तर यह है कि गांधीजी दोनों को एक ही नाम से इसलिए पुकारते हैं कि वह दोनों को एक ही मानते हैं। साध्य और साधन को समान मानना गांधीजी के नैतिक सिद्धांतों का केन्द्रीभूत तथ्य है और इस तथ्य का आधार है उनका तत्वज्ञान की दृष्टि से ईश्वर-संबंधी विचार। प्रो० धीरेन्द्र मोहनदत्त ने इस विचार को यों स्पष्ट किया है, 'ईश्वर उनके लिए एक सर्वव्यापक सत्ता है, जो मनुष्य और विश्व में भी अंतस्थ है। उनके विचार में यह विश्व उसी की अभिव्यक्ति और सृष्टि है। परंतु एक साधारण सर्वेश्वरवादी से भिन्न, उनका यह भी विश्वास था कि ईश्वर इस विश्व में अंतस्थ और उससे परे भी है।....सृष्टि में उसकी संपूर्ण अभिव्यक्ति उसी प्रकार नहीं हुई है जिस प्रकार एक कवि की उसकी कविताओं में।' इस कथन से हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि सत्य प्रकृति और मनुष्य की वास्तविक प्रकृति में अभिव्यक्त एवं निहित होने के साथ-साथ उससे परे भी है। अतः जब मनुष्य सत्य और न्यायपरायणता (जो कि उसकी वास्तविक प्रकृति है) का पालन करता है तो वह सत्य के परस्थ स्वरूप को प्राप्त करने के साथ-साथ अपनी प्रकृति में निहित अथवा अंतस्थ सत्य की अभिव्यक्ति करता है। इस दृष्टि से साधन (अपनी वास्तविक प्रकृति का अभिव्यक्तकिरण) स्वयं साध्य बन जाता है। यही कारण है कि गांधीजी साध्य और साधन के लिए एक ही शब्द प्रयोग करते हैं। अतः गांधीजी के दर्शन में साध्य और साधन में एकरूपता है। जब साध्य सत्य है तब उसकी प्राप्ति के साधन भी सत्य, शुद्ध और नैतिक होने चाहिए। उन्होंने कहा है, 'मेरे दर्शन में साध्य और साधन एक दूसरे का स्थान ले सकते हैं।' 'सत्य' शब्द गांधीजी के दर्शन में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने ईश्वर के सत्य स्वरूप के अतिरिक्त उसके अन्य दो रूप—शिवं और सुंदरम् को सत्य के ही उप-सिद्धांत माना है। उनके लिए शिवं और सुंदरं सत्य में ही निहित हैं। नीति-शास्त्र और सौंदर्य-शास्त्र का वास्तविक अस्तित्व 'सत्य' के अंतर्गत रहने में ही है।

सत्य की प्राप्ति का साधन : अहिंसा

सत्य को कैसे प्राप्त किया जाय ? वास्तविकता यह है कि सत्य की प्राप्ति एक अत्यंत कठिन कार्य है। जो निरंतर सत्य की साधना में रत रहते हैं वह भी सत्य का केवल आंशिक दर्शन कर पाते हैं। गांधीजी का विचार है कि 'जब तक हम शरीर-रूपी पिंजड़े में बंदी हैं तब तक पूर्ण सत्य की उपलब्धि असंभव है।' सत्य की प्राप्ति में मुख्य बाधा है, मनुष्य का शरीर के प्रति मोह। मोहवश अपनी इच्छाओं और संवेगों के वशीभूत, फलतः कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विवेक से शून्य, वह अपनी

धुंधली दृष्टि से 'सत्य' को देखने में असमर्थ रहता है। शरीरजन्य बुराइयों से बचने के लिए मनुष्य को एक ऐसी शक्ति की आवश्यकता है जो उसे धीरे-धीरे इनके बंधन से छुटकारा दिला सके और यह शक्ति है 'अहिंसा'। यह शक्ति कोई बाहरी शक्ति नहीं है, वरन् मनुष्य के अंदर ही है। गांधीजी का कहना है, 'ईश्वर बादलों में निवास करने वाली शक्ति नहीं है। ईश्वर वह अगोचर शक्ति है जो हमारे भीतर है और जैसे उँगलियों के नाखून और मांस में संबंध है उससे भी अधिक हमारे निकट है। हममें से प्रत्येक के भीतर ईश्वर का निवास है, अतः हमें प्रत्येक मानव-प्राणी में उसके रूप को पहचानना होगा। इसी को विज्ञान की भाषा में आकर्षण तथा लोकप्रिय भाषा में प्रेम कहते हैं। ईश्वर की प्राप्ति प्रत्येक प्राणी में की जा सकती है चाहे वह मनुष्य हो या अर्द्ध मानव। उसका दर्शन हम प्रत्येक पदार्थ में कर सकते हैं चाहे वह स्थूल हो या सूक्ष्म। गांधीजी की यह सर्वेश्वरवाद की प्रवृत्ति उनके वैष्णव मत का प्रत्यक्ष परिणाम है। वासुदेव : सर्व-मिदं—वैष्णव सभी वस्तुओं को वासुदेव रूप में देखता है। सब प्राणियों में ईश्वर को देखना अथवा एकता की अनुभूति ही विश्वबंधुत्व अथवा 'वसुधैव कुटुम्बकं' की भावना को उत्पन्न करती है। यह विश्व-प्रेम अथवा मानव-प्रेम, यह एकात्मीयता ही अहिंसा है। अहिंसा का क्रियात्मक रूप है मानवता की सेवा। 'संपूर्ण मानवता की सेवा में ही ईश्वर की उपलब्धि है।' सत्य को प्राप्त करने के लिए अहिंसा ही एक अद्वितीय साधन है।

मनुष्य को अहिंसा में अपना विश्वास दृढ़ करने तथा उसे क्रियात्मक रूप देने के लिए आवश्यक है कि वह इस विश्व में निहित एकता को पहचाने। गांधीजी अद्वैत में विश्वास करते हैं। विश्व की विविधता एकता के सूत्र में बँधी हुई है और एकता का कारण है सब में ईश्वर का व्याप्त होना। मनुष्य अपने अज्ञानवश द्वैत का अनुभव करता है। सभी प्राणियों में एकता व्याप्त है। उनके रूप अनेक हैं, किन्तु उनका स्रष्टा एक है। उन्होंने कहा है 'मैं मनुष्य की सत्तात्मक एकता में विश्वास करता हूँ और यही सब जीवधारियों के विषय में है।' एकता की यह धारणा हमारे भीतर अहिंसा को गतिशील रखेगी। गांधीजी के विचार में सत्य और अहिंसा एक दूसरे के पूरक हैं। सत्य का व्यावहारिक रूप ही अहिंसा है।

सत्याग्रह

सत्य का साधक 'अहिंसा' की साधना द्वारा अपने पथ पर आगे बढ़ सकता है और अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से दूसरे लोगों को भी अपने मार्ग पर लाकर उन्हें अपना सहगामी बना सकता है। गांधीजी का अहिंसा की शक्ति में इतना विश्वास था कि इन्होंने इसे केवल व्यक्तिगत सुधार का ही साधन नहीं माना, वरन् सामाजिक अन्याय के प्रति लड़ने, राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने, नियम-व्यवस्था बनाये रखने तथा बाहरी आक्रमण से अपने देश को बचाने का भी साधन माना है।

किसी भी प्रकार की बुराई के प्रति अहिंसात्मक ढंग से प्रतिरोध करना 'सत्याग्रह'

है। सत्याग्रह का शाब्दिक अर्थ है, सत्य के प्रति आग्रह; सत्य जो शाश्वत एवं सत् है उसके प्रति आग्रह 'सत्याग्रह' है। 'सत्याग्रह आत्म-शुद्धि की लड़ाई है; वह धार्मिक लड़ाई है।' इसमें प्रेम के आधार पर शत्रु के मन पर विजय प्राप्त करना है, उसे सत्य के प्रति जागरूक करना है, उसे उसके कर्त्तव्य का बोध कराकर उसकी आत्मोन्नति करना है। दूसरे शब्दों में, पशुबल का प्रतिरोध पशुबल से नहीं अपितु आत्मबल से करना है। सत्याग्रह का आधार प्रेम है। अतः सत्याग्रही अत्याचारी के अत्याचारों से घृणा करता है, स्वयं अत्याचारी से नहीं। वह अन्याय और अत्याचार के निराकरण के लिए स्वयं दुःख सहन करता है और विपक्षी को किसी प्रकार की पीड़ा नहीं देता। सत्याग्रही अनैतिकता और अधर्म को न स्वयं सहन करता है और न दूसरों को करते हुए देख सकता है।

गाँधीजी ने अपने जीवन में अहिंसा के महत्त्व का अनुभव किया था। उनका कहना है कि बुराई हमारे भीतर भी है और बाहर भी। आंतरिक बुराइयाँ—भय, क्रोध, वासना, द्वेष, मोह आदि—बाहरी बुराइयों से अधिक घातक हैं। बाहरी बुराइयों को आंतरिक बुराइयों (घृणा, क्रोध, द्वेष) के आधार पर जीतने से मनुष्य का आध्यात्मिक विकास रुक जाता है। व्यक्ति के अन्दर जितनी मात्रा में आन्तरिक बुराइयाँ घर कर लेती हैं उसी मात्रा में वह सत्य से दूर हो जाता है। अतः बुराई का प्रतिकार बुराई से नहीं, वरन् भलाई से ही किया जा सकता है। सर्वप्रथम भारतीय और चीनी दार्शनिकों ने यह विचार किया था कि बुराई की औषधि भलाई ही है। वेद और उपनिषद् यह घोषणा करते हैं कि अंततः बुराई पर भलाई की विजय होती है। जब ईसाई धर्म इस बात पर बल देकर कहता है कि उदार प्रेम हिंसक मनुष्य को जीत लेता है तब वह प्राच्य ज्ञान के निकट आ जाता है। हिंसा की क्रोधाग्नि अहिंसा द्वारा ही शांत की जा सकती है। आंतरिक बुराइयों पर भी नैतिक गुणों द्वारा ही विजय प्राप्त की जा सकती है। नैतिक साहस, प्रेम और मानवता अहिंसा को प्रोत्साहन देते हैं और अहिंसा के पथ पर चलकर ही व्यक्ति सत्य के दर्शन कर सकता है। गीता ने सत्याग्रह में गांधीजी के विश्वास को और गहरा बना दिया।

गांधीजी के दर्शन में 'सत्याग्रह' शब्द बड़ा सारगर्भित है। ईश्वर में दृढ़ विश्वास के बिना सत्याग्रही सफल नहीं हो सकता। अहिंसा में उसकी पूर्ण श्रद्धा होनी आवश्यक है, पर अहिंसा का पालन करते हुए भी जब तक उसे ईश्वर की कृपा प्राप्त नहीं होगी तब तक वह किसी कार्य में सफल नहीं हो सकता। बिना ईश्वर की अनुकंपा के उसमें यह भी साहस नहीं हो सकता है कि वह बिना क्रोध, भय और प्रतिकार की भावना से मर भी सके। पर क्या बौद्ध या भौतिकवादी, जो ईश्वर में विश्वास नहीं करते, वह भी सत्याग्रही हो सकते हैं? हाँ। यह कैसे सभव है? वास्तविकता यह है कि ईश्वर से गांधीजी का तात्पर्य सत्ता किसी पूर्ण पुरुष से नहीं है, वरन् उनका कथन है कि नैतिक

व्यवस्था, आध्यात्मिक व्यवस्था या सत्य चाहे वह अन्य किसी भी रूप में क्यों न हो, परमसत्ता या ईश्वर ही है। हम यह देख चुके हैं कि गांधीजी के विचार में सत्य ही ईश्वर है। आरंभ में गांधीजी कहा करते थे कि ईश्वर सत्य है, किंतु बाद में वह यह कहने लगे कि सत्य ही ईश्वर है। अपनी इस धारणा में परिवर्तन करके गांधीजी ने सरलतापूर्वक उन लोगों को भी अपना लिया जो मानवता या अन्य किसी वस्तु को ईश्वर के रूप में मानते थे और जिसके लिए वे अपना सर्वस्व त्याग करने को भी उद्यत रहते थे।

यहाँ पर सत्याग्रह के संबंध में फैले हुए दो भ्रांत विचारों का निराकरण कर लेना आवश्यक है। सत्याग्रह का अर्थ है सभी प्रकार की बुराइयों से असहयोग। अतः यह निषेधात्मक आदर्श नहीं है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर को गांधीजी के असहयोग आंदोलन के विषय में एक बार इसी प्रकार का भ्रम हो गया था। किंतु गांधीजी ने सदैव कहा कि बुराइयों से असहयोग का अर्थ है अच्छाई के साथ सहयोग। जो सत्याग्रही सामान्य हित के लिए युद्ध कर रहे हैं उनमें आपस में सहयोग की भावना अवश्य होनी चाहिए। फिर, एक सत्याग्रही अपने विरोधी के सद्गुणों के साथ सदा सहयोग करता है। अतः सत्याग्रह एक विधायक अदर्श है। दूसरे, हमें यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि सत्याग्रह कायरों का अस्त्र है। उन्होंने 'यंग इंडिया' मे 'द डाक्ट्रिन ऑफ़ द सोर्ड' शीर्षक के अंतर्गत लिखा है कि "मेरा विश्वास है कि यदि मुझे कायरता और हिंसा दोनों में से किसी एक को चुनना पड़े तो मैं हिंसा को ही चुनने की राय दूंगा, किंतु मेरा विश्वास है कि अहिंसा हिंसा से असंख्य-गुना श्रेष्ठ है। क्षमा एक सैनिक का गुण है।"† 'हरिजन' में उन्होंने लिखा था कि "हिंसा नपुंसकता से कहीं श्रेयस्कर है। एक हिंसक व्यक्ति से अहिंसक बन जाने की आशा रहती है, किन्तु नपुंसक व्यक्ति के अहिंसक बनने की कोई आशा नहीं रहती"।‡ उपनिषद् यह घोषणा करते हैं कि शरीर और मन से शक्तिहीन कायर पुरुष कभी भी आत्मा की प्राप्ति नहीं कर सकता है। सत्य की उपलब्धि केवल वीर पुरुष कर सकते हैं। नैतिक दृष्टि से सत्याग्रही वीर होता है।

सत्याग्रह में कठोर आत्मानुशासन की आवश्यकता होती है। बिना आत्मानुशासन के व्यक्ति अपने को सुसंस्कृत नहीं बना सकता अथवा आत्मसंस्कृति नहीं प्राप्त कर सकता। आत्मसंस्कृति से तात्पर्य है नैतिक गुणों—आज्ञापालन, आत्मसम्मान, आत्मावलंबन, आत्मत्याग आदि—का अर्जन करना। एक सैनिक के लिए भी नैतिक चरित्र आवश्यक है, किंतु सैनिक और सत्याग्रही में यह अंतर है कि सैनिक को केवल बाह्य अनुशासन की आवश्यकता पड़ती है, परंतु सत्याग्रही को इस बाह्य अनुशासन के अतिरिक्त आत्मानुशासन की अधिक आवश्यकता पड़ती है। सैनिक बाहरी आज्ञा का पालन करता

† 'Young India', Aug. 1, 1920
‡ 'Harijan', 1939

है, परंतु सत्याग्रही अपनी अंतरात्मा और अपने आदर्श का पालन करता है। वास्तव में सबसे प्रेम करने, घृणा और क्रोध न करने और विना दुर्भावना के पीड़ा सहने की आदत डालना सरल कार्य नहीं है। सत्याग्रही के लिए गंभीर ध्यानमग्नता, प्रार्थना और जीवन के मूल्यों को आध्यात्मिक रूप देने की आवश्यकता है।

सत्याग्रही अथवा सत्य की आराधना करने वाले को कुछ व्रतों का पालन करना भी अनिवार्य है। गांधीजी को यह व्रत-संबंधी विचार जैन-धर्म से प्राप्त हुआ। परंतु वह जैन-धर्म के व्रतों के यातना-पक्ष को नहीं मानते हैं। ये व्रत दो प्रकार के हैं—मुख्य और सहायक। मुख्य व्रत हैं—(१) सत्य, (२) अहिंसा, (३) ब्रह्मचर्य, (४) स्वाद-संयम, (५) अस्तेय और (६) अपरिग्रह। अब हम इन को विस्तार में देखेंगे। गांधीजी का कहना है कि (१) सत्य को उसके विशाल अर्थ में लेना चाहिए। सत्य का अर्थ केवल सच बोलना ही नहीं है। 'विचार में, वाणी में और आचार में सत्य का होना ही सत्य है'।† हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति, प्रत्येक श्वास अर्थात् संपूर्ण अस्तित्व सत्य से ओतप्रोत रहना चाहिए। सत्य के पालन से अन्य नियमों का पालन सरल हो जाता है। सत्य के बिना किसी अन्य नियम का शुद्ध रूप में पालन करना असंभव है। हम देख चुके हैं कि सत्य में सारा ज्ञान समाविष्ट है, अतः 'उसमें जो न समाय वह सत्य नहीं है, ज्ञान नहीं है।' सत्य हमारे सब कार्य-कलापों की कसौटी है। (२) सत्य की भाँति ही अहिंसा का अर्थ भी विशाल रूप में ग्रहण करना चाहिए। अहिंसा का अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि किसी की हिंसा न की जाय। बुरे विचारों को मन में लाना, उतावलापन, झूठ बोलना, द्वेष करना, किसी का बुरा चाहना आदि सब हिंसा हैं। अहिंसा के प्रति निष्ठा रखने वाला व्यक्ति अत्याचार का विरोध करेगा, किंतु अत्याचारी को हानि नहीं पहुँचायेगा। विना अहिंसा के सत्य की प्राप्ति संभव नहीं है। (३) ब्रह्मचर्य व्रत की आवश्यकता इसलिए है कि इसके बिना अहिंसा की उपलब्धि पूर्ण रूप से नहीं हो सकती है। गांधीजी जिस प्रकार शरीर को जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति में बाधक मानते हैं उसी प्रकार विवाह को भी, क्योंकि विवाह जीवन के बंधन को बनाये रखता है। किंतु साधारण जनों के लिए वह विवाह को मान्यता देते हैं। उन्होंने विवाह को एक धार्मिक कृत्य माना है। वह सबको विषय-वासना से सावधान करते हैं। उनका कहना है कि स्त्री-पुरुष में भोग-संबंध तभी होना चाहिए जब वे संतान की कामना रखते हों, विषय-जन्य सुख के लिए संबंध नहीं होना चाहिए। सन्तान-निरोध आधुनिक उपायों के प्रतिकूल उनका कहना है कि इसका सर्वोत्तम और उचित मार्ग है—आत्म-संयम। 'आत्मनिग्रह बनाम आत्मसंतुष्टि' (**Self-restraint Vs. Self-indulgence**) में गांधीजी ने यह सिद्ध कर दिया है कि ब्रह्मचर्य से शारीरिक और मानसिक अवस्था को किसी प्रकार की हानि नहीं होती है। उनके विचार में ब्रह्मचर्य को

† गांधीजी: 'धर्म-नीति', पृष्ठ ११८

विस्तृत अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। इस दृष्टि से 'सर्वेन्द्रिय-संयम अथवा विषय-मात्र का निरोध ही ब्रह्मचर्य है'। (४) स्वाद-संयम का नियम ब्रह्मचर्य के पालन में सहायक है। सत्य के आराधक को अपनी रसना पर नियंत्रण रखना चाहिए और यह सोचना चाहिए कि भोजन केवल शरीर धारण करने मात्र के लिए आवश्यक है। (५) अस्तेय का केवल यही अर्थ नहीं है किसी की संपत्ति न चुराई जाय। सत्याग्रही को कोई भी ऐसी वस्तु अपने पास नहीं रखनी चाहिए जिसकी उसे नितांत आवश्यकता न हो। उसे मानसिक चोरी—दूसरे के विचारों की चोरी अथवा मन से किसी की चीज पाने की इच्छा नहीं करनी चाहिए। (६) अपरिग्रह, अस्तेय से ही संबंधित है; जिस प्रकार सयाग्रही को काम से अधिक वस्तुएँ अपने पास नहीं रखनी चाहिए उसी प्रकार अपने मस्तिष्क में निरर्थक विचार भी नहीं रखने चाहिए। अपवित्र, असत्य, अहंकारपूर्ण विचार हमारी साधना के मार्ग में बाधा डालते हैं और हमें मार्गभ्रष्ट करते हैं। अतः जो विचार ईश्वर से विमुख करते हों उनका परित्याग करना चाहिए।

सहायक व्रत हैं—'स्वदेशी' तथा 'निर्भयता'। गांधीजी ने स्वदेशी की व्याख्या करते हुए कहा कि स्वदेशी हमारे भीतर वह भावना है जो हमें अपने आस-पास के वातावरण की वस्तुओं का प्रयोग तथा आस-पास रहने वालों की सेवा करने को बाध्य करती है। स्वदेशी-सेवाव्रत से दूर वालों की सेवा नहीं होती, इस आलोचना के उत्तर में गांधीजी का कहना है, 'स्वदेशो की शुद्ध सेवा करने में परदेशी को भी शुद्ध सेवा होती है। यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।' इसके अतिरिक्त परदेशी की सेवा के मोह में, वह तो हो ही नहीं पाती और पड़ोसी की सेवा भी नहीं हो पाती। इस प्रकार स्वदेशी व्रत का व्यावहारिक रूप यह होगा कि धर्म के क्षेत्र में हमें पूर्वजों के धर्म तक ही सीमित रहना चाहिए। यदि हम देखते हैं कि हमारा धर्म त्रुटिपूर्ण है तो हमें उसका सुधार करके उसकी सेवा करनी चाहिए। राजनीति के क्षेत्र में हमें देशी संस्थाओं का उपयोग करना चाहिए और उनके प्रमाणित दोषों को दूर करके उनकी सेवा करनी चाहिए। अर्थशास्त्र के क्षेत्र में हमें उन्हीं वस्तुओं का उपयोग करना चाहिए जो हमारे पास-पड़ोसियों ने बनायी हैं और उन दस्तकारियों में जो कमी हों उनको दूर करके उनकी सेवा करनी चाहिए। अंतिम एवं महत्त्वपूर्ण तथ्य 'निर्भयता' है। जो वास्तव में निर्भय है वह अपनी आत्मशक्ति द्वारा सभी प्रकार के असत्यों से अपनी रक्षा कर सकेगा।

पूर्ण सत्याग्रह का प्रयोग शरीरधारी मनुष्य के लिए संभव नहीं। यह शरीर भी अहिंसा के आदर्श की प्राप्ति में एक बाधा है। गांधीजी शरीर के रहते हुए पूर्णमुक्ति अथवा जीवनमुक्ति में विश्वास नहीं करते थे क्योंकि देहधारी आत्मा को शारीरिक सीमाओं में किसी एक बिंदु तक अवश्यमेव रहना पड़ता है। अतः जब मनुष्य इस शरीर

के रहते पूर्ण अहिंसा का पालन नहीं कर सकता तो इस जीवन में पूर्ण सत्यकी उपलब्धि भी संभव नहीं।

परम उद्देश्य : मुक्ति; साधन : कर्मयोग

हिंदू धर्म और दर्शन में विश्वास करने के कारण गांधीजी ने जीवन का परम उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति माना है। मुक्ति से गांधीजी का सामान्य तात्पर्य है शरीर से आत्मा की मुक्ति। शरीर से मुक्त होकर आत्मा शाश्वत आनंद का अनुभव करती है। गांधीजी मुक्ति के अंतिम स्वरूप की चिंता कम करते हैं और इस जीवन पर विशेष ध्यान देते हैं कि किस प्रकार इस संसार में सर्वोत्तम जीवन व्यतीत किया जा सकता है जो मुक्ति-पथ पर अग्रसर कर सके। अतः उनकी शिक्षा का केन्द्र नीति-शास्त्र है, न कि दर्शन-शास्त्र। उनके विचार में प्रत्येक मनुष्य को शुद्ध जीवन व्यतीत करना चाहिए। आत्म-शुद्धि या नैतिक गुणों के अर्जन द्वारा ही सच्चा ज्ञान मिलता है।

हम देख चुके हैं कि गांधीजी के लिए ईश्वर 'नैतिक विधान' है। 'वह स्वयं में विधान और विधायक दोनों ही है।' अतः ईश्वरीय नैतिक विधान का पालन ही 'धर्म' है। गांधीवादी दर्शन में धर्म नैतिकता के बराबर है। पवित्र जीवन या नैतिक जीवन व्यतीत करना ही धर्म का सर्वोत्तम रूप है। भारतीय परंपरा के सर्वथा अनुकूल गांधीजी धर्म को संकीर्ण रूप में नहीं, वरन् 'सृष्टि के व्यवस्थित नैतिक विधान' के रूप में ग्रहण करते हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपने आत्मोत्थान के लिए उत्तम नैतिक जीवन व्यतीत करना चाहिए।

उत्तम नैतिक जीवन से गांधीजी का तात्पर्य उस जीवन से नहीं है जिसे लोक-समाज से पृथक् रहकर तपस्या के साथ बिताया जाता है और जिसे संन्यास की संज्ञा प्रदान की जाती है। गांधीजी की नैतिकता का स्वरूप गीता पर आधारित है। वह गीता के नैतिक सिद्धांत के मध्यबिंदु—कर्मफल त्याग एवं निष्काम कर्म—में आस्था रखते हैं। कर्मफल-का त्याग देहधारी के लिए असंभव है। यदि कर्म के द्वारा व्यक्ति में क्रोध, घृणा, लोभ, मोह और स्वार्थपूर्ण इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं, जो उसके आध्यात्मिक विकास में बाधक हैं, तो कर्म के इस दोष से बचने के लिए कर्म-संन्यास की आवश्यकता नहीं है। इस दोष से मुक्ति का उपाय है फलेच्छा और आसक्ति से मुक्त होकर केवल कर्त्तव्य की भावना से प्रेरित होकर, लोककल्याणार्थ निष्काम कर्म करना। गांधीजी का कहना है, 'निषिद्ध केवल फलासक्ति है, विहित है अनासक्ति'† 'कर्म मात्र का त्याग गीता के संन्यास को भाता नहीं। गीता का संन्यासी अतिकर्मी है तथापि अति-अकर्मी है,' ‡ क्योंकि वह

---

† गांधीजी : 'गीता माता', पृष्ठ ११२

‡ वही पृष्ठ १११

कर्मफल का त्याग करता है और यही संन्यास का सच्चा रूप है। अतः गांधीजी प्रत्येक व्यक्ति के लिए सहयात्री प्राणियों के हित के लिए निष्काम कर्म में विश्वास करते हैं। वह व्यक्ति की मूल प्रवृत्तियों और इच्छाओं के दमन में विश्वास नहीं करते; वह केवल उनको रूपांतरित करना चाहते हैं। वह व्यक्ति की मूल प्रेरणाओं एवं संवेगों को युक्ति एवं अंतर्प्रेरणा के अनुसार बनाना चाहते हैं। गांधीजी एक व्यक्ति को समाज के पुरस्कार या दंड, प्रतिष्ठा या निरादर के कारण नैतिक बनाना नहीं चाहते। उनका कहना है कि मनुष्य के अपने अंतस्तल में जो नैतिक नियम स्थित है उसी के अनुसार उसे आचरण करना चाहिए। मानव-जीवन की पवित्रता और दिव्यता में विश्वास करने के कारण वह उसके भीतर उठने वाले आंतरिक नैतिक नियम की दिव्यता में विश्वास करते हैं। अतः मनुष्य को अपनी वास्तविक, दिव्य स्वप्रकृति—दिव्य प्रेरणा—से प्रेरित होकर कर्म करने चाहिए। यह दिव्य प्रेरणा कर्त्तव्य की प्रेरणा है। यह व्यक्ति के विवेक को जाग्रत करती है। इस प्रेरणा के द्वारा व्यक्ति अपनी आंतरिक बुराइयों का निराकरण करके अपनी स्वार्थपूर्ण इच्छाओं का उन्नयन एवं दिव्यीकरण कर सकेगा। फलस्वरूप लोकहितार्थ कर्म द्वारा, विश्वकल्याण द्वारा अपनी आत्मा को ऊँचा उठाकर अपने इष्टमार्ग का सरलतापूर्वक अनुसरण कर सकेगा।

मनुष्य-जीवन के दो पक्ष

गांधीजी के अनुसार धर्म और नैतिकता से मनुष्य-जीवन का प्रत्येक क्षेत्र व्याप्त होना चाहिए। मनुष्य-जीवन का विभाजन दो पक्षों में किया जा सकता है—निजी और सामाजिक। निजी पक्ष से तात्पर्य है व्यक्ति का अपना गुप्त जीवन। सामाजिक पक्ष का क्षेत्र विस्तृत होता है। उसमें परिवार, समाज और राज्य भी सम्मिलित होते हैं। यद्यपि जीवन का इन दो पक्षों में विभाजन कर दिया गया है फिर भी दोनों अविभाज्य हैं। व्यक्ति को अपना निजी जीवन अहिंसा के आदर्श के अनुरूप व्यतीत करना चाहिए। उसे उन सभी व्रतों का पालन करना चाहिए जिनका हम पहले वर्णन कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त गांधीजी चाहते हैं कि व्यक्ति एक सादा एवं सरल जीवन व्यतीत करे। सरल जीवन व्यतीत करने का विचार गांधीजी ने रस्किन की प्रसिद्ध पुस्तक, 'अन्टु दिस लास्ट' से ग्रहण किया। यही विचार गांधीवादी नीति-शास्त्र का आधार है। सरल व्यक्तियों द्वारा सरल समाज की रचना हो सकती है जिसमें विलास की वस्तुओं के लिए प्रतियोगिता नहीं होगी। इस प्रकार सभी व्यक्ति शांतिपूर्ण और समरस जीवन व्यतीत करेंगे। सरल जीवन-संबंधी नीति-शास्त्र में यह धारणा निहित है कि 'कोई भी व्यक्ति दूसरे के श्रम पर अपना जीवन व्यतीत न करे।' गांधीजी ने वर्ण-धर्म को स्वीकार किया है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जीविका के लिए श्रम करना चाहिए। किंतु जीविकार्जन के लिए केवल मानसिक श्रम ही पर्याप्त नहीं है। यह प्रश्न पूछे जाने पर कि क्यों नहीं

मानसिक श्रम करने वाले शरीरिक श्रम करने वालों के बराबर समझे जायँ, गांधीजी ने उत्तर दिया था, "बौद्धिक कार्य बड़ा महत्त्वपूर्ण है और निस्संदेह उसका जीवन में एक स्थान है, किंतु मैं तो सबके लिए शारीरिक श्रम आवश्यक समझता हूँ। किसी भी व्यक्ति को इससे छुटकारा नहीं मिलना चाहिए। शारीरिक श्रम से मानसिक कार्य की क्षमता भी बढ़ती है।"† गीता के अध्ययन ने गांधीजी का विश्वास कायिक श्रम में और भी बढ़ा दिया। उसके अनुसार 'यज्ञ किए बिना खाने वाला चोरी का अन्न खाता है, यह कठिन शाप अयज्ञ के लिए है।' गांधीजी का कहना है कि 'यहाँ यज्ञ का अर्थ कायिक श्रम या रोटी-श्रम ही शोभा देता है।'‡ सरल जीवन की दूसरी विशिष्ठता है कि यह एक प्रार्थनापूर्ण जीवन है। प्रत्येक व्यक्ति को हृदय से अत्यंत नम्रतापूर्वक ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिए। यह प्रार्थना धन या दूसरे भौतिक पदार्थों के लिए नहीं करनी चाहिए, वरन् नैतिक शक्ति, सत्य-दर्शन और सच्चरित्रता के लिए करनी चाहिए। सरल जीवन स्वयं ही एक प्रार्थना है।

व्यक्ति के जीवन के सामाजिक पक्ष को भी धर्म और नीति के अनुकूल होना चाहिए। अद्वैत में विश्वास करने के कारण गांधीजी एक ही आत्मा को सब प्राणियों में व्यक्त देखते हैं, अतः वह समाज-सेवा में विश्वास करते हैं। समाज-सेवा का क्षेत्र व्यापक होना चाहिए। उस क्षेत्र में जीवन के विभिन्न विभाग सम्मिलित होने चाहिए। नैतिक धर्म के सामाजिक पक्ष में कुछ जटिल समस्याएँ हैं जिनके निराकरण में प्रत्येक व्यक्ति को दृढ़तापूर्वक प्रयत्नशील रहना है। पहली समस्या है धनी और ग़रीब का संबंध। इस समस्या के समाधान के लिए गांधीजी ने दो सूत्रों को सुझाव के रूप में दिया है—प्रथम, सबकी भलाई में ही व्यक्ति की भलाई है। द्वितीय, प्रत्येक पेशा सम्मानित है; नाई के कार्य का भी वही महत्त्व है जो वकील के कार्य का। गांधीजी धनी वर्ग को खत्म करने के पक्ष में नहीं और न वह पूर्ण रूप से ग़रीब वर्ग के अस्तित्व को ही बनाए रखना चाहते हैं। खाना और कपड़े पर सबका समान अधिकार है चाहें उनके पेशे एक दूसरे से भिन्न क्यों न हों। गांधीजी धनी वर्ग द्वारा धन के अर्जन के विरोधी नहीं, पर धनी वर्ग को 'तेनत्यक्तेन भुंजीथा' के आदेश के पालन का परामर्श देते हैं। दूसरी समस्या है अस्पृश्यता-निवारण। गांधीजी कहते हैं कि यह दोष संसार भर में किसी न किसी रूप में अवश्य फैला हुआ है, पर भारत में इसने धर्म का रूप ग्रहण कर लिया है। उनका विचार है, जब कि एक ही आत्मा सब मनुष्यों में व्याप्त है तो कोई भी अस्पृश्य नहीं है, अतः अस्पृश्यता-निवारण का अर्थ है 'समस्त संसार के साथ मित्रता रखना, उसका सेवक बनना।' तीसरी समस्या है विभिन्न धर्मों के प्रति समभाव रखना। गांधीजी के विचार में, "सब धर्म ईश्वरदत्त हैं, पर

† N. K. Bose : 'Studies in Gandhism' p. 87
‡ गांधीजी : 'धर्म और नीति', पृष्ठ १५३

मनुष्य-कल्पित होने के कारण मनुष्य द्वारा उनका प्रचार होने के कारण वे अपूर्ण हैं। ईश्वर-दत्त धर्म अगम्य है।...सब अपनी-अपनी दृष्टि से जब तक वह दृष्टि बनी है तब तक, सच्चे हैं। पर झूठा होना भी असंभव नहीं है। इसीलिए हमें सब धर्मों के प्रति समभाव रखना चाहिए। इससे अपने धर्म के प्रति उदासीनता नहीं आती, बल्कि स्वधर्म-विषयक प्रेम अंधा न रहकर ज्ञानमय हो जाता है, अधिक सात्विक, निर्मल बनता है। सब धर्मों के प्रति समभाव आने पर ही हमारे दिव्य चक्षु खुल सकते हैं।"†

चौथी समस्या का संबंध सामाजिक सभ्यता में यंत्र के स्थान और कार्य से है। गांधीजी ने आधुनिक सभ्यता की इसलिए भर्त्सना की है क्यों कि उसके केन्द्र में यंत्र की प्रतिष्ठा है। अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराज्य' में उन्होंने आधुनिक सभ्यता को राक्षसी सभ्यता कहा है क्योंकि इसमें मनुष्य यंत्रों द्वारा कुचला जाता है। यंत्रों ने मनुष्य के अंगों को बेकार बना दिया और उसके दीर्घकालीन गुणों का विनाश कर दिया है। किंतु आगे चलकर उनके इस विचार में कुछ परिवर्तन हुआ। उन्होंने कहा कि आदर्श रूप में तो मैं यंत्र का पूर्ण रूप से बहिष्कार करूँगा जैसे कि मैं इस शरीर रूपी यंत्र का भी जो कि पूर्ण सत्य या मुक्ति की प्राप्ति में बाधक है। परंतु शरीर की भाँति यंत्र भी रहेंगे क्योंकि शरीर की भाँति वे भी आवश्यक हैं। गांधीजी यंत्रों का विरोध नहीं करते, वरन् उसके अमानुषिक व्यवहार का बहिष्कार करते हैं। वह ऐसे सरल यंत्रों के पक्ष में हैं जो मनुष्य को उसकी मनुष्यता से दूर नहीं ले जाते। उनके विचार में चरखा, सिलाई की मशीन आदि ऐसे ही यंत्र हैं। ऐसे यंत्र श्रम की बचत करते हैं और गाँवों में रहने वाले बहुत से लोगों को बेकार नहीं बनाते। गांधीजी अपनी योजना में ऐसे यंत्रों को स्थान देते हैं। किंतु हानिप्रद और हानिरहित यंत्रों में भेद करना कठिन है। किसी भी यंत्र को हानप्रद या हानिरहित बनाया जा सकता है। यंत्रों का हानिप्रद या हानिरहित होना प्रयोगकर्त्ता पर आश्रित है। ऐसी दशा में सिलाई की मशीन भी शोषण का साधन बन सकती है और उससे हिंसा उत्पन्न हो सकती है। यंत्र न अच्छा है और न बुरा। इसका नैतिक मूल्य कुछ भी नहीं है। इसका अच्छा या बुरा होना उसके संचालक पर निर्भर है। फिर एक सरल यंत्र के उत्पादन के लिए ही जटिल यंत्रों का निर्माण आवश्यक हो जाता है। अतः एक बार यंत्रों को प्रोत्साहन देने के पश्चात् उनकी हानियों से बचना सरल नहीं है।

इस प्रकार निजी और सामाजिक जीवन-संबंधी सात्विक नियमों का पालन करके व्यक्ति अपना आत्मोत्थान कर सकता है। आत्मोत्थान द्वारा ही विश्वकल्याण संभव है। 'वैयक्तिक साधना सामूहिक विकास का एक आवश्यक अंग है।' व्यक्ति को अपने चरम लक्ष्य—मुक्ति की प्राप्ति के लिए इसी साधना-मार्ग का अनुसरण करना अनिवार्य है।

---

† गांधीजी : 'धर्मनीति', पृष्ठ १५६

शिक्षा-दर्शन

गांधीजी का शिक्षा-दर्शन उनके जीवन-दर्शन के अनुरूप ही है। उनका जीवन-दर्शन कर्मयोग का पर्याय है। वह भारतीय परम्परा के सर्वथा अनुकूल जीवन के परम लक्ष्य—मुक्ति—में विश्वास रखते हैं और कर्मयोग की साधना द्वारा उसकी प्राप्ति पर बल देते हैं। योग का अर्थ है ईश्वर से संयुक्त होना। गीता का वचन है—'योगः कर्मसुकौशलम्'—कर्म-कौशल से सहज ही ईश्वर की प्राप्ति होती है। गांधीजी के लिए सत्य ही ईश्वर है और अहिंसा कर्मयोग की साधना।

परम लक्ष्य : सत्य का बोध: साधन : अहिंसा

गांधीजी ने ईश्वर को सत्य के रूप में ग्रहण किया है। अद्वैत में विश्वास करने के कारण वह ईश्वर की परमएकता में आस्था रखते हैं। उनके विचार में, इस सृष्टि के पीछे, ईश्वर ही परम सत्ता है; संसार भ्रम है, परिवर्तनशील है। परिवर्तनों के बीच परम सत्य अर्थात् ईश्वर ही एकमात्र स्थिरता है। गांधीजी के लिए सत्य के अतिरिक्त कोई दूसरा ईश्वर नहीं है। 'ईश्वर सत्य है' कहने की अपेक्षा, 'सत्य ही ईश्वर है' कहना वह श्रेयस्कर समझते थे।

प्रश्न यह उठता है कि इस 'सत्य' की प्राप्ति किस प्रकार की जाय? अहिंसा, विश्व-प्रेम अथवा मानव-सेवा द्वारा। ईश्वर की एकता में आस्था रखने के कारण गांधीजी मानवता की एकता में भी विश्वास रखते हैं। 'हमारे शरीर, यदि अनेक हैं तो क्या हुआ, हमारी आत्मा तो एक है। सूर्य की किरणें अनेक हैं, किंतु उनका स्रोत, सूर्य तो एक है।' अतः क्योंकि एक ही आत्मा सब प्राणियों में समान रूप से व्याप्त है, इसलिए 'भेद-भाव मिथ्या है'। यही कारण है कि आत्मोत्थान के प्रयास के लिए उन्होंने मानव-सेवा को आवश्यक साधन माना है। उन्होंने स्वयं कहा है कि 'मेरा धर्म ईश्वर-सेवा है अतः मानवता की सेवा है।' मनुष्य का परम उद्देश्य ईश्वर-बोध है और उसके धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि सभी प्रकार के कार्य-कलाप जीवन के परम उद्देश्य, ईश्वर के साक्षात्कार की भावना से निर्देशित होने चाहिए। ईश्वर के साक्षात्कार, उसके दर्शन का मार्ग है मनुष्यमात्र की तात्कालिक सेवा, सम्पूर्ण सृष्टि में उसका दर्शन करना और उसकी बनायी हुई सृष्टि के साथ एकात्मता स्थापित करना। प्रत्येक व्यक्ति को भली भाँति यह समझ लेना चाहिए कि 'मैं संपूर्ण सृष्टि का एक अंग हूँ, मैं शेष मानवता से पृथक् रूप में उसे नहीं प्राप्त कर सकता हूँ।' गांधीजी के लिए 'ईश्वर न हिंदुओं के मंदिर में है, न ईसाइयों के गिरजाघरों में और न मुसलमानों की मस्जिद में। वह मानवता के मंदिर में है।' वास्तव में कोई व्यक्ति उसी अंश में महान है जिस अंश में वह अपने समाज के कल्याण के लिए कार्य करता है। समाज-कल्याण अथवा लोक-कल्याण ही अहिंसा के सिद्धांत

का क्रियात्मक रूप है। यही अहिंसा में निहित प्रेम की भावना का व्यावहारिक प्रदर्शन है। अहिंसा द्वारा प्रेरित कर्म ही कर्मयोग की साधना है। अहिंसा अथवा प्रेम ही सत्य की प्राप्ति का एकमात्र साधन है। "अहिंसा और सत्य परस्पर इस प्रकार ओतप्रोत हैं जैसे एक सिक्के के दोनों रुख या चिकनी चकती के दो पहलू। उसमें किसे उल्टा कहें और किसे सीधा ? फिर भी, अहिंसा को साधन और सत्य को साध्य मानना चाहिए। साधन अपने वश की बात है, इसी से अहिंसा को परम धर्म कहा गया है। चिंता करते रहने पर साध्य की प्राप्ति एक-न-एक दिन होगी ही।" ईश्वर को प्राप्त करने के लिए अज्ञानजन्य द्वैत भाव अथवा भेद-भाव का निराकरण करना आवश्यक है। मनुष्य-मात्र में ईश्वर को स्थित मानकर सबके प्रति समानता का भाव, सबके प्रति एकात्मता का अनुभव करना चाहिए। 'ईश्वर ही सब प्राणियों का आंतरिक सत्य है।'

यद्यपि सत्य साध्य और अहिंसा साधन है किंतु साधन को साधने के लिए भी दृढ़ निश्चय, तपस्या और साधना-पूर्ण जीवन की आवश्यकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ईश्वर का दर्शन प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति को सत्य एवं अहिंसा से संबंधित ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय आदि अन्य सभी व्रतों का पालन अनिवार्य है। इनका वर्णन हम 'जीवन-दर्शन' के अंतर्गत कर चुके हैं। ये सब व्रत एक ही महाव्रत 'सत्य' से उत्पन्न होते हैं। स्पष्ट रूप से समझ लेने के लिए इन्हें निम्नांकित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :
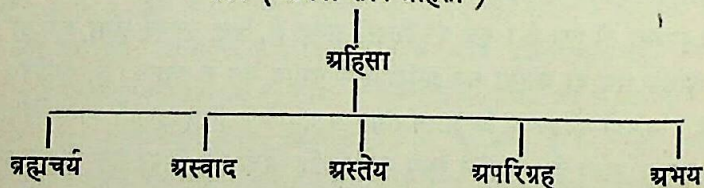
'ईश्वर स्वयं निश्चय की, व्रत की संपूर्ण मूर्ति है। उसके नियमों से एक अणु भी इधर-उधर हो जाय तो वह ईश्वर न रह जाय।' अतः मनुष्य को ईश्वर की प्राप्ति के निमित्त स्वयं व्रत धारण करना आवश्यक है। उसे व्रत की आवश्यकता के संबंध में लेश-मात्र भी शंका नहीं करनी है। सत्य और अहिंसा-संबंधी नैतिक नियमों की साधना द्वारा ही व्यक्ति आत्मोत्थान कर सकता है।

सामूहिक जीवन में सत्य और अहिंसा का प्रयोग

गांधीजी के जीवन-दर्शन पर विचार करते समय हम यह देख चुके हैं कि वह रूढ़िवादी और अरूढ़िवादी दोनों ही कहे जा सकते हैं। उनकी आस्था प्रयोग में थी और वह तर्कसंगत होने पर ही किसी विचार को स्वीकार करते थे। यह उनकी अरूढ़िवादी प्रवृत्ति का परिचायक है। उन्हें रूढ़िवादी इसलिए कहा जा सकता है कि उन्होंने वेद,

उपनिषद्, गीता आदि हिंदू धर्म-ग्रंथों के तर्कसंगत, शाश्वत सत्यों को स्वीकार किया और जीवन में उनको व्यवहृत किया। गांधीजी ने स्वयं स्वीकार किया है कि वास्तव में उन्होंने किसी नवीन वस्तु की खोज नहीं की है, वरन् प्राचीन सत्यों को ही आधुनिक युग के अनुरूप रूपांतरित किया है, उनकी फिर से व्याख्या की है। उन्होंने मुख्यतः सामूहिक जीवन में उनके उपयोग का प्रयास किया है। ये सत्य अब तक वैयक्तिक जीवन के ही निर्देशक थे और सामूहिक या सामाजिक जीवन में इनके उपयोग की सदैव उपेक्षा की गयी थी। इसी कारण भारतीय दर्शन पर यह आरोप लगाया गया था कि उसका दृष्टिकोण व्यक्तिवादी है। गांधीजी को इस बात का श्रेय है कि उन्होंने यह प्रमाणित किया कि प्राचीन सत्य व्यक्ति को व्यक्तिवादी नहीं बनाते, केवल व्यक्तिगत पूर्णता की ओर ले जाने वाले नहीं हैं, वरन् व्यक्ति को इस बात का बोध कराते हैं कि वह परम सत्य की उपलब्धि तभी कर सकता है जब कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति का विकास हो जाय। अहिंसा का व्यवहार केवल वैयक्तिक जीवन में नहीं, वरन् सामूहिक जीवन, जातीय अथवा राष्ट्रीय जीवन में भी किया जा सकता है।

गांधीजी यह नहीं चाहते थे कि व्यक्ति सत्य का बोध अकेले ही प्राप्त करे। उनका विचार है कि व्यक्ति ईश्वर का बोध समाज के अन्य सदस्यों के साथ करे। अतः वह जाति, वंश, वर्ण, धन, शक्ति आदि के भेद-भाव से परे एक ऐसे अध्यात्मवादी समाज के निर्माण की कल्पना करते हैं जिसका प्रथम उद्देश्य मानव-बंधुत्व और अंतिम उद्देश्य ईश्वर का बोध हो। ऐसे अध्यात्मवादी समाज की स्थापना प्रेम, अहिंसा, सत्य और न्याय के नैतिक सिद्धांतों की आधारशिला पर ही हो सकती है। ऐसा समाज शोषण और अन्याय से रहित होगा। वह श्रमजीवियों के वर्गविहीन समाज का निर्माण करना चाहते थे, वह पूँजीवाद और ज़मींदारी के विरुद्ध थे। उनका विश्वास था कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवन के उतने न्यूनतम साधन प्राप्त होने चाहिए जो उत्तम, सुंदर और सभ्य जीवन व्यतीत करने के लिए आवश्यक हैं। ऐसे समाज में निर्बलों पर बलवानों का कोई प्रभुत्व नहीं होगा। एक ही परमपिता की संतान होने के नाते सब परस्पर प्रेम करेंगे, और परस्पर सहायता करेंगे और इस प्रकार सब सत्य की ओर अग्रसर होंगे।

प्लेटो की भांति गांधीजी ने भी एक आदर्श राज्य की कल्पना की है। उनके राज-नीति-दर्शन में एक आदर्श समाज का विकास और उसकी स्थापना सम्मिलित है। यह आदर्श समाज एक राज्यरहित प्रजातंत्र होगा जिसमें सामाजिक जीवन इतना पूर्ण होगा कि इसमें स्वयमेव आत्मनियमन और आत्मनुशासन होगा। "एक ऐसे राज्य में प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपना शासक है। वह अपने को इस प्रकार शासित रखता है कि अपने पड़ोसी के लिए बाधक नहीं होता। अतः आदर्श राज्य में कोई राजनीतिक शक्ति नहीं होती क्योंकि वहाँ कोई राज्य नहीं होता।" ऐसा आदर्श प्रजातंत्र सत्याग्रही ग्राम-समु-

दायों का एक संघ होगा। ऐसे समुदाय में प्रत्येक व्यक्ति अहिंसा में विश्वास करने वाला होगा। दूसरे शब्दों में वह 'सर्वोदय-समाज' के भवन का निर्माण करना चाहते थे जिसके माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति अपने अंतिम लक्ष्य—सत्य—तक पहुँच सके।

आध्यात्मिक अथवा सर्वोदय-समाज के निर्माण के लिए आवश्यकता इस बात की है कि उस समाज का प्रत्येक व्यक्ति शिक्षित हो। अतः गांधीजी भारत के प्रत्येक स्त्री-पुरुष और बालक को शिक्षित देखना चाहते थे। इस देश के लोगों की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक क्षेत्रों में व्यापक और महान् स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए गांधीजी शिक्षा को आधारभूत तत्व मानते थे।

शिक्षा से तात्पर्य

शिक्षा से गांधीजी का तात्पर्य है, बालक के भीतर से सर्वोत्तम को सर्वतोभावेन बाहर निकालना; उसके शरीर, मन और आत्मा का पूर्ण विकास करना। वह 'साक्षरता' को शिक्षा का न आरंभ मानते हैं और न अंत। 'साक्षरता' शिक्षा के साधनों में एक साधन है जिसके द्वारा स्त्री-पुरुष शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं किंतु साक्षरता पूर्ण शिक्षा नहीं है। अतः गांधीजी शिक्षा के विषयों और साधनों से अधिक ज़ोर बालक के व्यक्तित्व पर देते हैं। पेस्टॉलॉजी की भाँति गांधीजी भी बालक के सर्वतोमुखी, संगतिपूर्ण विकास में विश्वास करते हैं। उनके विचार में मनुष्य, केवल बुद्धि, शरीर, हृदय और आत्मा नहीं है, वरन् इन सबके सामंजस्यपूर्ण विकास में ही शिक्षा का सार और उसकी पूर्णता निहित है। शिक्षा की व्याख्या करते हुए गांधीजी ने कहा है, 'शिक्षा को बालक और बालिका के संपूर्ण व्यक्तित्व को विकसित करना चाहिए। कोई भी शिक्षा ठोस नहीं कही जा सकती है जो बालक और बालिका को एक उपयोगी नागरिक नहीं बनाती है।' मनुष्य की पूर्णता उसके व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में है, अतः शिक्षा का यह अनिवार्य कर्तव्य है कि वह मनुष्य के शरीर, हृदय, मन और आत्मा का संगतिपूर्ण विकास करे। इस प्रकार हम देखते हैं कि गांधीजी शिक्षा का अर्थ व्यापक रूप में ग्रहण करते हैं जिसके अंतर्गत संपूर्ण जीवन समाविष्ट है। इसी तात्पर्य से गांधीजी ने शिक्षा के उद्देश्यों की विस्तृत व्याख्या की है।

चरम उद्देश्य

देश की आदर्शवादी दार्शनिक परंपरा के अनुकूल गांधीजी का विश्वास है कि जीवन और शिक्षा का उच्चतम उद्देश्य आत्मा की प्राप्ति है; "आधुनिक शिक्षा आत्मा की ओर से आँख फेर लेना चाहती है। अतः आत्मशक्ति की संभावनाएँ हमारे ध्यान को आकर्षित नहीं करतीं। फलस्वरूप हमारी दृष्टि परिवर्तनशील भौतिक शक्तियों पर गड़ी रहती हैं।"† अपनी आत्मकथा में उन्होंने कहा है, "टॉलस्टॉय फ़ार्म के

† Mahatma Gandhi : 'To the Students', p. 190

बच्चों को शिक्षा देने के बहुत पूर्व मैंने अनुभव किया कि आत्मा का प्रशिक्षण अपने आप में एक चीज़ है। आत्मा का विकास करना चरित्र-निर्माण करना है और यह व्यक्ति को ईश्वरीय ज्ञान और आत्मबोध की ओर अग्रसर होने में सहायता पहुँचाता है। मेरा विश्वास था कि बालक के प्रशिक्षण का यह एक सारभूत अंग था और आत्म-संस्कार के बिना सभी प्रकार के प्रशिक्षण व्यर्थ और हानिकारक भी हो सकते हैं।"‡

यद्यपि गांधीजी आत्मबोध को सर्वोच्च लक्ष्य मानते थे तथापि उसकी प्राप्ति के लिए समाज से दूर एकांत जंगल में रहना पसंद नहीं करते थे। वह आत्मबोध को पारलौकिकता के साथ जोड़ देने के विचार से सहमत नहीं थे। उनका कहना है कि इसी विचार ने ब्राह्मणों और पुरोहितों को अयोग्य बना दिया जिससे वे भारतीय जनता को उन्नति और संस्कृति की ओर अग्रसर नहीं कर सके। गांधीजी उपनिषदों को परंपरा के अनुसार, स्वामी दयानंद और विवेकानंद की ही भाँति समाज में रहते हुए आत्मबोध प्राप्त करने में विश्वास करते थे। उनके आत्मबोध के लक्ष्य में शिक्षा के अन्य सभी उद्देश्य सम्मिलित हैं। वह वास्तविक शिक्षा उसे कहते हैं जो मुक्ति प्रदान करे— सा विद्या या विमुक्तये'। इसी को उन्होंने गुजरात विद्यापीठ का निर्देश-वाक्य (Motto) बनाया जिसकी स्थापना उनके द्वारा सन् १९२० ई० में हुई थी। इस निर्देश-वाक्य की व्याख्या उन्होंने इस प्रकार की है: "इसका तात्पर्य यह है कि ज्ञान वही है जो मोक्ष (की ओर ले जाता) है। इस सिद्धांत के अनुसार कि महानता में लघुता सम्मिलित होती है, राष्ट्रीय स्वाधीनता और भौतिक स्वतंत्रता, आत्मिक स्वतंत्रता में ही निहित हैं। अतः शिक्षा-संस्थाओं में जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है उसे इस प्रकार की स्वतंत्रता के लिए मार्ग-निर्देश करना चाहिए और उस ओर अग्रसर करना चाहिए।"* एक विद्यार्थी ने गांधीजी से पूछा था कि शिक्षा समाप्त करने के बाद वह क्या करे ? गांधी जी ने उसका उत्तर देते हुए कहा था कि "पुरानी उक्ति है कि 'शिक्षा वह है जो मुक्ति प्रदान करती है,' यह आज भी उतनी ही सत्य है जितनी पहले थी। शिक्षा का मतलब केवल आत्मिक ज्ञान नहीं है और न मुक्ति का तात्पर्य है कि मृत्यु के बाद की मुक्ति। ज्ञान में वे सभी प्रकार के प्रशिक्षण सम्मिलित हैं जो मानव-सेवा के लिए लाभप्रद हैं और मुक्ति का अर्थ है सभी प्रकार की दासता से मुक्ति, यहाँ तक कि इसी जीवन में।" आत्मा की स्वतंत्रता सर्वश्रेष्ठ स्वतंत्रता है। अन्य प्रकार की स्वतंत्रताएँ (आर्थिक, राजनीतिक, और बौद्धिक) इस सर्वश्रेष्ठ स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। अतः गांधीजी ने शिक्षा-जगत् के समक्ष तात्कालिक उद्देश्यों को रखा है।

---

‡ Gandhi : 'Autobiography', P. 413

* 'Young India', March 20, 1930

तात्कालिक उद्देश्य

चरित्र निर्माण—आत्मबोध के आदर्श की प्राप्ति में एक आध्यात्मिक समाज-व्यवस्था की सत्ता पूर्वकल्पित है और क्योंकि समाज की पूर्णता लोगों के चरित्र पर आश्रित है, अतः गांधीजी चरित्र-निर्माण को शिक्षा का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य मानते हैं। उनका कथन है कि 'सच्ची शिक्षा साहित्यिक प्रशिक्षण में नहीं है, वरन् चरित्र-निर्माण है। इमर्सन, रस्किन, मेज़िनी और उपनिषदों के अध्ययन से मेरा यह विश्वास दृढ़ हो गया है।'† गांधीजी ने चरित्र-निर्माण पर इतना अधिक बल दिया है कि यदि उन्हें चरित्र-निर्माण और साहित्यिक प्रशिक्षण दोनों में एक को चुनना हो तो वह साहित्यिक प्रशिक्षण का त्याग भी कर सकते हैं। यह पूछे जाने पर कि यदि भारत स्वतंत्रता प्राप्त कर लेता है तो आपके विचार में शिक्षा का लक्ष्य क्या होगा? उन्होंने तत्काल उत्तर दिया, " 'चरित्र-निर्माण'। मैं साहस, शक्ति, सद्गुण, महान् उद्देश्य के लिए कार्य करते हुए अपने को भूल जाना आदि गुणों को विकसित करने का प्रयास करूँगा। यह साहित्यिक शिक्षा से अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि साहित्यिक शिक्षा तो महान लक्ष्य का एक साधन है। इसी कारण जब यह कहा जाता है कि भारत में साक्षरता का अत्यंत शोचनीय अभाव है तो इसका मेरे ऊपर प्रभाव नहीं पड़ता और न मुझे यह महसूस करने को बाध्य करता है कि भारत स्वशासन के लिए अयोग्य है।" गांधीजी के लिए व्यक्तिगत चरित्र की पवित्रता, एक ठोस शिक्षा के निर्माण के लिए अनिवार्य है। वह निश्चयपूर्वक कहते हैं कि 'विद्यार्थियों को अपने भीतर खोजना है और अपने व्यक्तिगत चरित्र का ध्यान रखना है और बिना आरंभिक व्यक्तिगत पवित्रता के चरित्र क्या है?'

'समस्त ज्ञान का उद्देश्य होना चाहिए चरित्र-निर्माण।'‡ 'हमारा सारा अध्ययन, वेदों का पाठ, संस्कृत, लैटिन और ग्रीक का सही ज्ञान और सभी कुछ, यदि ये सब हमारे हृदय को शुद्ध नहीं बनाते हैं तो हमारे लिए व्यर्थ हैं।'†† इस प्रकार गांधीजी औचित्यता और उत्तम जीवन को हमारे चरित्र का सारभूत अंग मानते हैं और चरित्र-निर्माण को शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य स्वीकार करते हैं।

यद्यपि गांधीजी चरित्र-निर्माण की तुलना में साहित्यिक प्रशिक्षण को अधिक महत्त्व नहीं देते फिर भी तथ्य यह है कि इसके पूर्णतया त्याग के पक्ष में भी नहीं हैं।

---

† R. M. Patel : 'Gandhiji in Sadhana', (Gujrati), p. 114
‡ Mahatma Gandhi : 'To the Students', p. 107
†† Ibid,

जीविकोपार्जन—गांधीजी वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति के इस दोष को भलीभाँति जानते थे कि इसमें बालकों का शिक्षा-काल समाप्त होने पर भी उन्हें भोजन, वस्त्र, निवास आदि जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं से मुक्त होने का कोई आश्वासन नहीं है। आज की भाँति बेकारी की समस्या तब भी विद्यमान थी। यह एक स्वीकृत तथ्य है कि जब तक मनुष्य अपनी आरंभिक आवश्यकताओं से मुक्त नहीं होता तब तक भौतिक, नैतिक और बौद्धिक उन्नति नहीं कर सकता है, आध्यात्मिक उन्नति की बात तो दूर रही। गांधीजी शिक्षा की ऐसी व्यवस्था चाहते थे जिसके आधार पर आजकल की निरुद्देश्य शिक्षा प्राप्त करने वाले बालकों से भिन्न प्रत्येक बालक और बालिका विद्यालय छोड़ने के पश्चात्, किसी पेशे में लगकर आत्मनिर्भर हो जाय। वह चाहते थे कि शिक्षा उनके लिए बेकारी के विरुद्ध एक प्रकार का आश्वासन होनी चाहिए। गांधीजी 'वर्णधर्म' में विश्वास करते थे। उनके विचार में शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो बालकों को जीवन के लिए तैयार कर सके, उनके वातावरण और वंशगत पेशों के अनुकूल हो। प्रत्येक बालक में अपना वंशगत व्यवसाय करने की स्वाभाविक क्षमता होती है और उसे अपने पैतृक व्यवसाय को तब तक नहीं छोड़ना चाहिए जब तक कि वह अपने भीतर किसी अन्य व्यवसाय के लिए पर्याप्त क्षमता और आकांक्षा का अनुभव न करे। गांधीजी वर्णधर्म को जन्म के आधार पर व्यवसाय का स्वस्थ विभाजन मानते हैं।

सांस्कृतिक विकास—गांधीजी ने सांस्कृतिक विकास को शिक्षा का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य माना है। भारतीय दार्शनिक परंपरा के अनुसार गांधी जी संस्कृति को बौद्धिक कार्य की उपज नहीं मानते जैसा कि संस्कृति के पाश्चात्य समर्थक। इन समर्थकों का विचार है कि बौद्धिक कार्यों में संलग्न व्यक्ति का मन इस प्रकार प्रशिक्षित हो जाता है कि वह सभी नवीन परिस्थितियों में उचित व्यवहार करता है। गांधीजी के विचार में संस्कृति आत्मा का गुण है जो मानव-व्यवहार के सभी क्षेत्रों को व्याप्त कर लेता है। गांधीजी ने कस्तूरबा बालिकाश्रम, नई दिल्ली की बालिकाओं से २२ अप्रैल, सन् १९४६ ई० को जो उपदेश किया था उससे उनके संस्कृति के संबंध में विचारों का अनुमान किया जा सकता है, "मैं शिक्षा के सांस्कृतिक पक्ष को साहित्यिक पक्ष से अधिक महत्त्व देता हूँ। संस्कृति आधार है, मूल वस्तु है जिसे बालिकाओं को यहाँ से प्राप्त करना चाहिए। तुम्हारे व्यवहार और आचरण के छोटे-से-छोटे कार्यों में इसका प्रदर्शन होना चाहिए। तुम कैसे बैठती हो, तुम कैसे चलती हो, तुम कैसे वस्त्र पहनती हो ताकि कोई व्यक्ति एक निगाह से देख कर कह सके कि तुम इस संस्था की उपज हो। तुम्हारी बातचीत, दर्शकों और अतिथियों के प्रति तुम्हारे व्यवहार और अध्यापिकाओं और अपने से बड़ों के प्रति तुम्हारे व्यवहार में एवं परस्पर व्यवहार में तुम्हारी अंतः संस्कृति प्रकट होनी चाहिए।" निम्नप्रकृति के सभी प्रतिबंधों से मुक्त व्यक्ति अपनी

आत्मा की वास्तविक संस्कृति को प्रदर्शित कर सकता है।

संगतिपूर्ण विकास—गांधी जी संगतिपूर्ण विकास में विश्वास करते हैं और इसीलिए वह बालक के शरीर, मन और आत्मा का पूर्ण विकास चाहते हैं। वह प्रचलित शिक्षा-पद्धति के दोषों से पूर्णतया परिचित थे। शिक्षा का एक स्पष्ट दोष यह था कि वह बौद्धिक एवं असंतुलित थी जिसके परिणामस्वरूप बालक की सारी शक्तियाँ तथ्यों के संग्रह में ही बिखर जाती थीं। दूसरा दोष यह था कि वह संवेगों के प्रशिक्षण पर कोई ध्यान नहीं देती थी। यह सर्वविदित तथ्य है कि संवेग-प्रशिक्षण के अभाव में मनुष्य विकृत होकर पशुओं की कोटि में पहुँच जाते हैं। वर्त्तमान शिक्षा में उन्होंने एक दोष यह भी पाया कि वह बालक के शारीरिक विकास को ओर ध्यान नहीं देती। गांधीजी शक्तिपूर्ण बुद्धि का विकास चाहते थे किंतु हृदय की शिक्षा के साथ। मस्तिष्क और हृदय की शिक्षा के साथ-साथ वह सुंदर, स्वस्थ शरीर के विकास को भी कम महत्त्व नहीं देते थे।

शरीर, मन और आत्मा इन तीनों के योग से मनुष्य के पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण होता है। इन तीनों के बीच एक घनिष्ठ संबंध विद्यमान है, अतः इनका विकास साथ-साथ होना चाहिए। उच्चतम शिक्षा तभी प्राप्त हो सकती है जब इनमें परस्पर संबंध स्थापित हो। इस विषय में गांधीजी का दृढ़ निश्चय है कि "जब तक शरीर और मन के विकास के साथ-साथ आत्मा का जागरण नहीं होगा, तब तक शरीर और मन का जागरण अधूरा ही रहेगा।" उच्चतम शिक्षा की उपलब्धि के लिए कोई भी शिक्षावेत्ता इन तीनों में से एक की भी उपेक्षा नहीं कर सकता है। यह तीनों पृथक्-पृथक्, स्वाधीन रूप में, एक दूसरे से अलग विकसित नहीं किये जा सकते। इनका विकास साथ-साथ ही होना चाहिए।

वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्य—भारत की दार्शनिक परंपरा की अद्वैतवादी प्रवृत्ति के अनुसार गांधीजी ने सामाजिक और वैयक्तिक उद्देश्यों में समन्वय स्थापित किया है। वह अनेकता में एकता की उपलब्धि करना चाहते हैं। व्यक्तित्व को सुरक्षित रखने के लिए गांधीजी के मन में कोई संदेह नहीं है। वह कहते हैं कि यदि हम भौतिक या आत्मिक उन्नति चाहते हैं तो व्यक्तित्व का विकास आवश्यक है। हम जानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति की व्यक्तिगत विशेषताएँ होती हैं जो एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से पृथक् करती हैं, अतः सभी व्यक्तियों को एक ही लक्ष्य की ओर मूक पशुओं की भाँति हाँकना व्यर्थ है। जाति, वर्ण, वंश का भेद किए बिना गांधीजी प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तित्व के प्रति अत्यधिक सम्मान का भाव रखते हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि यदि व्यक्तियों को सच्ची शिक्षा दी गयी है, यदि उन्होंने अपने चरित्र का निर्माण कर लिया है तो समाज का सुधार अपने आप हो जायगा। गांधीजी ईसा की भाँति, व्यक्तिगत मानव-आत्मा के महत्त्व को अत्यंत सम्मान देते हैं। गांधीजी के अनुसार मनुष्य-जीवन का उच्चतम उद्देश्य आत्म-

बोध की प्राप्ति है और आत्मबोध की प्राप्ति बिना आत्मत्याग के नहीं हो सकती, अतः आत्मनिग्रह, समाजसेवा स्वतः शिक्षा के व्यक्तिगत उद्देश्य में आ जाते हैं।

गांधीजी ने स्वयं अपने जीवन में सिद्धांत और व्यवहार दोनों के आधार पर यह प्रदर्शित कर दिया कि व्यक्तिगत बोध और समाज-सेवा में कोई विरोध नहीं है क्योंकि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व की प्राप्ति किसी समूह या समाज में ही करता है। उसका विकास शून्य में नहीं होता। यहाँ तक कि उच्च कोटि का त्याग भी समाज में रहकर ही किया जा सकता है। गांधीजी ने सामाजिक सेवा और वैयक्तिक विकास का समन्वय किया है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि, "मैं व्यक्ति स्वातंत्र्य को महत्त्व देता हूँ किंतु आपको यह नहीं भूलना चाहिए कि मनुष्य सारभूत रूप में सामाजिक प्राणी है। वह अपनी वर्त्तमान स्थिति तक इसलिए उठ पाया है कि उसने सामाजिक प्रगति की आवश्यकताओं के लिए अपनी वैयक्तिकता को अनुकूल बनाना सीखा है। स्वच्छंद व्यक्तिवाद जंगल के पशुओं का नियम है। हमने वैयक्तिक स्वतंत्रता और सामाजिक नियमन के बीच मध्यस्थ मार्ग अपनाना सीखा है। संपूर्ण समाज के हित के लिए स्वेच्छापूर्वक सामाजिक बंधनों को स्वीकार करने में व्यक्ति और उस समाज, जिसका वह एक सदस्य है दोनों का अभ्युदय होता है।"†

गांधीजी की दृष्टि में वैयक्तिक विकास और समाज-विकास दोनों इस सीमा तक अन्योन्याश्रित हैं कि एक के बिना दूसरे के बारे में सोचा ही नहीं जा सकता। एक राष्ट्र अपनी गतिशील इकाइयों के बिना कभी भी प्रगति नहीं कर सकता है। इसके विपरीत कोई व्यक्ति भी गतिशील राष्ट्र के बिना प्रगति नहीं कर सकता जिसका वह एक अंग है। गांधीजी और आगे बढ़कर कहते हैं कि 'मेरा विश्वास है कि यदि एक व्यक्ति आत्मा की प्राप्ति में प्रगति करता है तो उसके साथ सारे संसार का लाभ होता है और यदि एक व्यक्ति का पतन होता है तो उसी सीमा तक सारे संसार का पतन होता है'।‡ अतः गांधीजी का आदर्श था कि व्यक्ति आध्यात्मिक समाज में आत्म-पूर्णता प्राप्त करे।

राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता—गांधीजी शिक्षा के राष्ट्रीय उद्देश्य में विश्वास करते हैं, किंतु उनके राष्ट्रवाद का ध्येय यह नहीं है कि भारत शेष मानवता से अपने को पृथक् रखे। उनके राष्ट्रवाद का उद्देश्य है कि भारत एक दिन विश्व-मानवता में अपने अस्तित्व को लय कर दे। किंतु विश्व-मानवता के साथ एकात्म होने के पूर्व यह आवश्यक है कि वह अपने खोये हुए व्यक्तित्व को प्राप्त कर ले। जिस प्रकार एक डूबा हुआ व्यक्ति

† 'Harijan', May 27, 1939
‡ 'Young India', Dec. 4, 1924

दूसरों को सहायता नहीं कर सकता है उसी प्रकार एक डूबा हुआ राष्ट्र, विनष्ट-व्यक्तित्व राष्ट्र, दूसरे राष्ट्र की सहायता नहीं कर सकता। दूसरों की रक्षा करने के पूर्व भारत को स्वयं अपनी रक्षा करनी होगी। उनके ही शब्दों में, 'भारतीय राष्ट्रवाद निषेधात्मक नहीं है, आक्रमणात्मक नहीं है, संहारात्मक नहीं है। वह स्वस्थ है, धार्मिक है; अतः मानवता-प्रेमी है। इसके पूर्व कि वह मानवता के लिए प्राणोत्सर्ग की कामना करे, उसे जीवित रहना सीखना चाहिए...।' गांधीजी की अहिंसात्मक नीति के आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि वह दीनों का शोषण करने वाली, अंग्रेज़ों या पाश्चात्य जगत् की भौतिक सभ्यता तथा उनकी कार्य-पद्धति से असहयोग करते थे, अंग्रेज़ जाति या पाश्चात्य जगत् से नहीं। यही कारण है कि वह कहते थे कि 'अपनी अध्यात्मिक सभ्यता एवं संस्कृति द्वारा पाश्चात्य जगत् का मार्ग-निर्देश करने के पहले भारत स्वतंत्र हो, अपने पैरों पर खड़ा हो।' स्वदेशी-व्रत का तात्पर्य समझाते हुए उनका कहना है, स्वदेश की 'सेवा' का तात्पर्य संकुचित नहीं, वरन् विशाल है। यह सोचना भूल है कि स्वदेश की सेवा से दूर रहने वालों की सेवा नहीं हो सकती या उनकी हानि होती है। 'स्वदेशी की शुद्ध सेवा करने में विदेशी की भी शुद्ध सेवा होती है—यथा पिंडे तथा ब्रह्माण्डे'। इससे भी बढ़कर, 'जीवमात्र के साथ ऐक्य साधते हुए स्वदेशी धर्म को जानने और पालने वाला देह का भी त्याग कर सकता है।'†

बालक की आरंभिक शिक्षा

गांधीजी अपने समय के प्रचलित इस भ्रम का खंडन करते हैं कि 'पहले पाँच वर्षों में बच्चे को शिक्षा-प्राप्ति की आवश्यकता नहीं होती।' उनके अनुसार वास्तविकता यह है कि 'पहले पाँच वर्षों में बच्चे को जो मिलता है वह फिर कभी मिलता ही नहीं।' अतः बालक के भली भाँति पालन-पोषण के लिए, उसके स्वास्थ्य एवं स्वस्थ मानसिक विकास के लिए माता-पिता को शिशुपालन आदि का ज्ञान होना आवश्यक है। बालक को एक आदर्श बालक बनाने के लिए स्वयं माता-पिता को अपने चरित्र एवं आदर्श का उचित विचार रखना चाहिए क्योंकि गांधीजी कहते हैं, "अपने अनुभव से मैं कह सकता हूँ कि बच्चे की शिक्षा माँ के पेट से आरंभ होती है। गर्भाधान काल की, माता-पिता की शारीरिक और मानसिक स्थिति का भी प्रभाव बालक पर पड़ता है। बच्चा गर्भ-काल की माता की प्रकृति, उसके आहार-विहार के अच्छे-बुरे फल की विरासत लेकर जन्मता है। जन्म के अनंतर वह माता-पिता का अनुकरण करने लग जाता है। खुद असहाय होने के कारण अपने विकास के लिए माँ-बाप पर अवलंबित रहता है।"‡ मानसिक संस्कारों का प्रभाव बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है। अच्छे

† गांधीजी : 'धर्म-नीति', पृष्ठ १७०

‡ गांधीजी : 'आत्मकथा', पृष्ठ २५५

संस्कार बालक को उसे अनायास ही अपनी कुप्रवृत्तियों एवं दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त करने में सहायता देते हैं।

गांधीजी बालक की शिक्षा में 'घर' को एक अविधिक शिक्षा-संस्था के रूप में बहुत महत्त्व प्रदान करते हैं। उन्होंने दक्षिण अफ्रीका रहते समय अपने बच्चों को भारत, अपने घर से दूर, पढ़ने के लिए इसी कारण नहीं भेजा कि 'जो शिक्षा एक अच्छे सुव्यवस्थित घर में बच्चे अनायास पा जाते हैं वह छात्रालयों में नहीं पा सकते।' गांधीजी बालकों के सरल रहन-सहन में आस्था रखते हैं। वह आरंभ से ही उनमें शारीरिक श्रम, आत्म-निर्भरता, सेवा की वृत्ति आदि नैतिक गुणों का विकास चाहते हैं।

आश्रमवास

गांधीजी यद्यपि बालक को छात्रावास में रखने के पक्ष में नहीं हैं, तथापि इसका यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि वह भारत की प्राचीन गुरुकुल-प्रणाली, जहाँ गुरु और शिष्य एक साथ मिलकर रहते थे, में आस्था नहीं रखते। वास्तविकता यह है कि आज के छात्रावासों का वातावरण उतना पवित्र एवं आदर्शपूर्ण नहीं है जितना प्राचीन गुरुकुलों का था। गांधीजी प्रत्येक विद्यार्थी को ब्रह्मचारी मानते हैं। उनका कहना है, "विद्यार्थी के लिए प्राचीन शब्द 'ब्रह्मचारी' है क्योंकि उसके समस्त अध्ययन और कार्य-कलाप का उद्देश्य ब्रह्म की खोज होता था और उसके सारे जीवन का निर्माण निस्पृहता, सरलता और आत्म-निग्रह की नींव पर होता था जिन्हें प्रत्येक धर्म ने विद्यार्थी के लिए आवश्यक माना है,....तुम्हारे सारे कार्यों और खेलों के पीछे आत्मनिग्रही जीवन का उच्च लक्ष्य होना चाहिए, उन्हें तुमको ईश्वर के निकट ले जाना चाहिए।"† गांधीजी ने गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के ब्रह्मचर्य का आदर्श को आधुनिक विद्यार्थियों के सम्मुख रखा है। फोनिक्स सेटिलमेंट, टॉलस्टॉय फ़ार्म और साबरमती आश्रम, इन तीनों को प्राचीन भारतीय आश्रमों की प्रणाली पर आधारित करके, जहाँ उन्होंने चरित्र-निर्माण और सेवा के आदर्श को दृढ़तापूर्वक ध्यान में रखा, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से गांधीजी ने आश्रमवास अथवा गुरुकुलवास की प्रणाली का समर्थन किया है।

भोजन और प्राकृतिक उपचार—गांधी जी विद्यार्थी में शुद्ध मन के निर्माण के लिए सात्विक भोजन पर बल देते हैं। ब्रह्मचर्य के पालन के लिए स्वादेन्द्रिय पर नियंत्रण प्राप्त करना आवश्यक है। सात्विक भोजन, व्रत, उपवास आदि से मानसिक विकार शांत हो जाते हैं। 'जैसा अन्न वैसा मन,' इस कहावत में बहुत तथ्य है। मनुष्य को अपने ऊपर नियंत्रण प्राप्त करने की भावना से ही गांधीजी ने 'सात्विक भोजन' के साथ-साथ 'प्राकृतिक उपचार' के सिद्धांत पर भी बल दिया है। कोई भी व्यक्ति अपने ही दोषों के कारण बीमार पड़ता है। पर इस बीमारी के निराकरण के लिए, उन्हीं के शब्दों में,

---

† 'Young India', July 21, 1927

"क्षण-क्षण में वैद्य, हकीमों और डाक्टरों के यहाँ दौड़ने और शरीर में अनेक जड़, छाल, पत्ते और रसायन ठूँसने से मनुष्य अपनी ज़िन्दगी छोटी कर लेता है। इतना ही नहीं, अपने मन पर उसका क़ाबू नहीं रह जाता। इससे वह मनुष्यत्व खो बैठता है और शरीर का ग़ुलाम बन जाता है।"†

प्रार्थना—आत्म-नियंत्रण अथवा आत्म-शुद्धि के लिए गांधीजी प्रत्येक विद्यार्थी के लिए प्रार्थना करना आवश्यक समझते हैं। ध्यान रहे कि यहाँ विद्यार्थी शब्द को केवल संकुचित अर्थ में नहीं ग्रहण करना है। प्रत्येक व्यक्ति जो आत्म-साक्षात्कार अथवा ईश्वर-दर्शन का अभिलाषी है वह विद्यार्थी अथवा शिक्षार्थी है। गांधीजी ने शिक्षा को उसके विस्तृत अर्थ में उपयोग किया है। इस अर्थ में व्यक्ति का संपूर्ण जीवन ही शिक्षा-काल है। अतः प्रतिदिन प्रार्थना करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य है। इस संबंध में अपने आश्रमवासियों को एक पत्र में गांधीजी ने लिखा था, "प्रार्थना छूट जाय तो मनुष्य को भारी दुःख होना चाहिए। खाना छूटे, पर प्रार्थना न छूटे। खाना छोड़ना कितनी ही बार लाभदायक होता है। प्रार्थना का छूट जाना कभी भी लाभदायक हो ही नहीं सकता।"‡ प्रार्थना करने की विधि के संबंध में भी उन्होंने सचेत किया है। प्रार्थना मन लगाकर की जानी चाहिए, अन्यथा प्रार्थना के समय यदि केवल व्यक्ति शरीर से ही उपस्थित है तो वह प्रार्थना मिथ्या है, दम्भ है। ऐसी प्रार्थना करने वाला व्यक्ति दो दोषों का भागी होता है, प्रथम उसने प्रार्थना का परित्याग किया और द्वितीय उसने समाज को धोखा दिया। गांधीजी व्यक्तिगत और सामूहिक, दोनों प्रकार की प्रार्थना में विश्वास करते हैं। सामूहिक अथवा सामाजिक प्रार्थना भी व्यक्ति की आत्मशुद्धि और आत्मदर्शन में सहायक होती है। जो व्यक्ति निश्चित समय की प्रार्थना के अतिरिक्त हर कार्य ईश्वर को साक्षी देकर संपादित करता है वह ईश्वरमय हो जाता है, निष्पाप हो जाता है।

गांधीजी का कथन हैं कि जब बालक समझने लगे तो माता को चाहिए कि वह तुरंत बालक को प्रार्थना करना सिखा दे।

विद्याभ्यास और पाठ्य-विषय

गांधीजी प्रचलित विद्याभ्यास और उसे करने-कराने की रीति को दोषपूर्ण पाते हैं। इस संबंध में आश्रमवासियों को पत्र लिखकर उन्होंने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं, "सच्चा विद्याभ्यास वह है जिसके द्वारा हम आत्मा को, अपने आपको, ईश्वर को, सत्य को पहचानें। इस पहचान के लिए किसी को साहित्य-ज्ञान की आवश्यकता हो सकती है, किसी को भौतिक शास्त्र की, किसी को कला की; पर विद्या मात्र का उद्देश्य

---

† गांधीजी : 'आत्मकथा', पृष्ठ ३३६

‡ गांधीजी : 'धर्म-नीति', पृष्ठ १२९-१३०

आत्म-दर्शन होना चाहिए। आश्रम में यह है। उसकी दृष्टि से हम अनेक उद्योग चला रहे हैं। ये सारे उद्योग मेरे अर्थ में शुद्ध विद्याभ्यास हैं। आत्म-दर्शन के उद्देश्य के बिना भी यह धंधे चल सकते हैं। इस रीति से चलें तो वे आजीविका के या दूसरे साधन हो सकते हैं; पर विद्याभ्यास न होंगे। विद्याभ्यास के पीछे समझ, कर्त्तव्यपरायणता, सेवा-भाव विद्यमान होता है।"†

उपर्युक्त कथन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि गांधीजी ने बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से चार मुख्य प्रकार की मानवी प्रकृति—साहित्यिक, वैज्ञानिक, कलात्मक और रचनात्मक और इनसे संबंधित विषयों की ओर संकेत किया है। वह किसी भी ज्ञान एवं रुचि की उपेक्षा नहीं करते और भारतीय परंपरा के सर्वथा अनुकूल वह प्रत्येक ज्ञान एवं कार्य को परम लक्ष्य की प्राप्ति का साधन स्वीकार करते हैं। ध्यान-पूर्वक देखने से स्पष्ट होता है कि गांधीजी ने अन्य विषयों के साथ-साध विभिन्न उद्योगों को भी ईश्वर-प्राप्ति का निमित्त मानकर शिक्षा में सांस्कृतिक और जीविकोपार्जन के उद्देश्यों में सुन्दर समन्वय स्थापित किया है।

शिक्षण-विधि

गांधीजी बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से यह स्पष्ट करते हैं कि बच्चों में अनुकरण करने की अपूर्व शक्ति होती है। हम बच्चों को यदि शिक्षा देना चाहते हैं, तो जो बात उनसे कराना चाहते हैं उसे हमको स्वयं करना चाहिए। बालक मुँह से कहा हुआ कम समझते हैं। यह तथ्य शारीरिक और नैतिक दोनों क्षेत्रों के कार्यों में व्यवहार्य है। यदि हम बालक को अमुक शारीरिक कार्य कराना चाहते हैं तो प्रथम उन कार्यों को हमें स्वयं करना चाहिए। यदि हम उन्हें सत्य सिखाना चाहते हैं तो स्वयं सावधानी से सत्य का पालन करना चाहिए। अपरिग्रह सिखाना चाहते हैं तो हमें परिग्रह त्याग देना चाहिए। अतः माता-पिता और शिक्षकों को बालक को शिक्षित करने के दृष्टिकोण से इस सिद्धांत का पूर्णतया उपयोग करना चाहिए।

गांधीजी यहाँ पर स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि आज की शिक्षा-पद्धति में इस सिद्धांत की अवहेलना की जाती है, फलस्वरूप समय और धन के व्यय की तुलना में फल नगण्य ही प्राप्त होता है। आज की शिक्षण-पद्धति का दूसरा दोष यह है कि जिस प्रकार पशु अपने बच्चे को सिखाने के लिए बच्चे ही की तरह क्रीड़ा करते हैं इस प्रकार शिक्षक बालक को शिक्षित करने के लिए उसके मानसिक स्तर तक नहीं उतरते। शिक्षक को बालक के प्रति स्नेह तथा उसके हित की भावना से पूर्ण होना चाहिए। उन्हें अपने सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार द्वारा बालकों की अंतर्निहित क्षमताओं का विकास करने में सफल होना चाहिए। बालक के प्रति स्नेह की भावना होने से फिर दंड का प्रश्न उठता ही नहीं।

† गांधीजी : 'धर्म-नीति', पृष्ठ २३६

वाचन और विचार—गांधीजी के विचार में, क्योंकि मनुष्य और पशु में अंतर है, अतः मनुष्य को निम्न पशु-स्तर से उच्च स्तर पर पहुँचना है। पशु की भाँति उसकी आवश्यकताएँ जैव-स्तर तक ही सीमित नहीं हैं। वह विचारशील एवं ज्ञानवान प्राणी है, अतः उसे वाचन अथवा पढ़ने की आवश्यकता है। किंतु शिक्षा-पद्धति ऐसी होनी चाहिए कि बालक केवल निष्क्रिय सूचनाओं को स्मरण रखने का पात्र न बन जाये, वरन् वह उसे पठित विषय पर विचार एवं मनन करने की प्रेरणा प्रदान करे। गांधीजी का कथन है, "हममें बहुतेरे निरी पढ़ाई करनेवाले होते हैं। वे पढ़ते हैं; पर गुनते नहीं, विचारते नहीं। फलतः पढ़ी हुई चीज़ पर अमल क्यों करने लगे ? इससे हमें चाहिए कि थोड़ा पढ़ें, उस पर विचार करें और उस पर अमल करें। अमल करते वक़्त जो ठीक न जान पड़े उसे छोड़ दें और आगे बढ़ें। ऐसा करनेवाला थोड़ी पढ़ाई से अपना काम चला सकता है। बहुत-सा समय बचा लेता है और मौलिक कार्य करने की ज़िम्मेदारी उठाने के योग्य बनता है।"† प्रश्न उठता है कि विचार किस प्रकार किया जाय? बालक यदि कोई पाठ पढ़ता है अथवा कोई भजन सुनता है तो उसे उस पर विचार करना चाहिए कि उसमें रहस्य क्या है, उससे क्या शिक्षा मिलती है, उसमें से उसे क्या ग्रहण करना चाहिए और क्या नहीं ग्रहण करना चाहिए; उसमें दोष हों तो उनकी छान-बीन करनी चाहिए। यदि उसका अर्थ समझ में न आये तो उसे समझने का प्रयत्न करना चाहिए। विचार करने की यही पद्धति है। गांधीजी का कहना है कि यदि विद्यार्थीगण अपनी-अपनी दिशा में, अपने-अपने विषय में, इस प्रकार विचार करें तो 'वह जीवन में नया अर्थ निकालेंगे और नित्य नया रस लूटेंगे।' 'ऐसा करनेवाला अन्त में आत्मानंद भोगेगा और उसका सारा वाचन फलेगा।' गांधीजी कहते हैं कि 'मेरी दृष्टि से विचार करने की कला सच्ची शिक्षा है। यह कला हाथ आ जाय तो दूसरी सारी कलाएँ उसके पीछे सुन्दर रीति से सज जायँ।'‡ गांधीजी का यह 'वाचन और विचार' संबंधी शिक्षण-सिद्धांत हमें भारतीय शिक्षण-पद्धति के तीन पाद—'श्रवण' 'मनन' और 'निदिध्यासन' की ओर इंगित करते हैं।

सविचार कार्य या कर्म द्वारा शिक्षा—कार्य या कर्म करना देह का गुण है। पर, किस प्रकार किये हुए कार्य से व्यक्ति शिक्षा प्राप्त करता है, ज्ञान की वृद्धि करता है और आत्मोन्नति करता है ? गांधीजी का कहना है, विचारयुक्त अथवा विवेक-संचालित कार्य द्वारा। पशु और मनुष्य में यही अंतर है कि पशु के कार्य यंत्रवत् होते हैं। वह किसी कार्य में चाहे कितना ही परिश्रम क्यों न करे, उसके ज्ञान की वृद्धि नहीं होती और न कार्य करने में उसे रस ही आता है। मनुष्य को पशु की भाँति व्यवहार नहीं करना है

---

† गांधीजी : 'धर्म-नीति' पृष्ठ २४७

‡ गांधीजी : 'धर्म-नीति' पृष्ठ २५०

क्योंकि वह एक विचारवान एवं तर्कयुक्त प्राणी है। विचारपूर्वक किये हुए कार्य से शांति मिलती है, कार्य करनेवाले की दक्षता बढ़ती है, उसमें समय की बचत होती है और उसे काम में आनंद आता है। विचारपूर्वक किया हुआ काम बोझ नहीं प्रतीत होता, चाहे वह मल ढोने का ही काम क्यों न हो। उसमें सेवा-भाव निहित रहता है। वह एक कर्त्तव्य का रूप ग्रहण कर लेता है किंतु इतना ही पर्याप्त नहीं है कि कार्य सविचार रूप में किया जाय। विचार समाज-पोषक भी होना चाहिए। उसमें स्वार्थ-भाव नहीं होना चाहिए। स्वार्थपूर्ण या निम्नकोटि की प्रेरणाएँ कर्म को दोषयुक्त बनाती हैं। ऐसे कर्म शिक्षाप्रद न होकर कुशिक्षाप्रद होते हैं। अतः व्यक्ति को चाहिए कि वह एक पशु की भाँति अपनी सहजप्रवृत्तियों, आवेगों और संकीर्ण भावनाओं के वश होकर कार्य न करे। इनसे ऊपर उठ कर समाज-हित कर्त्तव्य-निष्ठा अथवा यज्ञ की भावना से कार्य करे। इस दृष्टिकोण को ध्यान में रख कर विचार और बुद्धिपूर्वक किये हुए यज्ञ-रूप कार्य से शिक्षा मिलती है; बुद्धि का विकास होता है; हृदय विशाल और शुद्ध बनता है; कार्य में कुशलता प्राप्त होती है और व्यक्ति उसमें नवीन खोज और सुधार करता है जिससे समाज की प्रगति में सहायता प्राप्त होती है। इस दृष्टि से किये गये काम में व्यक्ति को रस प्राप्त होता है, उसे थकान का अनुभव नहीं होता और उसके कार्य कलापूर्ण हो जाते हैं, चाहे वह किसी प्रकार का कार्य क्यों न हो। उदाहरण के लिए, "कताई के यज्ञ को लें तो उसके विषय में भी यदि विचारमय काम हो तो हमें उसमें रस के घूँट मिलेंगे और कताई की कला की प्रगति की हद ही न होगी। सब विचार-पूर्वक कातें तो हम बहुतेरी नई खोजें करें और सूत अच्छे-से-अच्छा निकालें।"† कहने का तात्पर्य यह है कि "जिसकी दृष्टि पारमार्थिक बन जाती है उसे एक भी काम नीचा या नीरस नहीं जान पड़ता। जो सामने आए उसी में वह ईश्वर को देखेगा, उसी की सेवा देखेगा। उसका रस काम के, जातिवर्ग के ऊपर अवलंबित नहीं होता। उसका रस उसके अंतर से, उसकी कर्त्तव्यपरायणता से निकलता है।"‡ जब व्यक्ति संकीर्ण इच्छाओं से ऊपर उठ जाता है तब उसका हृदय शुद्ध हो जाता है। आत्मशुद्धि द्वारा उसकी अर्पण-बुद्धि जागृत होती है। 'अर्पण-बुद्धि विश्व-कल्याण की बुद्धि है'। ईश्वर को सब में व्याप्त जान कर, आत्मत्याग अथवा समाज-सेवा द्वारा व्यक्ति आत्मोन्नति करता है। विश्व-कल्याण अथवा समाज-कल्याण की भावना से किया जाने वाला कर्म यज्ञ है। ऐसे ही कर्म के माध्यम से मनुष्य बंधनों से छूट कर, परममुक्ति प्राप्त करता है। यही अनासक्त योग-मार्ग है।

यह साधना का मार्ग है। शिक्षक विद्यार्थी को यह कर्म-मार्ग अथवा कर्म द्वारा मुक्ति के मार्ग का निर्देश कर सकता है। पर यह तो विद्यार्थी के स्वयं साधना का मार्ग है।

---

† गांधीजी : 'धर्म-नीति', पृष्ठ, २५२

‡ गांधीजी : 'धर्म-नीति', पृष्ठ २५५-५६

इस विधि का अनुसरण तो उसे स्वयं करना है। यह साधना की विधि है। यही सर्वोत्तम स्वयं-शिक्षण विधि हैं।

धर्म का स्वरूप

गांधी जी एक अत्यंत धार्मिक व्यक्ति थे। उनका संपूर्ण जीवन-दर्शन धर्म-केन्द्रित था। भारतीय विचारधारा के सर्वथा अनुकूल उन्होंने धर्म की मान्यताओं को तभी स्वीकार किया जब वे उन्हें तर्क और अनुभव की कसौटी पर पूरी उतरी हुई दिखायी दीं। इन मान्यताओं को अपने जीवन में व्यवहृत करके अपने आध्यात्मिक और सामाजिक अनुभव के आधार पर उन्होंने इनकी पुनर्व्याख्या की। उनका सारा जीवन ईश्वर अथवा सत्य की प्राप्ति के लिए प्रयोगशाला था। उन्होंने लिखा है, "मेरा कर्त्तव्य तो, जिसके लिए मैं तीस वर्ष से झँख रहा हूँ, आत्म-दर्शन है, ईश्वर का साक्षात्कार है, मोक्ष है। मेरी सारी क्रियाएँ इसी दृष्टि से होती हैं, मेरा सारा लेखन इसी दृष्टि से है और मेरा राजनैतिक क्षेत्र में आना भी इसी वस्तु के अधीन है।"*

गांधीजी को धार्मिक चेतना रहस्यवादी संतों जैसी (Mystic) नहीं थी, वरन् देवदूतों की भाँति (Prophetic) थी। इसीलिए उनका विचार था कि केवल अंतः दर्शन ही सत्य की अनुभूति या साक्षात्कार के लिए पर्याप्त नहीं है। वह सत्य के शोध के लिए सामाजिक जीवन को अपना क्षेत्र बनाना चाहते थे और दूसरों को साक्षात्कार या मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर करना चाहते थे। यद्यपि अंतःदर्शन, ध्यान और ईश्वर के साथ संपर्क-स्थापन (Communion) दिव्यालोक की प्राप्ति के लिए आवश्यक साधन हैं और गांधीजी भी इन साधनों का उपयोग करते थे, फिर भी ऐसे अनुभवों को वह पूर्णतया व्यक्तिगत मानते थे क्योंकि इनका दूसरों के साथ साझा नहीं किया जा सकता। उनके ही शब्दों में, "कुछ ऐसी चीजें हैं जिनकी प्रतीति केवल व्यक्ति को स्वयं या स्रष्टा को ही होती है। ऐसी चीजें स्पष्टतः प्रेषणीय नहीं होतीं।" गांधीजी इस व्यक्तिगत अनुभव को ही सत्य की प्राप्ति के लिए पर्याप्त नहीं मानते थे, वरन् सार्वजनिक जीवन में अन्य सहयात्रियों के साथ सत्य की अनुभूति करना चाहते थे। यही कारण है, वह सत्य के साक्षात्कार के हेतु राज-नीतिक और सामाजिक क्षेत्र में आये और राजनीतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति तथा सामाजिक अत्याचारों के निवारण के संबंध में उन्होंने सामूहिक ढंग से धर्म या नैतिकता-संबंधी (गांधीजी के दर्शन में दोनों शब्द एक दूसरे का स्थान ले सकते हैं) प्रयोग किये।

हम पहले देख चुके हैं कि आरंभ में गांधीजी कहते थे कि ईश्वर सत्य है, किंतु बाद में उन्होंने अपने सहज ज्ञान के आधार पर यह कहा कि सत्य ही ईश्वर है। उनकी इस धार्मिक धारणा में परिवर्तन के पीछे रहस्य यह है कि पहले वह नैतिकता को धर्म का एक आवश्यक अंग मानते थे। किंतु बाद में वह नैतिकता को धर्म का सारतत्व मानने लगे।

*गांधी जी: 'आत्मकथा', पृष्ठ, १.

उन्होंने अपने अनुभव से यह जाना कि नैतिक मूल्यों की चेतना ईश्वर में विश्वास की अपेक्षा अधिक निश्चित और सार्वभौम है। अतः नैतिकता को उन्होंने धर्म का सार स्वीकार किया और ईश्वर में श्रद्धा एवं विश्वास को संयोग (Accident), यद्यपि गांधीजी के लिए यह एक अविच्छेद्य संयोग था।

गांधीजी की धर्म-नीति के आधारभूत सिद्धांत, जिनको उन्होंने सब धर्मों में समान रूप से पाया, इस प्रकार हैं : (१) सत्य और प्रेम के विधान संसार पर शासन करते हैं; (२) इन नियमों के अनुसार रहना; (३) सब धर्मों में आधारभूत एकता का अनुभव और सब धर्मों के प्रति समभाव।

गांधीजी, यद्यपि, सब धर्मों की एकता में विश्वास करते थे, फिर भी वह यह समझते थे कि मानव-जाति का यह सामान्य धर्म अपने बौद्धिक स्तर पर अमूर्त विचारों का संग्रह मात्र है। अतः उसको मूर्त अथवा व्यावहारिक होने के लिए विभिन्न अस्त्यात्मक धर्मों के साँचे में ढलना होगा। गांधीजी के शब्दों में, 'एक सत्य और पूर्ण धर्म विभिन्न मनुष्यों के माध्यम से अनेक रूप धारण कर लेता है।' अतः किसी विशेष धर्म के आधार पर ही मनुष्य सत्य को देख सकता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने परंपरागत धर्म या स्वधर्म का ही पालन करना चाहिए। यदि अपने धर्म में कुछ दोष भी आ गये हों तो उन्हें दूर कर लेना चाहिए। भारतीय परंपरा के अनुकूल, गांधीजी, धर्म को संकीर्णता और संप्रदायों के परे स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि हमारे जीवन का प्रत्येक क्षेत्र और प्रत्येक कार्य धर्म से ओतप्रोत और ईश्वर-प्राप्ति का साधन होना चाहिए। वह धर्म-साधन के लिए संसार या कर्म का त्याग आवश्यक नहीं समझते। उनका कहना है कि, "मेरे विचार में गीता के रचयिता ने यह भ्रम दूर कर दिया है। उसने धार्मिक जीवन और सांसारिक धंधों के बीच कोई सीमा निर्धारित नहीं की है। इसके प्रतिकूल उसने यह प्रदर्शित किया है कि हमारे सांसारिक कार्यों को भी धर्म द्वारा अनुशासित होना चाहिए।" अतः धर्म एक साधना है। वह जीवन में व्यवहृत करने की वस्तु है।

जीवन, कला और सौन्दर्य

गांधीजी के तपस्यापूर्ण जीवन को देखकर साधारणतया लोग यही समझते हैं कि उनके हृदय में कला के लिए कोई स्थान नहीं है। वास्तव में, गांधीजी कला के प्रति आधुनिक मनोवृत्ति को पसंद नहीं करते थे। आजकल जिसको कला कहा जाता है, गांधीजी उस कला की विशिष्टता को समझने में अपने को असमर्थ पाते थे। वास्तविकता यह है कि कला को आँकने के लिए उनके मूल्य ही भिन्न थे। वे मूल्य क्या थे ?

गांधीजी ने कहा है, "उदाहरण के लिए, मैं उस कला को महान् नहीं मानता हूँ जिसकी प्रशंसा करने के लिए उसकी शैली के घनिष्ठ ज्ञान की आवश्यकता पड़ती हो। जिस प्रकार प्रकृति का सौन्दर्य हरेक के हृदय को लुभा लेता है उसी प्रकार कला को महान् होने के

लिए यह आवश्यक है कि वह सबके हृदय को आकर्षित कर सके। प्रकृति की भाषा को भाँति उसे अपनी व्यंजना में सरल और अभिव्यक्ति में प्रत्यक्ष होना चाहिए" ।† गांधी जी को प्रकृति के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की प्रेरणा की आवश्यकता नहीं। उनके विचार में तारे भरे आकाश, गंभीर सागर या गगनचुंबी पर्वत से जो प्रेरणा प्राप्त होती है वह क्या किसी चित्र से प्राप्त हो सकती है ? क्या ईश्वर की हस्तकला के सामने मनुष्य की हस्तकला फीकी नहीं पड़ जाती ? प्रकृति का शाश्वत सौन्दर्य निश्चय ही गांधीजी को ईश्वर का स्मरण कराता है। प्राकृतिक वस्तुएँ इसीलिए सुंदर लगती हैं क्योंकि सत्य जो सृष्टि का केन्द्र है, उनके द्वारा अभिव्यक्त एवं प्रतिबिंबित होता है। दूसरे शब्दों में, गांधीजी का विश्वास है कि कला को उच्चतम सत्य के बोध का साधन होना चाहिए।

सभी कलाओं में संगीत-कला गांधी जी को विशेष प्रभावित करती है। वह संगीत की ध्वनि की अपेक्षा उसके सार को अधिक महत्त्व देते हैं। उनके विचार में कोई भी कला, चाहे वह संगीत हो या मूर्तिकला, उसे नैतिक होना चाहिए।

गांधीजी एक कलाकार में सर्वप्रथम चरित्र की पवित्रता को अनिवार्य मानते हैं। उनके विचार में जिसने अपनी आत्मा की उपेक्षा कर दी है वह महान् कलाकार नहीं हो सकता। गांधीजी रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रति अत्यधिक सम्मान का भाव रखते थे। इसका प्राथमिक कारण यही है कि अपनी अतुलनीय काव्य-प्रतिभा और कलात्मक अभिव्यक्ति के साथ रवीन्द्रनाथ ने अपने जीवन में, उच्चतम अंश में संतों की भाँति चारित्रिक पवित्रता का उदाहरण उपस्थित किया।

गांधीजी के विचार में सत्य से पृथक् कोई सौंदर्य नहीं है। 'सत्य सुंदर है और सुंदर सत्य,' इस कथन के प्रथम भाग का वह हृदय से पूर्ण समर्थन करते हैं, अर्थात् सत्य सुंदर होता है, परंतु द्वितीय भाग—सुंदर सत्य है—का नहीं। उनका कहना है, "मैं सत्य में और सत्य के माध्यम से सौंदर्य का दर्शन करता हूँ। सभी सत्य....अत्यंत सुंदर होते हैं—जब कभी मनुष्य सत्य में सौंदर्य को देखना आरंभ करता है तभी सच्ची कला का जन्म होता है।"‡ इस प्रकार गांधीजी ने भारतीय कला के प्राचीन आदर्श का ही समर्थन किया है। इस आदर्श की आज की कला में उपेक्षा दिखायी पड़ती है।

तथ्य यह है कि जिस प्रकार भारतीय संगीत और पश्चिमी संगीत में अंतर है उसी प्रकार पूर्वी और पश्चिमी कला-विचारों में एक गहरी खाँई है। "यूनानी सौंदर्य को सौंदर्य के लिए मान करते थे और सुंदर में न केवल आनंद, वरन् सत्य का भी अनुभव करते थे। प्राचीन भारतीय भी सौंदर्य प्रेमी थे, परंतु उनकी कला में सदैव गंभीर तत्त्व की अभिव्यक्ति

† Dilip Kumar Roy, 'Among the Great,' p. 76

‡ 'Young India,' Nov. 13, 1924

निहित रहती थी। उनकी कला में परम सत्य के दर्शन की झलक रहती थी।''† अतः भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार कला का उद्देश्य केवल आनंद की प्राप्ति नहीं है, वरन् आत्मशुद्धि अथवा भावात्मक परिष्कार है। सच्ची कला व्यक्ति की सभी अपवित्रताओं का निराकरण करके उसकी आत्मा को शुद्ध कर देती है। गांधीजी के विचार में, महान कलाकार वह है जो 'सुंदरतम जीवन' व्यतीत करता है। 'सुंदरतम जीवन' का अर्थ है अत्यधिक सचाईपूर्ण, अधिक शुद्ध, प्रेम से आच्छादित और सेवा-भाव से पूर्ण जीवन। सुंदर जीवन उसी का है जिसके विचार, शब्द और कार्य में सामंजस्य है; यही सामंजस्य जीवन को एक समत्व प्रदान करता है, उसे एक कलाकृति बनाता है। गांधीजी के विचार में तपस्यापूर्ण जीवन ही जीवन की सबसे उच्चतम कला है। उन्हीं के शब्दों में, ''कला क्या है? सरलता अथवा सादगी में सौंदर्य का अनुभव ही कला है। तपस्या क्या है? आडंबर और कृत्रिमतारहित दैनिक जीवन में सरल सौंदर्य की उच्चतम अभिव्यक्ति ही तपस्या है। यही कारण है कि मैं सदैव कहता हूँ, कि एक सच्चा संन्यासी न केवल कला का अभ्यास करता है, वरन् कलामय जीवन जीता है।''‡ यही भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति का महानतम् आदर्श है, जिसकी उपलब्धि के लिए प्रत्येक को प्रयत्नशील होना चाहिए।

स्त्री-शिक्षा

स्त्रियों की दशा देखकर गांधीजी बहुत दुःखी थे। सामाजिक रीति-रिवाजों, आर्थिक पराधीनता, पर्दा-प्रथा आदि के कारण हमारे देश की स्त्रियों का व्यक्तित्व नष्ट हो चुका था। बाल-विवाह की प्रथा के कारण वे शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक उन्नति के क्षेत्र में पिछड़ी हुई और सभी दृष्टिकोणों से पराधीन थीं। पुरुष पर आश्रित होने के कारण उन्हें अबला कहा जाता था। उनका विचार था कि हमारा देश भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से उस समय तक उन्नति नहीं कर सकता है जब तक कि स्त्रियाँ पराधीन हैं। वह स्त्रियों को स्वावलंबिनी बनाना चाहते थे। अहिंसा, आत्मशक्ति और चरित्र-निर्माण द्वारा उन्हें साहसी बनाना चाहते थे। गांधीजी स्त्री को केवल अर्द्धांगिनी नहीं, वरन् माता के रूप में, मानव-निर्माता के रूप में परमात्मा की श्रेष्ठतम सृष्टि स्वीकार करते थे।

गांधीजी ने अपने प्रवचनों एवं लेखों में नारी जीवन से संबंधित अनेक प्रश्नों पर विचार प्रकट किये हैं जिनसे नारियाँ दुःख और संकट के समय में सीख ले सकती हैं। उनका विश्वास है कि प्राचीन काल की भाँति आज भी हमारे देश में सीता, दमयंती और द्रौपदी जैसी शुद्ध-हृदय और आत्मानुशासिका स्त्रियाँ हो सकती हैं जो समाज में गौरवास्पद स्थान ग्रहण कर सकें। गांधीजी का विचार था कि हमारा देश भौतिक,

---

† Jawahar Lal Nehru, 'The Discovery of India,' p. 169

‡ Dilip Kumar Roy, 'Among the Great,' p. 75

नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति तब तक नहीं कर सकता है जब तक कि यहाँ की स्त्रियाँ शिक्षित न होंगी। अतः स्त्रियों में नूतन शक्ति का संचार करने के लिए उन्होंने शिक्षा को एक अनिवार्य साधन माना।

गांधीजी का कथन है कि सुशिक्षित और विदुषी स्त्रियाँ समाज-सुधार की अग्रदूतिका बन सकती हैं। उन पर केवल नारी-जाति ही नहीं, वरन् पुरुषों के सुधार का भी भार है क्योंकि वही उनकी जननी हैं। उन्होंने नारी-जाति का आह्वान न केवल अपने ही देश के लिए, वरन् संपूर्ण मानवता की सेवा और उत्थान के लिए किया है। उन्होंने ज़ोर देकर कहा है कि स्त्री-शिक्षा का कोई मूल्य नहीं, यदि कन्याएँ विवाह करके पुरुष के लिए गुड़िया बन जायँ और समय से पूर्व ही भावी बौनों के पालने में लग जायँ। गांधीजी का कहना है कि आवश्यकता-पूर्ति के लिए नौकरी खोजने वाली स्त्रियों से कोई उच्च एवं उपयोगी मंतव्य पूरा नहीं हो सकता। उनकी अपेक्षा वे स्त्रियाँ अधिक आदर्श स्थिति में हैं जो देश-भक्त हैं और अपने अवकाश के समय में उपयोगी कार्य करती हैं। यदि भारत की पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ सेवा की भावना से गाँवों के कार्य करें तो वे देश में, समाज में महत्त्वपूर्ण, क्रान्तिकारी परिवर्त्तन कर सकती हैं। गांधीजी का विचार है कि छोटे बालक-बालिकाओं को शिक्षित बनाने का कार्य पुरुष की अपेक्षा स्त्रियाँ, कुमारी की अपेक्षा जो माताएँ हैं वे अधिक सफल और प्रभावपूर्ण ढंग से कर सकती हैं। इसके लिए उनको प्रारंभिक प्रशिक्षण की आवश्यकता है। वह स्त्रियों को उनकी विभिन्न क्षमताओं एवं उनकी जीवन-संबंधी आवश्यकताओं के अनुसार शिक्षा देना चाहते हैं। वह बालक और बालिकाओं की शिक्षा में अधिक भेद नहीं करते हैं।

सहशिक्षा—सहशिक्षा के संबंध में गांधीजी के विचार मौलिक और अरूढ़िवादी हैं। इस विषय में उन्हें निश्चय नहीं है कि भारत में सहशिक्षा सफल होगी या नहीं। सहशिक्षा पर प्रयोग भी उन्होंने स्वयं किया जब कि उन्होंने एक ही बरामदे में बिना किसी पर्दे के बालक और बालिकाओं को साथ सोने दिया। गांधीजी और कस्तूरबा स्वयं बालक-बालिकाओं के साथ सोते थे। उनके इस प्रयोग का परिणाम अवांछित हुआ और उन्होंने इसे बंद कर दिया। एक प्रश्नकर्त्ता ने गांधीजी से पूछा कि क्या पर्दा करने वाली जातियों में भ्रष्टता नहीं है? गांधीजी ने उत्तर दिया, 'है, किन्तु सहशिक्षा अभी भी प्रयोगावस्था में है और निश्चय रूप से उसके अच्छे या बुरे परिणाम के विषय में हम कुछ नहीं कह सकते हैं। यह कार्य हमें परिवारों से शुरू करना होगा। परिवारों में बालक और बालिकाओं को साथ-साथ स्वतंत्र और प्राकृतिक ढंग से विकास करने देना चाहिए, फिर सहशिक्षा अपने आप आ जायेगी।'

सहशिक्षा के विषय में गांधीजी ने बड़े ही उदार मन से विचार किया है। उन्होंने आठ वर्ष की आयु तक सहशिक्षा की अनुमति दी है, उनका कहना है कि यदि संभव हो

तो सोलह वर्ष तक सहशिक्षा दी जा सकती है, परन्तु सहशिक्षा को व्यवस्था को उन्होंने अनिवार्य नहीं माना है।

वर्धा-शिक्षा-योजना

गांधीजी शिक्षा की प्रचलित पद्धति से पूर्णयता असंतुष्ट थे। उन्होंने शीघ्र ही यह अनुभव किया कि हमारी शिक्षा किताबी शिक्षा है, वह केवल बुद्धि का प्रशिक्षण करती हैं। भारत की वर्त्तमान शिक्षा-योजना अवास्तविक और कृत्रिम है। इसके अनेक दोषों में से मुख्य दोष यह है कि इसका जीवन की परिस्थितियों के साथ घनिष्ठ संबंध नहीं है; विभिन्न विषयों में कोई एकसूत्रता नहीं है और न इसमें वातावरण के साथ बुद्धिपूर्वक सक्रिय रूप से अनुकूलता प्राप्त करने की कोई व्यवस्था ही है। यह बालक को अपने देश की संस्कृति से पृथक् रखती है। यह अनुशासन, सहयोग और नेतृत्व के उन बुनियादी गुणों को विकसित करने में असफल रही है जो भविष्य के लिए उपयोगी नागरिक उत्पन्न करते हैं। इसने हृदय-संस्कार की उपेक्षा की है और बालक-बालिकाओं को शारीरिक श्रम के अयोग्य बनाया है। उन्हीं के शब्दों में "भारत की वर्त्तमान शिक्षा-योजना न केवल बेकार है, वरन् निश्चित रूप से हानिप्रद भी है। बहुत से बालक तो मानो अपने माता-पिता के लिए और अपने पारिवारिक पेशों के लिए खो ही जाते हैं। उनमें बुरी आदतें पड़ जाती हैं, वे शहरी ढंग अपनाने लगते हैं, कुछ विषयों का भी उन्हें अल्प ज्ञान हो जाता है, पर इसे और जो कुछ भी कहा जाय, यह शिक्षा नहीं है।"

गांधीजी शिक्षा-सिद्धांत की दृष्टि से वर्तमान शिक्षा के दोषों से तो परिचित थे हीं, साथ ही व्यवहार की दृष्टि से भी उन्होंने वर्तमान शिक्षा में सुधार आवश्यक समझा। शिक्षा बालक के दैनिक जीवन से संबंधित न थी, परिणामतः बालकों को इसमें कोई रुचि नहीं थी। वे विद्यालय में जो कुछ सीखते थे उसे विद्यालय छोड़ते ही भूल जाते थे। इससे समय, धन और शक्ति का दुरुपयोग होता था। इसके अतिरिक्त शिक्षकों का वेतन अत्यंत न्यून था और अध्यापन के लिए उनके पास साधन-सामग्रियों का नितांत अभाव था। लोगों में भी प्राइमरी शिक्षा के प्रति असंतोष की भावना फैली हुई थी। अतः सन् १९३७ ई० में गांधीजी ने अपने जीवन के भिन्न-भिन्न समय पर किये गए शिक्षा-प्रयोगों के आधार पर प्राप्त विचारों को, राष्ट्रीय स्तर पर व्यवहार में लाने के लिए वर्धा-शिक्षा-योजना में निर्णयात्मक रूप दिया और 'हरिजन' में उसें प्रकाशित किया। इस योजना का जन्म वास्तव में उन समस्याओं के समाधान की इच्छा के फलस्वरूप हुआ जो कांग्रेस के सम्मुख उस समय उपस्थित हुई थीं जब उसने सर्वप्रथम सन् १९३७ ई० में प्रांतों का शासन अपने हाथों में लिया था। गांधीजी के सामने, सरकार की आर्थिक कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए, वर्तमान शिक्षा-पद्धति को उन्नत और सार्वभौम बनाने की समस्या थी। 'हरिजन' में योजना के प्रकाशित होने के उपरांत, २२, २३ अक्तूबर को

वर्धा में अपनी ही अध्यक्षता में होने वाली अखिल भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् में गांधीजी ने अपने उद्घाटन-भाषण में इस शिक्षा-योजना की मुख्य विशेषताओं को सामने रखा। परिषद् में योजना पर अधिक समय तक विचार-विमर्श हुआ जिसमें डा० ज़ाकिर हुसैन, प्रो० के० टी० शाह, आचार्य विनोबा भावे, काका कालेलकर, महादेव देसाई आदि प्रसिद्ध शिक्षाविदों ने भाग लिया। परिषद् ने सर्वसम्मति से निम्नांकित प्रस्ताव स्वीकार किये :—

(१) राष्ट्रीय स्तर पर सात वर्ष (७ से १४ वर्ष) तक बालकों को निःशुल्क, अनिवार्य शिक्षा दी जाय।

(२) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो।

(३) इस काल में किसी न किसी प्रकार का शारीरिक श्रम और उत्पादक कार्य शिक्षा का केन्द्र होना चाहिए। बालक की अन्य योग्यताओं को केन्द्रीय हस्तकला से सर्वांशतः संबद्ध करके विकसित या प्रशिक्षित किया जाय। केन्द्रीय हस्तकला का चुनाव बालक के वातावरण को उचित रूप में ध्यान में रखकर किया जाय।

(४) शिक्षा की यह योजना धीरे-धीरे अध्यापक के पारिश्रमिक को पूरा करेगी।

परिषद् ने डा० ज़ाकिर हुसैन के सभापतित्व में उपर्युक्त प्रस्तावों के अनुरूप एक विस्तृत पाठ्यक्रम प्रस्तुत करने के लिए एक समिति की नियुक्ति की। इस समिति ने २ दिसंबर सन् १९३७ ई० को तथा अप्रैल सन् १९३८ ई० को क्रमशः अपने दो प्रतिवेदन प्रस्तुत किये। वर्धा-योजना जिस मूल रूप में प्रस्तुत हुई वह डा० ज़ाकिर हुसैन के प्रथम प्रतिवेदन में पूरी तरह प्राप्त होती है। मूल रूप में यह योजना पाँच भागों में विभाजित है :—

पहला भाग—योजना के आधारभूत सिद्धान्त; वर्त्तमान शिक्षा-व्यवस्था; महात्मा गांधी का नेतृत्व; स्कूलों में हाथ का काम; योजना में नागरिकता का आदर्श निहित; आत्मनिर्भर शिक्षा।

दूसरा भाग—ध्येय:, बुनियादी हस्तकला, मातृभाषा, गणित, समाज की शिक्षा, साधारण विज्ञान, ड्राइंग, संगीत और हिंदुस्तानी।

तीसरा भाग—अध्यापकों की ट्रेनिंग का पूरा कोर्स और अध्यापकों की ट्रेनिंग का छोटा कोर्स।

चौथा भाग—(क) निगरानी, (ख) परीक्षा।

पाँचवाँ भाग—शिक्षा के प्रशासन व संगठन की रूप-रेखा; प्रमुख हस्तकार्य कताई व बुनाई का विस्तृत पाठ्य-क्रम।

वर्धा-योजना की विशेषताएँ

गांधीजी कर्मयोग में विश्वास करते थे। व्यक्ति का संपूर्ण जीवन-क्रियाओं अथवा

कर्म पर आधारित है। कर्म को वास्तविक कर्म होने के लिए यज्ञरूप होना चाहिए। उसमें दूसरों के हित की भावना निहित होनी चाहिए। इस सिद्धांत को यदि शिक्षा में प्रयोग किया जाय तो यह अर्थ निकलता है कि बालक कर्म द्वारा सीखता है, और वह कर्म वैयक्तिक न होकर सामाजिक जीवन से संबंधित होना चाहिए। कर्म ऐसा होना चाहिए जो जीवन की आवश्यकताओं से संबद्ध हो अन्यथा व्यर्थ कर्म करने वाला व्यक्ति समाज पर भारस्वरूप हो जायेगा और इस प्रकार समाज का संगठन शिथिल हो जायेगा। ऐसी शिक्षा सार्थक न होगी। वर्धा-योजना में गांधीजी ने कर्मयोग के इसी सिद्धांत को व्यावहारिक रूप देने का प्रयत्न किया है। अतः उन्होंने योजना को क्रिया पर आधारित किया है। उनके विचार में प्रारंभिक शिक्षा व्यवसाय या हस्तकला-प्रशिक्षण के माध्यम से दी जानी चाहिए। शिक्षा के माध्यम के रूप में जिस हस्तकला को लिया जाय, बालक को उसे बुद्धिपूर्वक क्रियान्वित करना चाहिए।

हस्त-कला केन्द्रित शिक्षा—वर्तमान शिक्षा के दोषों को ध्यान में रखते हुए, गांधीजी का कहना है कि, "....मैं बालकों की शिक्षा का आरंभ उपयोगी हस्तकला की शिक्षा से करता और जिस समय से उनके प्रशिक्षण का आरंभ होता उसी समय से उन्हें उत्पादन करने के योग्य बनाता। मेरा विश्वास है कि ऐसी ही शिक्षा-योजनाओं के द्वारा मन और आत्मा का उच्चतम विकास संभव है। प्रत्येक हस्तकला की शिक्षा आज की भाँति यांत्रिक ढंग से नहीं होनी चाहिए, अर्थात् बालक को जानना चाहिए कि प्रत्येक कार्य 'क्यों' और 'किसलिए' होता है।"† गांधीजी की वर्धा-योजना का यह आधारभूत अथवा सारभूत सिद्धांत है। वह चाहते थे कि शिक्षा का केन्द्र या आधार ऐसी हस्तकला हो जो शिक्षा की दृष्टि से अनुकूल हो जिसका मनुष्य जीवन के आवश्यक कार्यों और रुचियों से स्वाभाविक संबंध हो, और जो शिक्षा के पूरे पाठ्यक्रम में लागू की जा सके। गांधीजी के अनुसार विद्यालय ऐसा नहीं होना चाहिए जिसमें बहुत से विषयों की शिक्षा के साथ-साथ व्यावसायिक शिक्षा भी जुड़ी हो, वरन् जिसमें सभी प्रकार की शिक्षा व्यावसायिक शिक्षा के माध्यम से दी जाय। दूसरे शब्दों में, हमें हस्तकला-प्रशिक्षण को साहित्यिक प्रशिक्षण के साथ संयुक्त नहीं करना है, वरन् हमें हस्तकला-प्रशिक्षण को साहित्यिक और बौद्धिक प्रशिक्षण का साधन बनाना है। यही कारण है कि गांधीजी शैक्षिक दृष्टि से अनुकूल हस्तकला को शिक्षा का केन्द्र बनाना चाहते हैं, 'जिसके आधार पर पाठ्यक्रम के सभी या अधिक से अधिक विषय पढ़ाए जा सकें।' विद्यालयों में हस्तकला अथवा व्यावसायिक प्रशिक्षण को स्थान देने से गांधीजी का यह मंतव्य नहीं है कि विद्यालयों को कारखाने के रूप में परिणित कर दिया जाय जहाँ बालक उत्पादन-कला में लग जायँ या ऐसे कारीगर बन जायँ जो केवल मशीन की तरह काम करते हों। गांधीजी, 'करने द्वारा सीखने' में विश्वास करते हैं। वह चाहते हैं कि बालक प्रत्येक कार्य का 'क्यों' और

† 'Harijan,' July 31, 1937.

'किसलिए' शिक्षक द्वारा नहीं, वरन् अपने अनुभव के आधार पर जाने। इससे यह स्पष्ट है कि गांधीजी आवयविक शिक्षा और स्वयं-शिक्षा में आस्था रखते थे। इसके अतिरिक्त वह यह भी चाहते थे कि प्रत्येक विषय के सिखाने में इस बात पर बल दिया जाना चाहिए कि सब मिल-जुलकर कार्य करें।

गांधीजी विषयों के सहसंबंध पर भी बल देते थे। उनके अनुसार यदि पाठ्यविषय में एक हस्तकार्य, कताई-बुनाई आदि को बढ़ा दिया जायगा और अन्य विषय पुरानी पद्धति से ही पढ़ाये जायेंगे तो ज्ञान के खंड-खंड हो जायँगे, विभिन्न ज्ञान में सहसंबंध स्थापित न हो सकेगा और योजना का संपूर्ण उद्देश्य भंग हो जायेगा। गांधीजी यह स्पष्ट करते हैं कि "क्योंकि हमारा उद्देश्य बालक और बालिकाओं के व्यक्तित्व को व्यावसायिक शिक्षा के माध्यम से पूर्ण रूप से विकसित करना है, अतः विद्यालय फ़ैक्टरी या कारखाने में परिणित होने से बचे रहेंगे। इसके अतिरिक्त प्रशिक्षण में जिस मात्रा में बालक और बालिकाओं से व्यावसायिक कुशलता की अपेक्षा की जायगी उसी के बराबर अन्य विषयों में भी कुशल होने की उनसे अपेक्षा की जायगी।"† अतः गांधीजी के विचार में व्यवसाय अथवा हस्तकला को केन्द्र मानकर शिक्षा को उसी के चारों ओर घूमना चाहिए और उसी को आधार बनाकर पाठ्यक्रम का निर्धारण होना चाहिए।

वर्तमान शिक्षा-सिद्धांत और व्यवहार में, जो पाश्चात्य जगत् में विकास हुए हैं उनसे, गांधी जी की 'क्रिया द्वारा शिक्षा' के आदर्श को समर्थन प्राप्त है। परंतु गांधीजी के आदर्श से उनका एक महत्त्वपूर्ण मतभेद है। पाश्चात्य शिक्षाविद् रूसो, पेस्टॉलाजी और फ़्राँबैल ज्ञान प्राप्त करने में बालक की क्रियाशीलता और अनुभव पर बल देते हैं, परंतु गांधीजी उनसे इस प्रकार भिन्न हैं कि ज्ञान प्राप्त करने में वह एक महत्त्वपूर्ण हस्तकला को निर्धारित करना चाहते हैं जिसके आधार पर बालक में क्रियाशीलता और अनुभव का उदय हो। गांधीजी और उनके समर्थकों का यह दावा है कि हस्तकला-केन्द्रित शिक्षा मनुष्य के पूर्ण विकास का साधन है और यह बालक की क्रियाशीलता को निरर्थक नष्ट या समाप्त होने से बचाती है। यह बाल-प्रकृति की दृष्टि से भी एक उपयुक्त पद्धति है क्योंकि यह उनको निरे मानसिक ज्ञान के बोझ से बचाती है और शिक्षा स्वयं नीरस होने के दोष से बच जाती है। हस्तकला के द्वारा हाथ और मस्तिष्क की शिक्षा साथ-साथ होती है और बालक केवल छपे हुए अक्षरों को पढ़ना ही नहीं सीखते, वरन् साथ-साथ अपने हाथ और मस्तिष्क के द्वारा कोई लाभदायक काम करना भी सीख जाते हैं। सामाजिक दृष्टि से हस्तकला संबंधी कार्य में जब सब जातियों के बच्चे मिल-जुलकर कार्य करेंगे तो जात-पाँत के बंधन टूट जायँगे। हाथ का काम करनेवालों और बौद्धिक कार्य करने वालों में एक दूसरे मे जो वैर है, जो दोनों के लिए अहितकर है, वह जाता रहेगा। यही पद्धति

† 'Harijan,' October 30, 1937

एक उपयुक्त साधन है जिसके द्वारा सबके हृदय में शारीरिक श्रम के प्रति सच्चा आदर और सब मनुष्यों में एकता का भाव उत्पन्न होगा। राष्ट्र की आय की दृष्टि से इसके द्वारा शारीरिक श्रम करने वालों में धनार्जन की शक्ति की वृद्धि होगी और वे अपने अवकाश-समय का भी लाभ उठा सकेंगे। शिक्षा के दृष्टिकोण से हस्तकला द्वारा प्रशिक्षण बालकों के ज्ञान को ठोस बनायेगा। शिक्षा जीवन से संबंधित हो जायेगी और शिक्षा के विभिन्न पहलू एक दूसरे से सहसंबंधित हो जायँगे !

हस्तकला के माध्यम से मस्तिष्क, हृदय और हाथ को सर्वतोभावेन प्रशिक्षित करने की गांधीजी की प्रणाली, जो वास्तविक परिस्थितियों में बालक को सोद्देश्य क्रिया करने के लिए प्रेरित करती है, अपने स्वभाव में डीवी की 'प्रोजेक्ट प्रणाली' के पूर्णतया निकट है। गांधीजी जिस विद्यालय की कल्पना करते हैं वह कार्य करने, प्रयोग करने और यहाँ तक कि खोज अथवा आविष्कार करने का स्थान होगा; रटने, शब्दों से बोझिल निष्क्रिय सूचनाओं को ग्रहण करने का स्थान नहीं। गांधीजी रटने की पद्धति एवं किताबी ज्ञान के बहुत विरुद्ध हैं क्योंकि इनसे बालकों की रचनात्मक प्रवृत्ति का ह्रास होता है। डीवी की भाँति गांधीजी भी प्रयोगवाद में विश्वास करते हैं। उनके सभी शिक्षा-सिद्धांत केवल उनके उर्वर मस्तिष्क के विचार-मात्र नहीं हैं, वरन् वे वास्तविक प्रयोग के आधार पर निर्धारित किये गये हैं। कार्य के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने की यह शिक्षण-पद्धति प्रकृतवादी और प्रयोजनवादी सिद्धांतों पर आधारित है।

शिक्षा : आत्मनिर्भर—हस्तकला-केन्द्रित शिक्षा में गांधीजी की योजना की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता है हस्तकला का आत्मनिर्भर पक्ष। गांधीजी का विश्वास है कि बालक के व्यक्तित्व का विकास करने के साथ ही, हस्तकला शिक्षा को आत्मनिर्भर बनाती है। शिक्षा के आत्मनिर्भर पक्ष को दो अर्थों में लिया जा सकता है—व्यक्ति के जीवन को भविष्य में आत्मनिर्भर बनाने वाली शिक्षा और ऐसी शिक्षा जो स्वयं आत्मनिर्भर है। पहले अर्थ में शिक्षा से गांधीजी का तात्पर्य है, 'शिक्षा को बेकारी के विरुद्ध एक प्रकार से इंश्योरेंस होना चाहिए।' दूसरे अर्थ में शिक्षा इसलिए आत्मनिर्भर है कि बालकों के हस्तकला और उत्पादक कार्यों से शिक्षक के वेतन का व्यय पूरा पड़ सकता है। गांधीजी इस विषय में आश्वस्त हैं कि प्रत्येक विद्यालय आत्मनिर्भर हो सकता है, किन्तु शर्त यह है कि इन विद्यालयों में बनी हुई वस्तुओं को राज्य खरीद ले। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि गांधीजी हस्तकला को यांत्रिक ढंग से सीखने के पक्ष में नहीं थे। बालक द्वारा वह 'उत्पादन' के लिए उत्पादन नहीं चाहते थे। वह श्रम को महत्ता प्रदान करते हैं, ईमानदारी के साथ जीविकोपार्जन चाहते हैं और शिक्षा के रूप एवं माध्यम को बदलना चाहते हैं। उनके लिए पाठशाला में श्रम का महत्त्व केवल आत्म-सहायता या वहाँ के कार्य करने तक सीमित नहीं है। विद्यालय में किये गये श्रम या दूसरे शब्दों में, सीखे जाने वाले व्यवसाय का आर्थिक मूल्य भी होना चाहिए; उनके इस विचार को जॉन डीवी का समर्थन

प्राप्त है। डीवी के अनुसार, "यह आरोप लगाना कि बाग़वानी, कताई, लकड़ी की चीज़ें बनाना, धातु की चीज़ें बनाना, भोजन बनाना आदि विभिन्न क्रियाएँ जो आधारभूत मानव-क्रियाओं को विद्यालयों में प्रवेश कराती हैं, उनका महत्त्व केवल जीविका के लिए है, यह उनके महत्त्व को न समझना है। यदि अधिकतर मनुष्यों ने औद्योगिक कार्यों में केवल बुराइयाँ पाई हैं, परंतु जीवन के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए उन्हें सहा है तो दोष उन धंधों में नहीं है, वरन् उन परिस्थितियों का है जिनके भीतर उन्हें सम्पादित किया गया है। समकालीन जीवन में आर्थिक तथ्यों (Economic factors) का निरंतर बढ़ता हुआ महत्त्व इसे और आवश्यक बना देता है कि शिक्षा उनके वैज्ञानिक पाठ्य विषय और सामाजिक मूल्य को व्यक्त करे।"†

आत्मनिर्भर शिक्षा के मूल में गांधीजी के अहिंसा-दर्शन की स्थिति है। भारत इतना धनी देश नहीं है कि वह अमेरिका और इंगलैण्ड की भाँति शिक्षा पर करोड़ों रुपया व्यय कर सके। अमेरिका और इंगलैण्ड ने शोषण द्वारा धन-संग्रह किया है। हम भारतीय, शोषण की बात सोच भी नहीं सकते हैं, अतः हमारे पास आत्मनिर्भर शिक्षा योजना ही एक मार्ग है। यही एकमात्र और सर्वाधिक प्रभावकारी साधन है जिसके द्वारा हम अहिंसात्मक व्यवस्था और शांतिपूर्ण सामाजिक क्रांति कर सकते हैं। इसी के आधार पर हम आध्यात्मिक समाज का निर्माण कर सकते हैं जहाँ आज के समाज की भाँति व्यक्ति एक दूसरे से होड़ नहीं करेगा, जहाँ व्यक्ति एक दूसरे को लूटेगा या दबायेगा नहीं, वरन् सब मिलकर काम करेंगे। गांधीजी का कहना है कि पाश्चात्य योजना की तुलना में, भारतीय शिक्षा योजना कुछ बातों में उससे बिल्कुल भिन्न होगी क्योंकि भारत के जीवन का मार्ग ही भिन्न है। भारत में हर प्रकार की स्वतंत्रता-प्राप्ति का मार्ग अहिंसात्मक रहा है, यही कारण है कि शिक्षा द्वारा बालकों को यह सिखाने की आवश्यकता है कि अहिंसा का मार्ग हिंसा के मार्ग से अच्छा है।

नागरिकता का आदर्श—गांधीजी इस बात पर बल देते हैं कि अध्यापकगण जिन पर इस योजना को चलाने का भार है उन्हें नागरिकता के उस आदर्श को भली-भाँति समझ लेना चाहिए जिस पर यह योजना आधारित है। नए भारत की कल्पना करते हुए जिसके सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सभ्य जीवन में प्रजातन्त्र की भावना का दिनों दिन विकास होगा, गांधीजी चाहते हैं कि बालकों को पर्याप्त अवसर मिलने चाहिए कि वे अपने देश की समस्याओं पर विचार करें और अपने कर्त्तव्य एवं अधिकार को समझें। बालकों को समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य को किसी लाभदायक सेवा द्वारा पूरा करना चाहिए। वह शिक्षा, जो निकम्मे बालकों का निर्माण करती है चाहे वे अमीर हों या ग़रीब, हेय है। ऐसी शिक्षा समाज की श्रम-करने और उत्पादन करने की शक्ति को क्षति ही नहीं पहुँचाती, बल्कि लोगों के विचार और आदतों को भी बिगाड़ती है। हस्त-

†'Democracy and Education', pp. 234, 235

कला-केन्द्रित शिक्षा बालक को कर्मठ एवं क्रियाशील बनायेगी, बालक को अपने पैरों पर खड़ा होना सिखायेगी। इससे बालक को अपनी महत्ता का पता लगेगा और बालक में अपने को उन्नत करने की भावना का संचार होगा।

गांधीजी का कहना है कि भलीभाँति चुना हुआ हस्तकला-विषय जहाँ ज्ञान को पूर्ण बनाता है वहाँ विद्यालय और जातीय जीवन में आवश्यक संबंध भी स्थापित करता है। उनके अनुसार बालक को सभी प्रकार की हस्तकला की शिक्षा, उसके सामाजिक एवं भौतिक वातावरण-संबंधी जीवन की ठोस परिस्थितियों के माध्यम से दी जानी चाहिए ताकि बालक जो कुछ भी सीखता है वह उसकी बढ़ती हुई क्रियाशीलता के साथ आत्मसात होता जाय। गांधी जी कहते हैं कि हस्तकला-केन्द्रित शिक्षा के कार्यक्रम में बालक सक्रियतापूर्वक ज्ञानार्जन करता है, और अपने सामाजिक वातावरण के समझने और उस पर भली प्रकार नियंत्रण प्राप्त करने में उस ज्ञान का उपयोग करता है। इस संबंध में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि बालक अपने सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना को विकसित करता है। यह योजना सहकारी क्रिया-कलापों का पक्ष लेती है और इस प्रकार सामाजिक प्रशिक्षण के अवसर प्रदान करती है जिससे सामाजिक कार्यकुशलता आती है। सामाजिक दृष्टि से उपयोगी उत्पादन-कार्य जिसे अन्य बालकों के मधुर सहयोग से पूरा किया जाता है, बालक के मन में सामाजिक सेवा की महत्ता और व्यक्तिगत कार्यकुशलता की भावना भरता है। यह बालक के कोमल मन में सहयोग की भावना को प्रबल और स्थायी बनाता है। उसे इस बात की चेतना होती है कि उसने अपनी थोड़ी-सी देन दूसरों के कल्याण के लिए दी है। इस प्रकार उसकी सामाजिक चेतना जागृत होती है, दूसरे शब्दों में उसकी चेतना का समाजीकरण होता है।

पाठ्यक्रम

बेसिक शिक्षा-प्रणाली का पाठ्यक्रम ७ वर्ष का होगा। यह ७ से १४ वर्ष तक के बालक और बालिकाओं के लिए निर्धारित किया गया है। पाँचवीं कक्षा तक सह-शिक्षा का आयोजन किया गया है। इसके उपरांत यद्यपि बालक और बलिकाओं के लिए पाठ्यक्रम समान है फिर भी बालिकाओं के लिए सामान्य-विज्ञान के स्थान पर गृह-विज्ञान की शिक्षा की व्यवस्था की जायगी। पाठ्य-क्रम की रूपरेखा निम्न प्रकार है :—

(१) साधार हस्त-कौशल : यह हस्तकौशल इस दृष्टिकोण से चुना जाना चाहिए कि पूरी शिक्षा प्राप्त करने पर भविष्य में वह बालक के जीवन-यापन का साधन हो सके; जैसे—(क) कताई-बुनाई, (ख) बढ़ईगीरी, (ग) खेती, (घ) फल तथा वनस्पति की उद्यान-कला, (ङ) चमड़े का काम, (च) भौगोलिक तथा स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार कोई अन्य हस्तकला।

(२) **मातृ-भाषा :** सभी प्रकार की शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होगी। सात साल के पाठ्यक्रम के अध्ययन के उपरांत निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति होनी चाहिए—(क) मातृभाषा पर बालक को इतना अधिकार प्राप्त कर लेना चाहिए कि वह इसके माध्यम से अपने जीवन में नित्य-संबंध में आनेवाली वस्तुओं के बारे में मौखिक और लिखित रूप से अपने विचार प्रकट कर सके। (ख) वह दैनिक समाचार-पत्र व मासिक पत्रों को सरलता से पढ़ व समझ सके। (ग) वह गद्य और पद्य को ध्यान से पढ़कर, उनसे आनंद-लाभ कर सके। (घ) वह शब्दकोष, किताबों की विषय-सूचिका (Index), संदर्भ पुस्तकों का उपयोग करना जान ले और अपने ज्ञान की वृद्धि तथा आनंद की प्राप्ति के लिए पुस्तकालयों को काम में ला सके। (ङ) वह स्पष्ट ढंग से, ठीक-ठीक, और साथ ही तीव्र गति से रात-दिन की घटनाओं का वर्णन लिख सके। (च) वह अपनी निज की व कारोबार की चिट्ठी-पत्री लिख सके। (छ) वह उच्च कोटि के लेखकों और कवियों की रचनाओं को पढ़ और समझ सके।

(३) **गणित :** इसका उद्देश्य बालकों को अपने जीवन के धंधे—चाहें वे घरेलू हों या सामाजिक—से संबंधित हिसाब-किताब करने योग्य बनाना है। इस ध्येय की प्राप्ति के लिए, सादा जोड़, गुणा, भाग, दशमलव, त्रैराशिक, ब्याज, क्षेत्रफल, अमली ज्यामिति आदि का ज्ञान पर्याप्त है। गणित के विविध प्रक्रमों को साधार हस्तकौशल सीखते समय उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों से भी संबंधित होना चाहिए।

(४) **समाज का ज्ञान :** इसके उद्देश्य हैं—(१) सामान्यतः मनुष्यमात्र की उन्नति और विशेषकर भारत की प्रगति की ओर रुचि उत्पन्न करना; (२) बालक को इस योग्य बनाना कि वह अपने समाज की और भोगोलिक परिस्थिति को समझ सके और उसमें सुधार कर सके; (३) देश के प्रति प्रेम जागृत करना; बालक अपने देश के अतीत का आदर करे और प्रेम एवं सचाईपूर्वक सब से मिलकर देश की भलाई कर सके; (४) नागरिक के कर्त्तव्य और अधिकार का ज्ञान प्राप्त कर सके; (५) वह विश्वासी मित्र और पड़ोसी बन सके; (६) संसार के सभी धर्मों के प्रति आदर का भाव उत्पन्न कर सके। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए इतिहास, भूगोल और नागरिक शास्त्र का ज्ञान निम्नांकित विधि से दिया जाना चाहिये :—

१. छोटी कक्षाओं में बालकों को विश्व का मानचित्र दिखाना चाहिए और उन्हें महापुरुषों की जीवनियाँ पढ़ायी जानी चाहिए। उच्च कक्षाओं में सामाजिक, सांस्कृतिक उथल-पुथल एवं प्रगति का अध्ययन कराना चाहिए। इतिहास की शिक्षा इस प्रकार न दी जानी चाहिए कि बालक अपने अतीत के गौरव पर फूल कर अपनी जाति पर घमंड करने लगे और फलस्वरूप दूसरी जाति के लोगों को अपने से निम्न समझे। राष्ट्रीय त्यौहार और सप्ताह मनाना प्रत्येक पाठशाला के कार्यों का एक आवश्यक अंग होना चाहिए।

२. बालकों को पंचायत, ज़िला-परिषद्, नगरपालिका आदि सार्वजनिक संस्थाओं का ज्ञान कराया जाना चाहिए। उन्हें मालूम होना चाहिए कि मत (Vote) क्या है और उसका उपयोग कैसे किया जाता है। राज्य-सभाओं से लाभ और उनकी प्रगति पर प्रकाश डालना चाहिए। इन बातों का ज्ञान केवल मौखिक रूप से नहीं, वरन् जीवन की वास्तविक घटनाओं से संबंधित होना चाहिए। भूगोल पढ़ाते समय बालकों को विश्व के मानचित्र में भारत की स्थिति तथा अन्य देशों से उसका संबंध बताया जाना चाहिए। इसमें निम्नांकित बातों पर ध्यान देना चाहिए :—

(क) भारत और अन्य देशों के पौधों, पशुओं और मनुष्यों का वर्णन और जलवायु का प्रभाव,

(ख) मौसम का हाल समझना और समझाना, (यह बाहर का काम है, जैसे सूर्य को देखकर प्रत्येक मौसम में उसकी ऊँचाई का पता लगाना, हवा की दिशा बतानेवाले यंत्र से हवा की दिशा मालूम करना, थर्मामीटर और बैरोमीटर से हवा को उष्णता और चाप को मालूम करना, उसको लिखने और बताने के ढंग, वर्षा का हिसाब रखना आदि)

(ग) मानचित्र देखने और बनाने की क्षमता बालकों में आनी चाहिए।

(घ) आनेजाने और संवाद-वाहन के साधनों का ज्ञान तथा उनका जीवन और कारोबार से संबंध जानना चाहिए।

(ङ) स्थानीय पेशों, खेती और उद्योग का हाल ज्ञात होने के साथ-साथ भारत के बड़े-बड़े उद्योग-धंधों का भी ज्ञान होना चाहिए।

(५) साधारण विज्ञान—इसके उद्देश्य हैं—१. बालक को इस योग्य बनाना कि वह अपने आस-पास के जगत् को समझ सके। २. वह ठीक-ठीक वस्तुओं का निरूपण कर सके और उन्हें अनुभव द्वारा जाँचे। ३. वह वैज्ञानिक सिद्धांतों को समझ सके, ४. प्रसिद्ध वैज्ञानिकों के जीवन-चरित को जाने और समझे कि उन्होंने ज्ञान की वृद्धि के लिए कितना बलिदान किया है।

पाठ्य-क्रम में विज्ञान के निम्नलिखित विषय सम्मिलित होने चाहिए :—

१. प्रकृति-निरीक्षण : वनस्पति, पक्षी और चौपायों का ज्ञान और विशेष ऋतु में होने वाली खेती का ज्ञान ;
२. वनस्पति-शास्त्र : पौधों के अंगभेद, उनका उगना, बढ़ना और फैलना। विद्यालय की फुलवारी एवं उपवन में तथा आसपास के खेतों में काम करा कर बच्चों को यह समझाना कि तरी, गरमी और प्रकाश की भिन्न दशाओं का और भिन्न प्रकार के बीज और खाद का क्या प्रभाव पड़ता है।
३. पशु-विज्ञान : कुछ विशेष प्रकार के कीड़े-मकोड़ों, चौपायों और पशुओं के के बारे में यह जानना कि इनमें से कौन से मनुष्य के मित्र व कौन से शत्रु हैं।

४. शरीर-विज्ञान : मनुष्य का शरीर, उसके अंग और उनके कार्य ।

५. स्वास्थ्य-रक्षा तथा रसायन-शास्त्र : (अ) आँख, नाक, कान आदि की स्वच्छता, (आ) घर और गाँव की सफ़ाई, (इ) छुआछूत के रोग और उनसे बचने के उपाय तथा (ई) व्यायाम, खेल, कसरत, ड्रिल आदि से स्वास्थ्य की वृद्धि होती है । (उ) रसायन-शास्त्र : जल, वायु, नमक, खार, तेज़ाब क्या हैं और कैसे बनते हैं । (ऊ) तारों का ज्ञान जिससे रात को मार्ग पहचान सकें (ए) वैज्ञानिकों और नये देश ढूंढ़ने वालों की कहानियाँ ।

(६) कला (ड्राइंग) : इसके उद्देश्य हैं—(१) आँखों को आकृति और रंग पहचानने और रंगभेद करने का अभ्यास, (२) आकृतियों को याद रखने का अभ्यास, (३) प्रकृति और कला की सुंदर वस्तुओं को जानना और उनसे आनंद उठाना, (४) वस्तुओं की सुंदर आकृति सोचना और सजावट का काम ; (५) दस्तकारी में जो वस्तुएँ बनानी हों उनका चित्रण । इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि बालक देखकर एवं सोचकर आकृतियाँ बनायें ।

(७) संगीत : इसका उद्देश्य है कि बच्चे अच्छे, सुंदर गीत कंठस्थ करें और लय तथा ताल के साथ गा सकें । सामूहिक गान पर विशेष बल दिया जाय ।

(८) हिंदुस्तानी : इसको पढ़ाने का उद्देश्य है कि बालक सब प्रांतों के साथ एक भाषा में संबंध रख सकें और एक दूसरे के विचारों को जान सकें ।

इस योजना में अंग्रेज़ी भाषा को कोई स्थान नहीं दिया गया है । इसके स्थान पर हिंदुस्तानी भाषा पढ़ायी जायेगी । विभिन्न प्रांतों में प्रमुख भाषा के रूप में वहाँ की प्रादेशिक भाषा सिखायी जायेगी । गांधीजी के मत में यह पाठ्य-क्रम अंग्रेज़ी को छोड़कर प्रचलित हाई स्कूल के बराबर होगा । धार्मिक शिक्षा को वर्धा-योजना के पाठ्य-क्रम में स्थान नहीं दिया गया है । उन्हीं के शब्दों में, 'हमने वर्धा-शिक्षा-योजना में से धर्म का बहिष्कार कर दिया है क्योंकि हमें भय है कि आज जिन धर्मों की शिक्षा दी जाती है अथवा जिनका पालन करना होता है वे मेल के स्थान पर झगड़े उत्पन्न कराते हैं । साथ ही मेरा बिश्वास है कि बच्चों को ऐसी शिक्षा अवश्य देनी चाहिए जिसमें सभी प्रमुख धर्मों का सार निहित हो । यह धर्म-सार केवल शब्दों और पुस्तकों से नहीं पढ़ाया जा सकता, इसे तो बालक केवल शिक्षक की दैनिक जीवनचर्या से ही सीख सकता है ।' गांधीजी बालकों को स्वावलंबन के धर्म का पाठ सिखाना चाहते थे ।

अध्यापकों का प्रशिक्षण

बेसिक शिक्षा-प्रणाली में शिक्षक एक मध्य-बिंदु है । शिक्षक के व्यक्तित्व पर ही योजना की सफलता निर्भर है, अतः इसमें अध्यापकों के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था की गयी है । प्रशिक्षण का पाठ्य-क्रम दो प्रकार का है,

दीर्घकालीन प्रशिक्षण का पाठ्यक्रम (तीन वर्ष का)

(१) कपास का बोना, चुनना, धुनना, चर्खे का ज्ञान ; विभिन्न प्रकार के मिस्त्री के काम ।

(२) बुनियादी उद्योगों में से कोई एक उद्योग सीखना ।

(३) साधारण हस्तकला की शिक्षा देना सीखना जिससे कुछ उत्पन्न हो । इसके लिए एक रूप-रेखा बना लेनी चाहिए : जैसे, पाठशाला का समाज से संबंध , बच्चों की तबियत के ज्ञान का एक सादा मानचित्र जो अनुभव और घटनाओं पर आधारित हो, वह सिद्धांत जिनके आधार पर मनुष्य काम सीखता हैं; आदि ।

(४) शरीर-विज्ञान : स्वास्थ्य एवं स्वच्छता का ज्ञान होना ।

(५) जो कुछ समाज-संबंधी ज्ञान साधारण शिक्षा में पढ़ाया गया हो उसकी पुनरावृत्ति करना और उससे आगे पढ़ाना ; पिछले पचास वर्ष के अंदर भारत और विश्व के अन्य भागों का हाल जानना ।

(६) मातृभाषा का ज्ञान ।

(७) हिंदी का ज्ञान—भारत के प्रत्येक भाग में फ़ारसी और नागरी दोनों पत्रों को पढ़ना ।

(८) श्यामपट पर लिखना और चित्र बनाना ।

(९) शारीरिक व्यायाम और खेल ।

(१०) प्रशिक्षण विद्यालय से संबंधित स्कूल में पढ़ाना ।

अल्पकालीन प्रशिक्षण का पाठ्य-क्रम (एक वर्ष का)

(१) धुनाई और तकली की कताई ।

(२) कोई एक हस्तकला जो समाज की दृष्टि से लाभदायक हो ।

(३) शरीर-विज्ञान ।

(४) हस्तकला और समाज के जीवन से उसके संबंध का बुनियादी विचार । (थोड़ा इतिहास, भूगोल) ।

(५) सब विषयों को हस्तकला के द्वारा पढ़ाने के सरल मानचित्र सोचना ।

(६) अध्यापकों के निरीक्षण में कम-से-कम २५ पाठ पढ़ाना ।

प्रशिक्षण विद्यालय में प्रवेश पाने के लिए उम्मीदवार को कम-से-कम हाई स्कूल होना चाहिए या वर्नाक्यूलर फ़ाइनल मिडिल पास होने के बाद दो वर्ष के अध्यापन का अनुभव होना चाहिए । एक वर्ष का पाठ्यक्रम योजना को शीघ्र-से-शीघ्र संचालित करने के लिए रखा गया है ।

पाठन की समय-सारणी

विषय		निश्चित समय
केन्द्रीय हस्तकला	....	३ घंटे, २० मिनट
संगीत, चित्रकला, गणित	....	४० मिनट
मातृभाषा	....	४० मिनट
सामाजिक अध्ययन और समाज-विज्ञान	....	३० मिनट
शारीरिक प्रशिक्षण	....	१० मिनट
मध्यावकाश	....	१० मिनट
		५ घंटे, ३० मिनट

वर्धा-शिक्षा-योजना पर एक आलोचनात्मक दृष्टि†

वर्धा शिक्षा-योजना के संबंध में विस्तारपूर्वक विचार किया जा चुका है। गांधी जी की अध्यक्षता में वर्धा में जो अधिवेशन हुआ था, उसमें चार मुख्य सिद्धांत स्वीकृत हुए थे, उन्हीं को विस्तृत रूप देने के लिए 'ज़ाकिर हुसैन समिति' ने जब अपना प्रथम प्रतिवेदन प्रस्तुत किया तब योजना पर विभिन्न दृष्टिकोणों से कड़ी आलोचनाएँ की गयीं। इन आलोचनाओं का आधिकारिक रूप से उत्तर दिया गया। तत्पश्चात् समिति ने दूसरा प्रतिवेदन प्रकाशित किया। समिति जब विस्तृत कार्यक्रम बनाने बैठी तब उसने स्वावलंबन संबंधी नियमों का बंधन सरल कर दिया, हस्तकला को केवल ज्ञानार्जन का साधन स्वीकार किया और जैसा पहले कहा जा चुका है कताई-बुनाई के अतिरिक्त अन्य हस्त-कलाओं को भी पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया। सूत्ररूप में योजना की विशेषताएँ इस प्रकार हैं :—

(१) हस्तकौशल-केन्द्रीयता,
(२) आत्मनिर्भरता,
(३) मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा, तथा
(४) उच्च शिक्षा के प्रति अवज्ञा।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि गांधीजी की अध्यक्षता में जो प्रथम अधिवेशन हुआ था उसमें भाग लेने वाले सदस्य सभी सूत्रों पर सहमत नहीं थे। सभी ने आत्म-निर्भरता के विचार का विरोध किया। उनमें से अधिक लोगों ने चौथे सूत्र का खंडन किया कि राज्य अपने को उच्च शिक्षा के प्रति उत्तरदायी न समझे। केवल तीसरे सूत्र—

† P. S. Naidu : The Wardha Scheme : A Psychological Analysis, 'The Visva-Bharati Quarterly,' May-Oct. 1947, pp. 60-67, के आधार पर।

मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा—का सबने एक मत होकर समर्थन किया, किन्तु अंत में चारों सूत्र स्वीकार किये गये और दोनों प्रतिवेदन प्रकाशित हुए। इन दोनों प्रतिवेदनों को ध्यान में रखते हुए योजना पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करना आवश्यक है :—

बालमनोविज्ञान की उपेक्षा—योजना बालमनोविज्ञान के सिद्धांतों पर आधारित नहीं है। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि शिक्षा प्रयुक्त मनोविज्ञान (Applied Psychology) की एक शाखा है। राष्ट्रीय स्तर पर, बिना प्रयोगात्मक मनोविज्ञान (Experimental Psychology) के ठोस प्रशिक्षण की सार्वभौम अनिवार्य शिक्षा की योजना बनाना ऐसा ही है जैसे बिजली के तत्वों और इंजिनियरिंग के ज्ञान के बिना प्रसार-केन्द्र (Broadcasting Station) की योजना बनाना। यह आश्चर्यजनक बात है कि वर्धा-योजना में अध्यापकों के प्रशिक्षण का जो कार्य है, उसमें बालमनोविज्ञान का कहीं नाम नहीं है। योजना में किसी स्थान में भी बालमनोविज्ञान के महत्व को स्वीकार करने का प्रमाण नहीं मिलता। उसमें बालक के कोमल मन-संबंधी सिद्धांतों की पूर्ण रूप से अवहेलना की गयी है। बालक को एक पुलिसमैन या सिपाही के रूप में अर्थात् एक ही समजातीय समूह का एक अंग समझा गया है; उसके बहुमूल्य व्यक्तित्व की उपेक्षा की गयी है। बालक को कुछ उद्देश्यों की पूर्ति का साधन-मात्र माना गया है और वे उद्देश्य हैं—जीविका कमाने की क्षमता तथा विशेष प्रकार की नागरिकता। योजना में यह भी स्वीकार नहीं किया गया है कि जीविकोपार्जक यन्त्र बनने के पूर्व बालक को मानव होने या मानव की भाँति विकसित होने का भी अधिकार है। यदि बेबस बालकों के आधारभूत अधिकारों को मान्यता प्रदान की गयी होती तो यह शिक्षा-योजना हस्तकौशल-केन्द्रित न होकर खेल-केन्द्रित अथवा बाल-केन्द्रित होती। अतः इस योजना की तुलना उन शिक्षा-विदों की पद्धतियों से करना ठीक न होगा जो बालप्रेमी थे और बालकों को शिक्षा-पद्धतियों के कृत्रिम बंधनों से मुक्ति दिलाना चाहते थे।

बाल-केन्द्रित शिक्षा की प्रथम आवश्यकता है कि वे अध्यापक, जिन्हें बालकों के संपर्क में आना है, बालमनोविज्ञान में पूर्णतया शिक्षित हों। बाल-केन्द्रित शिक्षा वही है जिसमें बालक की व्यक्तिगत योग्यता को परीक्षण द्वारा समझकर, उसे ठोस मनोवैज्ञानिक विधियों द्वारा भली-भाँति विकसित किया जाता है। प्रत्येक बालक की योग्यता की माप के लिए उसकी सामान्य बुद्धि और योग्यता की जाँच की जाती है। ऐसी शिक्षा में, हस्तकला को (यदि हस्तकला सिखानी ही है तो) मनोवैज्ञानिक जाँच के उपरांत ही, बालक की योग्यता के संदर्भ में चुनना होता है; और इस हस्तकला को भी उसके खेल का एक साधन होना चाहिए, पैसे कमाने का धंधा नहीं। बाल-केन्द्रित शिक्षा वही है जिसमें अतिसामान्य या तेज और पिछड़े हुए बालक अपनी योग्यता के अनुसार विशिष्ट शिक्षा प्राप्त करें, जिसमें बालक की अतिशय गतिशील शक्ति का विभिन्न मार्गों में निर्देशन किया जाय और विभिन्न प्रकार के खेलों के आयोजन द्वारा उसे थकान का अनुभव न होने दिया जाय। वर्धा-

शिक्षा-योजना बाल-केन्द्रित शिक्षा की इन मान्यताओं को पूरा नहीं करती है, अतः उसे बाल-केन्द्रित शिक्षा नहीं कहा जा सकता है।

वर्धा समय-सारणी से भी मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों की उपेक्षा का पता चलता है। यदि मानसिक और शारीरिक थकावट के नियमों का भी ध्यान रखा गया होता, तो भी साढ़े तीन घंटे प्रतिदिन हस्तकला के एक तारतम्य में चलने वाले काम में बालक को लगाने का सुझाव न दिया गया होता।

उत्पादक कार्य बनाम सृजनात्मक कार्य—वर्धा-शिक्षा-योजना के विरुद्ध दूसरी आपत्ति यह है कि इसका संपूर्ण कार्यक्रम इसके विभिन्न पहलुओं से संबंधित भ्रमात्मक विचारों के कारण दोषपूर्ण हो गया है। सबसे बड़ा भ्रम, 'उत्पादक-कार्य' के संबंध में है। वर्धा-योजना के प्रयोग कर्त्ताओं ने 'उत्पादक कार्य' की जो परिभाषा की है उसे बाल-मन को मुक्त करने वालों ने 'सृजनात्मक कार्य' के सर्वथा प्रतिकूल माना है। प्रथम प्रकार के कार्य का संबंध यांत्रिक हस्तकला से है और दूसरे प्रकार के कार्य का संबंध सौंदर्य-शास्त्रीय कला (Aesthetic art) से। प्रथम कोटि के कार्य यांत्रिक मनोवृत्ति उत्पन्न करेंगे तथा दूसरी कोटि के स्वतंत्र सौंदर्य-शास्त्रीय मनोवृत्ति। व्यक्तित्व का दमन, घोर आत्म-हनन, नीरसता, थकावट उत्पन्न करना आदि प्रथम प्रकार के कार्य की विशेषताएँ हैं। व्यक्तित्व का स्वतंत्र प्रकाशन, रचनात्मक एवं आविष्कारिणी शक्ति की मुक्ति, बिना किसी भय के प्रयोग करने की स्वतंत्रता, प्रकृति के अनुकूल चरित्र का निर्माण सृजनात्मक कार्य की विशेषताएँ हैं। खेल ही ऐसा साधन है जिसके द्वारा सृजनात्मक शक्ति को विकसित किया जा सकता है। सारे सभ्य संसार के शिक्षित वर्ग की यही राय है कि बालकों को बारह वर्ष के पूर्व हस्तकला की शिक्षा न दी जाय। यह बालक के प्रति अत्याचार है कि उसे अपने खेलने और आनंद करने की अवस्था में एक आना या आध आना भी फ़ी घंटे कमाना पड़े।

वर्धा-प्रतिवेदन इस बात को स्वीकार करता है कि 'तेरह वर्ष की अवस्था तक बालक बनाना-बिगाड़ना चाहते हैं, तोड़ना-फोड़ना और फिर निर्माण करना चाहते हैं। प्रकृति इसी प्रकार उन्हें शिक्षा देती है। बालकों से एक स्थान पर पुस्तक लेकर बैठे रहने के लिए कहना उनके प्रति अत्याचार करना है। यह बात सच है; किंतु साढ़े तीन घंटे तक एक ही स्थान पर बैठ कर चर्खा चलाना क्या बालक के शरीर और मन के प्रति अन्याय करना नहीं है? बालक को इतनी स्वतंत्रता मिलनी चाहिए कि वह चर्खा व तकली को विविध प्रकार से तोड़े-फोड़े, बनाये या बिगाड़े। बालक को उत्पादक कार्यों द्वारा प्रति घंटा आध आना कमाने के लिए भी बाध्य नहीं करना चाहिए।

हस्तकला और प्रतियोगिता—वर्धा-योजना में, दूसरा भ्रम, उसमें कथित 'प्रतियोगिता' से संबंधित है। योजना के सबसे प्रथम अधिवेशन में ही प्रो॰के॰टी॰शाह ने बताया था कि वर्धा-योजना का परिणाम होगा व्यावसायिक ढंग पर कार्य करनेवालों से अनुचित

प्रतियोगिता। एक अनुभवी और महान वैज्ञानिक प्रो० शाह के इस विचार को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस योजना के कार्यान्वित होने का तात्कालिक परिणाम होगा वर्धा-शिक्षा-के स्नातकों और व्यवसायी शिल्पियों के बीच प्रतिद्वंद्विता। लेकिन एक और प्रकार की प्रतियोगिता की भावना भी इसमें निहित है। जब सभी गाँवों के सभी लड़के शिल्पी हो जायेंगे तब मज़दूरी कमाने के लिए उनमें आपस में ही प्रतियोगिता होगी—कताई-बुनाई के क्षेत्र में। जब कातने और बुनने वालों की संख्या बढ़ जायेगी, तब शिक्षित बुनकरों और कातने वालों की वस्तुओं की बिक्री में कमी होगी और बेकारी बढ़ेगी।

यह व्यर्थ की आशा है कि वर्धा-योजना से समाज में वर्गहीनता स्थापित होगी और प्रतिद्वंद्विता समाप्त होगी। हस्तकला में पैसे पर अधिक बल देने का परिणाम होगा मनुष्य में अंतर्निहित संचय की मूल प्रवृत्ति को जागृत करना और बलशाली बनाना। इसी प्रवृत्ति से लालच, स्वार्थपरता, घृणा और असामाजिक भाव उत्पन्न होते हैं। वर्धा-योजना के उद्देश्य और उसकी पूर्ति के साधनों में परस्पर विरोध है। इस विरोध को दूर करने के लिए बड़े ही स्पष्ट विचारों की आवश्यकता है। योजना का उद्देश्य है—ईश्वर से डरने वाले एक वर्गहीन समाज का निर्माण, परंतु साधन है—प्रतियोगिता, जिससे अहं की भावना और लालसा की वृद्धि होती है।

हस्तकला और चरित्र-निर्माण—योजना में तीसरा भ्रम उसके 'साक्षरता' और 'व्यक्तित्व' संबंधी विचारों में सन्निहित है। योजना में सीधे-सादे मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों की उपेक्षा करके, बिना किसी उत्तरदायित्व की भावना के, अनेक सांकेतिक वाक्यांश—'संपूर्ण व्यक्तित्व की साक्षरता' (शिक्षा), 'ठोस चरित्र का निर्माण', 'हाथों के द्वारा चिंतन'—प्रयोग किये गये हैं। इस बात की सत्यता में तनिक भी संदेह नहीं है कि वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति में बालक की सक्रिय और संवेगात्मक प्रकृति की उपेक्षा की गयी है। परंतु इसके स्थान पर अन्य पक्षों की उपेक्षा करते हुए केवल सक्रिय पक्ष पर ज़ोर देना भी बालक के प्रति कम अन्यायपूर्ण नहीं है।

मनोविज्ञान का नया विद्यार्थी (नौसिखिया) भी यह जानता है कि मानव-प्रकृति के तीन पक्ष हैं : ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक। वर्धा-योजना में केवल अंतिम पक्ष पर अधिक ज़ोर दिया गया है और यह आशा प्रकट की गयी है कि अंतिम पक्ष में प्रशिक्षित होकर बालक प्रथम पक्ष में स्वयं दक्ष हो जायेगा। द्वितीय अर्थात् भावात्मक पक्ष की तो पूर्णतया उपेक्षा की गयी है। इसके अतिरिक्त जीवन के उच्चतर मूल्यों की ओर योजना में दृष्टिपात भी नहीं किया गया है। यह मनोवैज्ञानिक असत्य है कि एक ओर तो पूरे व्यक्तित्व के विकास का उद्देश्य हम अपने सम्मुख रखें और दूसरी ओर हम भावात्मक पक्ष की उपेक्षा करें। हस्तकला-केन्द्रित शिक्षा, जिसमें नैतिक और धार्मिक शिक्षण का कोई आयोजन नहीं है, जिसमें जीवन के उच्चतर मूल्यों पर कोई बल नहीं दिया गया है, उत्पादन पर अधिक बल देकर मनुष्य के पाशविक उद्वेगों को ही उत्तेजित करेगी।

हस्तकला-केन्द्रीयता—योजना में सबसे बड़ा भ्रम हस्तकला-केन्द्रित उदार शिक्षा के विचार के सम्बन्ध में है। वर्धा-शिक्षा योजना के संगठनकर्त्ताओं का प्रारंभ में यह विचार था कि प्राइमरी शिक्षा में अंग्रेज़ी को छोड़कर मैट्रिक तक के सभी विषय और हस्तकला सम्मिलित होने चाहिए। यह सुझाव स्वीकार करने योग्य और व्यावहारिक है। किंतु बाद में यह कहा गया कि संपूर्ण शिक्षा बुनियादी हस्तकला के द्वारा दी जानी चाहिए। यह अमनोवैज्ञानिक है। सांस्कृतिक महत्त्व के विषय, जो एक विचारित पाठ्यक्रम में होने चाहिए तथा हस्तकला के बीच स्वाभाविक संपर्क स्थापित करना असंभव है। अध्यापन को वस्तुनिष्ठ होना चाहिए, उसे बालक के अपने वातावरण में प्राप्त सक्रिय अनुभवों पर आधारित होना चाहिए। किंतु केवल एक हस्तकला के माध्यम से ही संपूर्ण ज्ञान प्रदान करना विवेक-शून्य होगा।

समय-सारिणी— वर्धा-योजना के अनुसार अध्ययन के लिए जो समय-सारिणी बनायी गयी है उसमें आश्चर्यचकित कर देनेवाली एक नवीनता है जिसकी ओर बहुत से आलोचकों का ध्यान नहीं गया है। उसके अनुसार प्रत्येक बालक को प्रतिदिन साढ़े तीन घंटे हस्तकला-कार्य करना होगा। इतना दीर्घ समय केवल किसी हस्तकला के अभ्यास में व्यय नहीं करना है, वरन् हस्तकला की शैक्षिक और सांस्कृतिक क्षमताओं का भी वैज्ञानिक ढंग से लाभ उठाना है। सरल शब्दों में, ज्ञातव्यशिक्षा बालकों को उसी समय दी जायेगी जब वे हस्तकला का कार्य करते होंगे। यह समझ में नहीं आता कि यह कैसे संभव है? यदि बालक बढ़ईगीरी का कार्य कर रहा है तो औज़ारों की खड़खड़ाहट और दूसरे प्रकार की खटपट के बीच दी गयी शिक्षा को वह कैसे हृदयंगम कर सकेगा और शिक्षक भी शिक्षा कैसे दे सकेगा? इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हस्तकला और अध्ययन का कार्य एक समय में, साथ-साथ हो पाना कठिन है। बौद्धिक शिक्षण के लिए कम-से-कम आधा समय पृथक् रखना होगा।

यह स्पष्ट है कि वर्धा-योजना केवल तकली के हस्त-कार्य द्वारा संभव है। चर्खे से भी ज्ञान प्राप्त करने में बाधा पड़ेगी। पर तकली कातते समय भी बालक को अपना ध्यान तकली से हटा कर शिक्षक के शब्दों को सुनने में लगाना पड़ेगा और पुनः शिक्षक की ओर से ध्यान हटाकर तकली पर लगाना पड़ेगा। इस प्रकार ध्यान को एक ओर से हटाकर दूसरी ओर स्थिर करने में बालक को कितनी मानसिक थकान होगी? अतः मनोविज्ञान का साधारण जानकार व्यक्ति भी इस प्रकार की शिक्षा-योजना के पक्ष में न होगा।

उच्च शिक्षा का विनाश—इतिहास में सर्वप्रथम यह आश्चर्यजनक सिद्धांत स्वीकार किया गया है कि उच्चतर शिक्षा का राज्य से मुख्य संबंध नहीं होना चाहिए। संसार का प्रत्येक प्रगतिशील देश उच्चतर शिक्षा की रक्षा कर रहा है और यदि हम वर्धा-योजना के चार सिद्धांतों को स्वीकार करें तो फल यह होगा कि हम एक ऐसी नीति स्वीकार करेंगे जिसमें राज्य विश्वविद्यालय की शिक्षा के प्रति उदासीन रहेगा। इस विचार अथवा नीति

के समर्थक भविष्य में आनेवाले भयंकर परिणाम से अनभिज्ञ हैं। तथ्य यह है कि ऐसी शिक्षा-पद्धति जो केवल हस्तकला पर बल दे, जिसकी नींव धार्मिक शिक्षा पर आधारित न हो, जिसमें उत्पादन पर ज़ोर दिया जाय और विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों में दी जाने वाली उच्च शिक्षा का दमन हो, वहाँ इस बात की आशंका है कि ऐसी शिक्षा में बालक नैतिक और बौद्धिक दृष्टि से हीन बौने बनेंगे जिनको देश में तानाशाही शासन की स्थापना करने के इच्छुक बड़ी ही आसानी से प्रभावित कर सकेंगे। हमारा देश बौद्धिक दृष्टि से दिवालिया हो जायेगा। उदार जनतंत्रवादी राज्य से संबंधित विचार-स्वातंत्र्य, स्वस्थ बौद्धिक स्वातंत्र्य आदि गुणों की अभ्युन्नति समाप्त हो जायेगी। उदार नेतागिरी अतीत का विषय हो जायेगी। भविष्य की इस शोचनीय दशा की कल्पना करने मात्र से बड़ी व्याकुलता होती हैं।

राष्ट्रीय प्रतिभा की उपेक्षा—यह कहा जाता है कि वर्धा-योजना की जड़ हमारी राष्ट्रीय प्रतिभा में है। यह कथन सत्य नहीं है। हमारी राष्ट्रीय प्रतिभा की विशेषता हस्तकला में नहीं है। हमारी राष्ट्रीय प्रतिभा की विशेषता त्याग और पारब्रह्म के साक्षात्कार में है। हमारे गुरुकुलों में इच्छाओं के त्याग की शिक्षा दी जाती थी, क्रमशः संसार को त्यागने की शिक्षा दी जाती थी। हमारी शिक्षा राष्ट्रीय प्रतिभा के अनुकूल तब होगी जब उसका दृष्टिकोण धार्मिक होगा और जब उसके केन्द्र में सांसारिक प्रवृत्तियों के प्रति उपेक्षा का भाव निहित होगा। हस्तकला-केन्द्रित शिक्षा की विचारधारा हमारे प्राचीन आदर्शों के सर्वथा विरुद्ध है।

उपर्युक्त आलोचना के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वर्धा-शिक्षा-योजना में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अभावों के अतिरिक्त कुछ और अभाव ऐसे अवश्य हैं जिनके कारण हमें उसको राष्ट्रीय शिक्षा-योजना कहने में संकोच होता है। तथ्य यह है कि गांधीजी के जीवन-दर्शन और शिक्षा-दर्शन में साम्यता है; उनका शिक्षा-दर्शन राष्ट्रीय आदर्शों के सर्वथा अनुकूल है; परंतु उनके शिक्षा-दर्शन और वर्धा-योजना में पूर्ण मात्रा में साम्यता नहीं है।

भारत की विशेषता उसकी आदर्शवादी, आध्यात्मिक विचारधारा में है। भारत सदा से आध्यात्मिकता का संदेशवाहक रहा है। उसने जीवन के परम लक्ष्य—मुक्ति की प्राप्ति-के लिए विभिन्न योग-साधनों का अनुसंधान किया है। अतः किसी भी राष्ट्रीय कहलाने वाली शिक्षा-योजना में उसकी आत्मा की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। राष्ट्रीय शिक्षा का निर्माण जीवन के अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए भारतीय शिक्षादर्शों के आधार पर होना चाहिए। भारतीय विचारधारा के सर्वथा अनुकूल गांधीजी ने 'मुक्ति' को जीवन का लक्ष्य माना और उसकी प्राप्ति के लिए कर्म-योग का मार्ग अपनाया। कर्म-योग में आस्था रखने के कारण वह स्वभावतः कर्म अथवा क्रिया द्वारा शिक्षा देने के पक्ष में थे। परंतु यहाँ यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि 'हस्तकला द्वारा शिक्षा' और 'क्रिया द्वारा शिक्षा',

इन दोनों की कार्य-पद्धति में भिन्नता है। रवीन्द्रनाथ के शिक्षा-दर्शन का अध्ययन करते समय हमने देखा था कि भारतीय शिक्षा का आदर्श 'विभिन्न क्रियाओं द्वारा पूर्ण रूप से जीना' और 'जीने द्वारा सीखना' (Learning by living) है। अतः जीवन के विभिन्न पक्षों—शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आत्मिक—से संबंधित क्रियाओं द्वारा बालक को अपना चहुमुखी विकास करते हुए जीना चाहिए। इसके अतिरिक्त बालक को वास्तविक रूप से जीने के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि आरंभिक निर्माणकाल में, उसका बाल-मन विशुद्ध, पवित्र, प्राकृतिक, निःस्वार्थ, भ्रातृत्व भावना से पूर्ण, सामाजिक जीवन से संबंधित एक आदर्श वातावरण में निर्मित हो। इस प्रकार के वातावरण में जब बालक का मन जीवन के प्रति ठीक दृष्टिकोण निर्धारित करना सीख लेगा तब वह संसार के किसी भी कोने में, किसी भी दशा में कोई भी कार्य करते समय अपने कर्त्तव्य-पथ से विचलित न होगा और बाहरी सुझावों को अपने मानसिक जगत् में यथोचित दृष्टि-कोण से आँक कर ही आश्रय देगा। इस के विपरीत, पूर्व इसके कि बालक की प्रवृत्तियों एवं संवेगों का उन्नयन एवं दिव्यीकरण हुआ हो, उसने परार्थ का दृष्टिकोण ग्रहण किया हो या उसकी दृष्टि पारमार्थिक बनी हो, हस्तकला या अन्य उत्पादक कार्य द्वारा शिक्षा से बालक की तुच्छ इच्छाओं, स्वार्थ, प्रतिस्पर्धा आदि की भावनाओं के और अधिक प्रबल होने की संभावना है। हस्तकला-केन्द्रित शिक्षा आरंभ से ही बालक के वातावरण को एक आर्थिक पुट देगी। अपनी ऐसी मनःस्थिति में जब बालक 'स्व' या 'आत्म-प्रेम' की भावना से प्रेरित होता है, हस्तकला-केन्द्रित शिक्षा एक उपयुक्त पद्धति न होगी। यहाँ पर यदि हम भारतीय दृष्टिकोण से जीवन के मूल्यों को ध्यान में रखकर योजना पर एक दृष्टि डालें तब भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि आर्थिक दृष्टिकोण (चाहे कितने भी गौण रूप में उसे योजना में स्वीकार क्यों न किया गया हो) लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उचित साधन नहीं। क्रमशः जीवन के वे मूल्य हैं—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। इन मूल्यों के अनुसार भी 'अर्थ' का स्थान 'धर्म' के बाद आता है, कहने का तात्पर्य है कि जब 'अर्थ' और 'काम' 'धर्म'-प्रेरित होंगे तभी व्यक्ति अंतिम लक्ष्य—मोक्ष—की ओर अग्र-सर होगा। यहाँ 'धर्म' शब्द को उसके दार्शनिक अर्थ में ग्रहण करना होगा, जिस अर्थ से प्रेरित होकर प्राचीन काल में शिक्षा 'धर्मव्रत' कही जाती थी।

गांधीजी स्वयं एक आदर्शवादी थे। उनके द्वारा निर्धारित शिक्षा का उद्देश्य—संपूर्ण व्यक्तित्व का विकास—शिक्षा की दृष्टि से सर्वथा श्रेष्ठ एवं उपयुक्त है; पर वर्धा-योजना उस उद्देश्य की प्राप्ति के दृष्टिकोण से अपूर्ण है। बालक के सर्वतोमुखी विकास के लिए 'धर्म' एक आवश्यक साधन है किंतु योजना में धर्म की पूर्णतया उपेक्षा की गयी है। गांधीजी हस्तकला-केन्द्रित शिक्षा के आधार पर बालक में नैतिक गुणों का विकास चाहते हैं पर क्या धर्म के अभाव में बालक में ऊँचे नैतिक गुणों के स्थायी रूप से विक-सित होने की संभावना है? गांधीजी सब बालकों को आचार-शास्त्र, क्योंकि वह सब धर्मों

में एक-सा है, की शिक्षा देना चाहते हैं। आचार-शास्त्र सम्यक् आचरण का विज्ञान है और निस्संदेह सब धर्मों में एक-सा है, पर क्या आचार-शास्त्र के ज्ञान मात्र से व्यक्ति चरित्रवान बन सकता है? चरित्र-निर्माण के लिए एक और तत्व की आवश्यकता है और वह है प्रेरणा-शक्ति। बिना प्रेरणा-शक्ति के सम्यक् चरित्र का निर्माण असंभव है। यदि आचार-शास्त्र सम्यक् आचरण का ज्ञान प्रदान करता है तो धर्म प्रेरणा-शक्ति प्रदान करता है। 'बालकों को उस स्रोत से संपर्क कराये बिना ही, जहाँ से वे उसके अनुसार जीवन व्यतीत करने के लिए शक्ति प्राप्त करने के योग्य बनें, शिक्षा निरर्थक होगी।' स्वयं गांधीजी के शब्दों में इस तथ्य की पुष्टि की जा सकती है, "नीति रूपी बीज को जब तक धर्म-रूपी जल का सिंचन नहीं मिलता तब तक उसमें अंकुर नहीं फूटता। पानी के बिना वह बीज सूखा ही रहता है और लंबे अरसे तक पानी न पाए तो नष्ट भी हो जाता है। इस प्रकार हमने देख लिया कि सच्ची नीति में सच्चे धर्म का समावेश होना चाहिए। इसी बात को दूसरी रीति से यों कह सकते हैं कि धर्म के बिना नीति का पालन नहीं किया जा सकता, यानी नीति का आचरण धर्म रूप में करना चाहिए।"† अतः धर्म के आलोक के अभाव में बालक का सम्यक् विकास संभव न होगा।

सविचार पाठ्यक्रम को ध्यान में रखकर यदि योजना पर एक दृष्टि डाली जाय तो यहाँ पर भी गांधीजी के शिक्षा-दर्शन तथा योजना-पद्धति में साम्य दृष्टिगोचर नहीं होता। गांधीजी का शिक्षा-दर्शन यह स्पष्ट इंगित करता है कि किसी भी उद्योग या व्यवसाय के माध्यम से व्यक्ति, यदि अनासक्त भाव से कर्मरत है तो, सत्य का दर्शन कर सकता है। परंतु साथ में वह यह भी कहते हैं कि सत्य को पहचानने के लिए 'किसी को साहित्य-ज्ञान की आवश्यकता हो सकती है, किसी को भौतिकशास्त्र की, किसी को कला की।' ऐसी स्थिति में आरंभिक स्तर के उपरांत भी सभी बालकों के लिए एक ही प्रकार की शिक्षा—हस्तकला-केन्द्रित या अन्य उत्पादक कार्य-केन्द्रित शिक्षा—की व्यवस्था करना उनकी विभिन्न नैसर्गिक रुचियों की अवहेलना करना होगा। अतः एक ही पाठ्यक्रम को सबके ऊपर बलात् नहीं लादना चाहिए। पाठ्यक्रम का क्षेत्र व्यापक होना चाहिए।

भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक विचारधारा से प्रभावित गांधीजी ने सदैव पाश्चात्य भौतिकवादी अवधारणा का विरोध किया। किंतु वर्धा-योजना में जो प्रयोजनवादी एवं प्रकृतिवादी तथ्य निहित हैं उनके फलस्वरूप देश के नवयुवकों में उल्टे इसी पाश्चात्य अवधारणा के पोषित होने की गुंजायश है। इन तथ्यों के कारण बालक के दृष्टिकोण के निकट भविष्य तक ही सीमित रह जाने की संभावना है। वास्तविक भारतीय शिक्षा को अपनी मुख्यतः आदर्शवादी आध्यात्मिक विचारधारा को सार्थक करने के लिए समष्टि को ध्यान में रचना होगा—बालक का संपूर्ण व्यक्तित्व, संपूर्ण जीवन-काल, संपूर्ण वाता-

† गांधीजी : 'धर्म-नीति' पृष्ठ ३६, ४०

वरण, जीवन के तात्कालिक उद्देश्य से लेकर परम उद्देश्य तक। शिक्षा के साधन उद्देश्य के ही अनुरूप होने चाहियें तभी सफलता की आशा की जा सकती है।

योजना की प्रगति एवं योजना पर आधारित शिक्षा-संस्थाएँ

सन् १६३८ ई० में हरीपुरा कांग्रेस अधिवेशन में अधिकृत रूप से स्वीकृत हो जाने पर, बेसिक शिक्षा-योजना को अनेक प्रांतों में लागू किया गया। सन् १६३६ ई० में 'हिंदुस्तानी तालीमी संघ' का संगठन हुआ। इस संघ ने योजना की प्रगति में पर्याप्त योगदान दिया। बंबई, बिहार और उड़ीसा की सरकारों ने 'बेसिक शिक्षा परिषद्' का संगठन किया तथा बेसिक शिक्षा के निरीक्षण और कार्यान्विन के लिए विशेष अधिकारियों की नियुक्ति की। एक वर्ष के भीतर ही बंबई, बिहार, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, उड़ीसा और काश्मीर में दस प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना हो गयी। मध्यभारत में वर्धा नॉर्मल स्कूल को विद्यामंदिर ट्रेनिंग स्कूल बना दिया गया तथा ६८ विद्यामंदिर स्कूल और खोले गए। मध्यप्रदेश में विद्यामंदिर योजना तथा उत्तर प्रदेश में आधार-शिक्षा या बुनियादी तालीम के नाम से जब वर्धा-योजना चलायी गयी तो हस्तकौशल को संपादित करने की समय-अवधि ३ घंटे, २० मिनट से कम कर दी गयी। राष्ट्रीय स्तर की संस्थाओं में जामियामिलिया इस्लामिया, दिल्ली और अन्ध्रजातीय कलाशाला, मसलीपट्टम ने अध्यापकों के प्रशिक्षण का कार्य आरंभ कर दिया। महाराष्ट्र विद्यापीठ, पूना और गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद ने अपने अंतर्गत बेसिक विद्यालय खोले।

सन् १६३८ ई० तथा सन् १६४० ई० में बंबई के मुख्य मंत्री श्री बी० जी० खेर की अध्यक्षता में क्रमशः दो समितियों की स्थापना हुई। इन समितियों ने बेसिक शिक्षा की प्रगति के संबंध में अनेक सुझाव दिये। इनमें से अधिकांश सुझावों को केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार बोर्ड ने मान लिया और सन् १६४४ ई० की सार्जेंट रिपोर्ट में इन सुझावों को कार्यान्वित करने का प्रयास किया गया।

सन् १६३६ ई० में द्वितीय महायुद्ध आरंभ हो गया और ब्रिटिश सरकार से मतभेद होने के कारण प्रदेशों के कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने त्याग-पत्र दे दिया किंतु बेसिक शिक्षा की प्रगति पर इसका अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। पर सन् १६४० ई० में बेसिक शिक्षा की प्रगति में कुछ बाधा अवश्य पड़ी। उड़ीसा सरकार ने बेसिक शिक्षा बोर्ड, प्रशिक्षण विद्यालय तथा अन्य पंद्रह स्कूलों को बंद कर दिया। किंतु इससे भी इस क्षेत्र में कार्य करने वालों का उत्साह कम नहीं हुआ।

६ अगस्त, सन् १६४२ ई० को गांधीजी के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेताओं ने 'भारत छोड़ो आंदोलन' आरंभ किया जिससे सारा देश आन्दोलित हो उठा। इस आंदोलन ने राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं का ध्यान बेसिक शिक्षा के क्षेत्र से हटाकर राष्ट्रीय आंदोलन की ओर आकर्षित किया। राष्ट्रीय कार्यकर्ता जेलों में बंद कर दिये गये। इस

संकट और तूफ़ान के समय में अनेक कारणों से वर्धा-शिक्षा-योजना की प्रगति न हो सकी। जेल से छूटकर जब गांधीजी बाहर आये तब 'नई तालीम' के विषय में उनकी दृष्टि दूसरी हो गयी। उन्होंने कहा कि "हमें अपनी वर्त्तमान उपलब्धियों से ही संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। हमें बालकों के परिवारों से भी सहयोग करना चाहिए। हमें उनके माता-पिता को भी शिक्षित बनाना चाहिए। बेसिक शिक्षा को निश्चित रूप से, सच्चे अर्थों में जीवन-शिक्षा बनाना चाहिए।" गांधीजी ने नई तालीम के 'जीवन के माध्यम से जीवन की शिक्षा' के इस नये स्वरूप की व्याख्या की। उन्होंने कहा कि, "मेरे समक्ष यह स्पष्ट हो गया है कि बेसिक शिक्षा के कार्य-क्षेत्र का विस्तार करना है। इसमें सब लोगों के लिए, जीवन के सभी स्तरों पर शिक्षा देने की व्यवस्था सम्मिलित होनी चाहिए।" अतः सन् १६४५ ई० में 'हिंदुस्तानी तालीमी संघ' की बैठक जब पुनः वर्धा में हुई तब इसमें गांधीजी के आदेशानुसार कई महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास हुए। इन प्रस्तावों के फल-स्वरूप 'बेसिकशिक्षा' का नाम 'नई तालीम' रखा गया और उसे निम्नांकित चार भागों में विभाजित किया गया।

(१) प्रौढ़ शिक्षा अथवा सभी अवस्थाओं के स्त्री-पुरुषों की शिक्षा। इसमें उस माता की देख-रेख और शिक्षा भी सम्मिलित है जिसका बच्चा अभी उसी पर आश्रित है।

(२) पूर्व-बेसिक शिक्षा अथवा सात वर्ष की आयु के भीतर के बालकों की शिक्षा।

(३) बेसिक शिक्षा अथवा सात वर्ष से चौदह वर्ष के बालकों की शिक्षा।

(४) उत्तर-बेसिक शिक्षा अथवा किशोरों की शिक्षा जो बेसिक शिक्षा पूरी कर चुके हैं।

सन् १६४७ ई० में हिंदुस्तानी तालीमी संघ ने बेसिक शिक्षा का एक विस्तृत पाठ्-क्रम बनाया जो लगभग सभी प्रांतों में प्रचलित कर दिया गया है।

इस योजना में 'केन्द्रीय सलाहकार-बोर्ड' ने भी बेसिक शिक्षा के प्रसार में योग दान दिया है। 'राष्ट्रीय योजना समिति' (नेशनल प्लानिंग कमेटी) ने भी बेसिक शिक्षा का सम-र्थन किया है। इसके अतिरिक्त भारत सरकार ने एक 'बेसिक शिक्षा की स्थायी समिति' (स्टैंडिंग कमेटी ऑव बेसिक एजूकेशन) भी स्थापित की। इस समिति ने सन् १६५६ ई० की बैठक में भारत में 'बेसिक शिक्षा के प्रसार, नीति एवं भावी प्रगति' की एक विस्तृत रूप-रेखा तैयार की है। इस समिति ने 'बेसिक शिक्षा-अनुदान समिति' (असेसमेंट कमेटी ऑन बेसिक एज्यूकेशन) के सुझावों के आधार पर एक 'अखिल भारतीय बेसिक परिषद्' की स्थापित करने की माँग की है। यह शिक्षा-परिषद् केन्द्रीय और राजकीय सरकारों को बेसिक शिक्षा-प्रगति संबंधी विषयों पर अपनी सम्मति प्रदान करेगी। समिति ने यह भी परामर्श दिया कि राज्य सरकार अपने यहाँ उत्तर बेसिक स्कूलों को अधिक-से-अधिक संख्या में खोलें और उन्हें माध्यमिक शिक्षा का एक अभिन्न अंग मानें। समिति ने बेसिक स्कूलों में अन्य विषयों के साथ अंग्रेजी भाषा को भी शिक्षण देने की

सलाह दी है। इससे बेसिक विद्यालयों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों को उच्च शिक्षा के विद्यालयों में प्रवेश और शिक्षा पाने में सुविधा रहेगी।

१ जूलाई, १९५६ ई० को तमिलनाद में सर्वोदयपुरम् नामक स्थान पर 'अखिल भारतीय बेसिक शिक्षा सम्मेलन' हुआ। इस सम्मेलन में यह प्रस्ताव पास किया गया कि 'बेसिक शिक्षा में कुछ परीक्षण ऐसे भी किये जायँ जो सरकारी नियन्त्रण से मुक्त हों और नई तालीम जनसमूह तक पहुँचायी जा सके।' अतः इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सम्मेलन ने यह प्रस्ताव पास किया कि विनोबाभावे जिस प्रकार भूदान के लिए पद-यात्रा कर रहे हैं उसी प्रकार नई तालीम के कार्यकर्त्ताओं को देश में पद-यात्रा करनी चाहिए।

इस सम्मेलन ने बताया कि देश में नगरों तथा ग्रामों में जो दो प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था का प्रचलन एवं विकास हो रहा है वह जनतंत्र के लिए घातक सिद्ध होगा। अतः दोनों के लिए एक ही प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था होनी चाहिए; तथा प्राथमिक शिक्षा से लेकर जो कि बेसिक शिक्षा के आधार पर संगठित की जा रही है, विश्वविद्यालय की शिक्षा तक बेसिक-शिक्षा की ही व्यवस्था होनी चाहिए। सम्मेलन ने सुझाव दिया कि प्रत्येक भाषा-भाषी प्रांत में कम-से-कम एक ऐसा शिक्षा-केन्द्र स्थापित किया जाना चाहिए जहाँ पूर्व बेसिक से लेकर विश्वविद्यालस के स्तर तक नई तालीम की शिक्षा प्रदान की जा सके।

अध्यापकों के लिए प्रशिक्षण-विद्यालय—बेसिक शिक्षा योजना में अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए जो अनेक संस्थाएँ कार्य कर रहीं हैं उनमें नई तालीम भवन, सेवाग्राम; जामियामिलिया इस्लामिया टीचर्स ट्रेनिंग इंस्टीट्यूट, दिल्ली; श्री रामकृष्ण मिशन विद्यालय टीचर्स बेसिक सेंटर, कोयंबटूर; ग्रेजुएट बेसिक ट्रेनिंग सेन्टर, ढाबका (बम्बई); विद्याभवन, शान्ति निकेतन; विद्याभवन, उदयपुर; सर्वोदय महाविद्यालय, तर्की (बिहार) अधिक प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त भी आसाम, बंबई, उत्तर प्रदेश आदि राज्यों में प्रशिक्षण संस्थाएँ हैं जो कि बेसिक शिक्षकों को प्रशिक्षण देती हैं। ग्रेजुएटों को प्रशिक्षित करने के लिए इन राज्यों में पृथक् व्यवस्था है। प्राथमिक स्कूल के अध्यापकों के लिए विभिन्न राज्यों में 'अल्पकालीन रिफ्रेशर कोर्स' की भी व्यवस्था की जाती है।

उत्तर बेसिक कालेज तथा जनता कालेज

बेसिक प्रणाली को प्राथमिक स्तर से माध्यमिक व उच्च स्तर पर लाने के लिए भी परीक्षण हो रहे हैं। इस दृष्टिकोण से बिहार प्रांत सबसे आगे है। यहाँ उत्तर बेसिक कॉलेज भी खोले गये हैं। इनके अतिरिक्त युवक और युवतियों को ग्रामीण जनता में शैक्षिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं अन्य जनोपयोगी कार्य करने के दृष्टिकोण से प्रशिक्षित करने के लिए जनता कॉलेज (Community College) खोलने की आवश्यकता प्रतीत

हुई। अतः सन् १९५४ ई० में एक जनता कॉलेज, तर्की (मुज़फ़्फ़रपुर) में खोला गया। इसके उपरांत एक जनता कॉलेज नालंदा में खोला गया। इसी प्रकार नगरपाड़ा (भागलपुर), कोलहंत पटोरी (दरभंगा) एवं बाखरी (मुज़फ़्फ़रपुर) में भी जनता कॉलेजों की स्थापना का विचार है। इन ग्रामीण बेसिक कॉलेजों के खोलने का उद्देश्य यह भी है कि वहाँ शीघ्र ही एक ग्राम्य विश्यविद्यालय खोला जा सके।

पंजाब में भी बेसिक शिक्षा को प्राथमिक स्तर से माध्यमिक स्तर तक उठाने का निर्णय किया गया है। फलस्वरूप, सन् १९५४ ई० में, चंडीगढ़ में एक सीनियर बेसिक कॉलेज की स्थापना हुई है। इसमें केवल ग्रेजुएट ही प्रवेश पा सकेंगे।

इसी प्रकार उत्तर प्रदेश, केरल आदि राज्य प्राथमिक स्कूलों को बेसिक स्कूलों में परिवर्तित करने की दिशा में प्रगति कर रहे हैं।

परीक्षण संस्थाएँ

(१) **आसाम**—आसाम सरकार ने सन् १९५४ ई० में 'बेसिक शिक्षा अधिनियम' पास किया जिसके फलस्वरूप राज्य के सभी प्राइमरी और मिडिल स्कूल क्रमशः जूनियर एवं सीनियर बेसिक स्कूलों में परिवर्तित कर दिये गये। आसाम के इन स्कूलों की विशेषता है इनमें 'बाल सरकार' की स्थापना। विद्यार्थियों का एक न्यायाधिकरण (Tribunal) भी हरेक स्कूल में होता है जो अनुशासन-संबंधी कार्य करता है। बालकों में स्कूल के प्रति आत्मीयता एवं उत्तरदायित्व का भाव विकसित किया जाता है। अध्यापकों और बालकों में निकट संपर्क के लिए भी अवसर प्रदान किए जाते हैं।

(२) **गुजरात कुमार मंदिर, अहमदाबाद**—इसकी विशेषता यह है कि यहाँ का माध्यम खादी है। यहाँ बालकों को स्वावलंबन, सहकारिता, सदाचार एवं नागरिकता के गुणों को विकसित करने की शिक्षा तथा सुलेख पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

(३) **नवयुग स्कूल, बंबई**—यहाँ बालक, बालिकाओं के लिए सह-शिक्षा की व्यवस्था है। इसका मुख्य उद्देश्य है छात्र का सर्वतोमुखी विकास करना और उनमें आत्मनिर्भरता की भावना विकसित करना। यहाँ बालकों को सामाजिक और धार्मिक शिक्षा देने की भी व्यवस्था है।

(४) **स्नातक प्रशिक्षण केन्द्र, धारवार**—यहाँ छात्राध्यापकों को समाज-सेवा एवं सामाजिक शिक्षा के लिए विशेष रूप से प्रशिक्षित किया जाता है।

(५) **बेसिक प्रशिक्षण केन्द्र, लोनो, कालभोर, पूना**—आरंभ में यह कृषि का सामान्य स्कूल था। परंतु सन् १९३२ ई० में शिक्षा-विभाग ने इसे 'ग्राम्य प्रशिक्षण केन्द्र' के रूप में परिणित कर दिया। यहाँ अब ग्रामीण क्षेत्रों के अध्यापकों को प्रशिक्षण दिया जाता है। इस केन्द्र की विशेषता भी स्वावलंबन है।

(६) **हैदराबाद**—यहाँ सबसे पहले हरिजन स्कूलों में बेसिक शिक्षा-प्रणाली के संचा-

लन की व्यवस्था की गयी। इन विद्यालयों के पाठ्यक्रम में, स्वच्छता, समाज-सेवा, प्रार्थना एवं साक्षरता का प्रसार सम्मिलित किया गया। यहाँ की विशेषता है—साप्ताहिक भोज जिसमें अध्यापक और छात्र आपस में प्रेम बढ़ाने के लिए भाग लेते हैं। यहाँ के स्कूलों में विभिन्न प्रकार के हस्त-उद्योग शिक्षा के माध्यम हैं।

(८) **बेसिक स्कूल सेवाग्राम, मध्यप्रदेश**—यहाँ दो भाषाएँ शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रचलित हैं—स्थानीय बालकों के लिए शिक्षा का माध्यम मराठी है तथा बाहर के विद्यार्थियों के लिए हिंदी। उच्च कक्षाओं में हिंदी का अध्ययन अनिवार्य है। इस विद्यालय से संलग्न एक प्रशिक्षण केन्द्र भी है। इस विद्यालय में प्रशिक्षण का माध्यम कोई-न-कोई हस्तकार्य—जैसे, कताई बुनाई, बाग़वानी तथा सब्ज़ी उगाना—रहता है। सांस्कृतिक विकास के लिए विद्यार्थियों एवं अध्यापकों द्वारा विभिन्न त्योहारों पर कीर्तन एवं नाटकों का आयोजन भी होता है।

(८) **ग्राम विश्वविद्यालय, सेवाग्राम**—यहाँ पूर्व बेसिक से लेकर उत्तर बेसिक पाठ्यक्रमों की शिक्षा दी जाती है।

उपर्युक्त संस्थाओं के अतिरिक्त अन्य संस्थाएँ भी हैं जहाँ बेसिक शिक्षा के क्षेत्र में अन्य राज्यों में परीक्षण हो रहे हैं। इनमें मुख्य हैं—राजकीय हाईस्कूल, सोगाम, काश्मीर; टीचर्स कॉलेज सैदपेट, मद्रास; मोटा ट्रेनिंग स्कूल, पंजाब; बाल निकेतन, जोधपुर एवं बेसिक ट्रेनिंग कॉलेज, बनीपुर, पश्चिमी बंगाल।

इस प्रकार देश के विभिन्न राज्यों में योजना की उन्नति एवं प्रसार का कार्य किया जा रहा है।

सहायक-साहित्य

महात्मा गांधी

1. धर्म-नीति
2. गीता-माता
3. आत्म-कथा
4. अनीति की राह पर
5. ब्रह्मचर्य भाग १, भाग २
6. *To The Students, Navajivan*
7. *My Soul's Agony*
8. *Ramanama*
9. *Women and Social Injustice*
10. *Constructive Programme*

अन्य लेखक

1. S. Radhakrishnan : *Mahatma Gandhi*, George Allen Unwin Ltd., London
2. S. Radhakrishnan : *Great Indians*
3. D. M. Datta : *The Philosophy of Mahatma Gandhi*

5. B. Pattabhi Sitaramayya : *Gandhi and Gandhism, Vols. I and II*
6. Louis Fischer : *The Life of Mahatma Gandhi*
6. K. L. Srimali : *The Wardha Scheme*, 1949
7. M. S. Patel : *The Educational Philosophy of Mahatma Gandhi*
8. Hindustani Talimi Sangh : *Educational Reconstruction* (2nd Ed.), *Sevagram* (*Wardha*)
9. *The Visva-Bharati Quarterly. Education Number*, May-Oct., 1947
10. Chandra Shankar Shukla : *Gandhi's View of Life.*

श्री अरविंद घोष

जीवन और कार्य

श्री अरविंद प्राचीन भारतीय ऋषि-परंपरा के आधुनिक उन्नायक के रूप में प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अपने रहस्यमय व्यक्तित्व द्वारा एशिया की आत्मा का संसार को साक्षात्कार कराया और यही कारण है कि प्राचीन योग के सहज साधक और आत्मद्रष्टा के रूप में लोग उनका समादर करते हैं। श्री अरविंद के इस दिव्य व्यक्तित्व की प्रशंसा करते हुए रोमां रोलां ने कहा है, "देखो, वह अरविंद घोष आते हैं। उनमें एशिया की प्रतिभा और योरोप की प्रतिभा का वह पूर्णतम सामंजस्य आज प्राप्त हुआ है जिसकी दीर्घकाल से प्रतीक्षा हो रही थी।" उन्होंने भावी संतान के लिए जिस गौरवमयी परंपरा का निर्माण किया है वह विशाल और समृद्धिशालिनी है। उन्होंने जो कुछ कहा या लिखा है वह उच्चप्रेरणा, सहज ज्ञान एवं क्रांतिदर्शिता से ओतप्रोत है।

जन्म एवं शिक्षा

भारत के इतिहास में १५ अगस्त का बड़ा भारी महत्त्व है। इसी दिन दीर्घकालीन परतंत्रता के पश्चात् देश को स्वतंत्रता प्राप्त हुई। यही तिथि श्रीरामकृष्ण परमहंस की महासमाधि के महोत्सव की भी है और संयोगवश इसी दिन सन् १८७५ ई० में श्री अरविंद का जन्म भी कलकत्ते के घोष-परिवार में हुआ। उनके पिता का नाम डा० कृष्णधन घोष और माता का नाम स्वर्णलता देवी था। अरविंद के दो बड़े भाई थे जिनका नाम विनयभूषण और मनमोहन था।

श्री अरविंद की बाल्यावस्था के विषय में विशेष विवरण तो नहीं मिलता, किंतु इतना ज्ञात है कि उनकी शिक्षा का आरंभ दार्जिलिंग के लोरेटो कांवेंट में हुआ जहाँ भाषा का माध्यम अंग्रेजी थी और किसी भी भारतीय भाषा की शिक्षा वहाँ नहीं दी जाती थी। ऐसे शिक्षालय में भर्ती किए जाने का कारण यह था कि उनके पिता पाश्चात्य सभ्यता के कट्टर पोषक थे और वह नहीं चाहते थे कि उनका पुत्र भारतीय भाषा-संस्कृति के संपर्क में आये और इसीलिए वह अपने घर में भी ऐसे नौकर नहीं रखते थे जो अंग्रेजी के अतिरिक्त बंगला भी जानता हो। दार्जिलिंग के लोरेटो कांवेंट में श्री अरविंद ने दो वर्षों तक शिक्षा प्राप्त की।
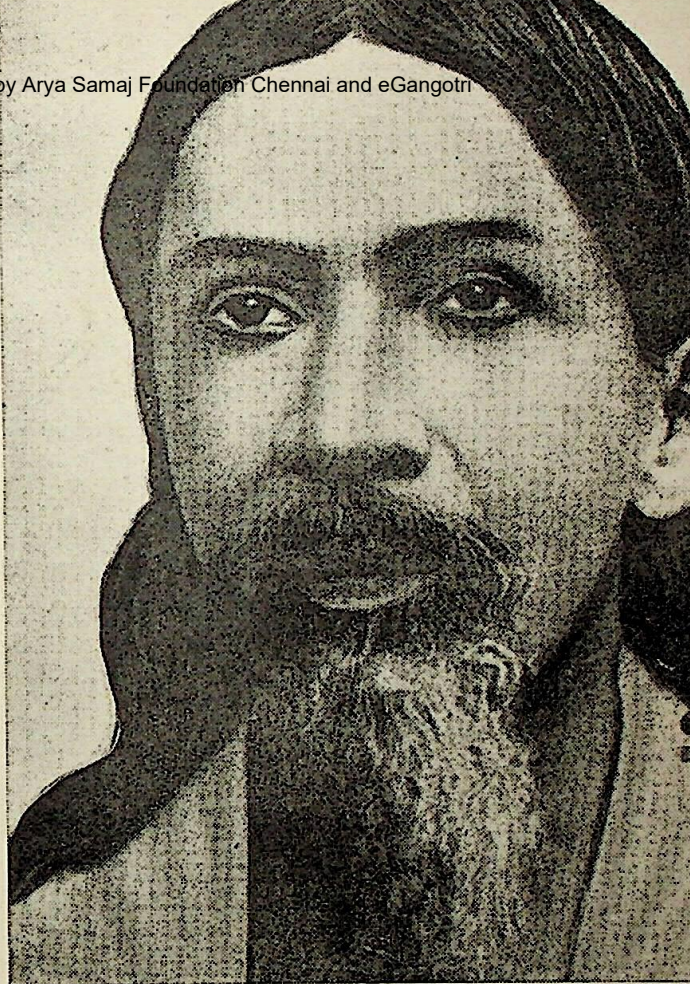
सात वर्ष की अवस्था में सन् १८७६ ई० में उनके माता-पिता ने उनको बहिन सरोजनी के साथ उन्हें भाइयों सहित आगे की शिक्षा के लिए इंगलैंड भेज दिया। वहाँ अरविंद और उनके दोनों भाई मैनचेस्टर ग्रामर स्कूल में भर्ती किए गये, किंतु आयु कम होने के कारण अरविंद की शिक्षा का भार ड्रिवेट दंपति को सौंपा गया जो इनकी देखभाल माता-पिता की भाँति करते थे। ड्रिवेट दंपति की देखरेख में उन्होंने लैटिन भाषा का पूर्ण अभ्यास किया और अंग्रेज़ी के शेक्सपियर आदि विद्वानों की रचनाओं को चाव के साथ पढ़ा। लैटिन भाषा में उन्होंने ऐसी दक्षता प्राप्त कर ली कि सन् १८८५ ई० में वह लंदन के सेंट पॉल स्कूल में भर्ती कर लिये गये। बालक अरविंद की प्रतिभा से प्रभावित होकर स्कूल के प्रधानाध्यापक ने बड़े प्रेमपूर्वक इन्हें ग्रीक पढ़ाना प्रारंभ किया, जिसमें इनकी प्रगति आश्चर्यजनक हुई। अपने विद्यार्थी-जीवन में भी वह स्वभावतः एकांतप्रिय और शांत थे। अधिक व्यक्तियों से मिलना-जुलना और सामाजिक जीवन में उनकी विशेष रुचि नहीं थी। वह एक गंभीर विद्यार्थी थे तथा विचारों के संसार में लीन रहा करते थे। सत्रह वर्ष की आयु में ही उन्हें केंब्रिज के किंग्स कॉलेज की एक सर्वोच्च छात्रवृत्ति मिल गयी। तब उन्होंने फ्रांसीसी भाषा, इतिहास, इटालियन, स्पेनिश तथा जर्मन भाषाओं का भी अभ्यास किया। यहाँ यह स्मरणीय है कि चौदह वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने काव्य-रचना प्रारंभ कर दी थी।

अरविंद को केंब्रिज में ट्रिपोज़ के प्रथम भाग की परीक्षा में प्रथम श्रेणी प्राप्त हुई। इस भाग की परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाने पर साधारणतः बी० ए० की उपाधि दी जाती है, किंतु ऐसा केवल उस दशा में होता है जब परीक्षा तीसरे वर्ष ली जाती है। वह विश्वविद्यालय की उच्च परीक्षा नहीं देना चाहते थे क्योंकि इंगलैंड में विश्वविद्यालय के बाहर ऐसी उपाधियों का बहुत कम महत्त्व था। अतः अरविंद ने पिता की आज्ञा पाकर इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा दी और उसमें वह विशिष्टता के साथ उत्तीर्ण भी हुए, किंतु घुड़सवारी में असफल रहे। उनके बड़े भाई ने तो इसकी चिंता न की, किंतु उनके मँझले भाई मनमोहन को इस असफलता से विशेष दुःख हुआ।

इक्कीस वर्ष की आयु तक अरविंद बौद्धिक दृष्टि से परिपक्व हो गये। ग्रीक, लैटिन, जर्मन और अंग्रेज़ी भाषाओं पर तो उनका विशेष अधिकार हो गया, किंतु अब तक वह अपनी मातृभाषा तथा दूसरी भारतीय भाषाओं से अपरिचित ही रहे। इस आयु तक वह अंग्रेज़ी के अतिरिक्त ग्रीक और लैटिन भाषाओं में भी काव्य-रचना करने लगे थे।

देशभक्ति की भावना का बीजारोपण

इंगलैंड में शिक्षा प्राप्त करते समय ही अरविंद के हृदय में देशभक्ति की भावना का बीजारोपण हो गया था। यद्यपि उनके पिता पक्के साहब थे, किंतु इसके साथ ही वह बड़े ही उदार एवं दयालु थे। रोगियों की सेवा में धन लगा देने के कारण वह कभी-कभी

समय से पैसा नहीं भेज पाते थे जिसके कारण अरविंद और उनके भाइयों को अभाव और दरिद्रता का जीवन भी व्यतीत करना पड़ता। वे तथा उनके भाई जाड़े के दिनों में कोट के बिना ही रह जाते थे और उन्हें कभी-कभी नियमित भोजन भी नहीं मिलता था। इस प्रकार उन्हें ग़रीबी के दुःखों का अनुभव छात्र-जीवन में ही हो गया। इनके पिता इनको जो पत्र लिखते थे उनमें वह ब्रिटिश सरकार के अन्याय, हृदयहीनता और अत्याचार का वर्णन करते थे तथा भारतीय समाचार-पत्रों की कतरनें भी भेजा करते थे। पिता के इन पत्रों द्वारा अरविंद को देशभक्ति का पहला पाठ पढ़ने को मिला। आगे चल कर वह कैंब्रिज में 'इंडियन मजलिस' के मंत्री बन गये। यह एक भारतीय संस्था थी जिसकी स्थापना सन् १८९१ ई० में हुई थी। के० जी० देशपांडे, हरीसिंह गौड़, बीच क्राफ़्ट और परेरा आदि भारतीय उन दिनों इनके साथी थे। अपने इंगलैंड-प्रवास के अंतिम दिनों में वह लंदन में कुछ उग्र विचार के भारतीयों से मिले और 'लोटस ऐंड डैगर' नामक संस्था की स्थापना की। इस संस्था के प्रत्येक सदस्य ने भारत से ब्रिटिश राज्य को समाप्त करने की प्रतिज्ञा की। इस प्रकार के वातावरण और प्रभावों का फल यह हुआ कि उनके हृदय में देशभक्ति की भावना दृढ़ हो गयी। नरम विचार वाले भारतीय राजनीतिज्ञों के प्रति यह असहिष्णु बन गये। उनके हृदय में विद्रोहपूर्ण राष्ट्रीयता की नींव पड़ गयी।

स्वदेश-आगमन

सन् १८९३ ई० में अरविंद ने स्वदेश के लिए प्रस्थान किया, किंतु दुर्भाग्यवश भारत पहुँचने के पूर्व ही इनके पिता का देहांत हो गया। बात यह हुई कि उन्हें अपने बैंकर्स से पता चला कि जिस जहाज़ द्वारा अरविंद चले हैं वह दुर्भाग्यवश लिस्बन के समीप डूब गया। वृद्ध पिता को इस समाचार से इतना शोक हुआ कि वह इस आघात को सहन न कर सके और उनका देहांत हो गया। किंतु यह समाचार ग़लत था। अरविंद 'कार्थेज' नामक जहाज़ से रवाना हुए थे जो लंदन से दो दिन पहले ही चल चुका था और सन् १८९३ ई० के फ़रवरी मास में सुरक्षित रूप से बंबई पहुँच गया था।

गार्हस्थ्य जीवन और भविष्य की तैयारी

जब अरविंद इंगलैंड में थे उन्हीं दिनों बड़ौदा के महाराज सयाजीराव गायकवाड़ भी वहाँ थे। उन्हें जेम्स काटन से अरविंद की प्रतिभा और योग्यता के विषय में पता चला। उन्हें यह भी मालूम हुआ कि वह बड़ौदा राज्य की सेवा के लिए प्रस्तुत हैं। उन्होंने अरविंद को बुलाकर उनसे भेंट की और नौकरी की सारी शर्तें वहीं निश्चित कर दीं। भारत पहुँचने पर अरविंद ने बड़ौदा राज्य की सेवा करनी आरंभ कर दी। यहाँ से उनके जीवन-विकास में एक नया मोड़ उपस्थित हुआ क्योंकि वास्तव में बड़ौदा में रहते हुए उन्होंने अपने भावी जीवन की तैयारी आरंभ की। सबसे पहले उनकी नियुक्ति अस्थायी

रूप में लगान-बंदोबस्त विभाग में दो सौ रुपये प्रति मास पर हुई। कुछ समय उन्होंने स्टाम्प और रेवेन्यू विभाग, कुछ दिनों सेक्रेटेरियट का काम और कुछ दिनों डिस्पैच की रिपोर्ट लिखने का काम भी किया। इन कार्यों को करते हुए वह शिक्षा-संबंधी कार्यों की ओर आकर्षित हुए, अतः उन्हें बड़ौदा स्टेट कॉलेज में पहले फ्रेंच भाषा का तत्पश्चात् इंगलिश लिटरेचर का लेक्चरर बना दिया गया। बाद में वह कॉलेज के उपाचार्य भी हो गये और भारतीय राजनीतिक इतिहास में लेक्चर देने लगे। इस समय उनका मासिक वेतन साढ़े सात सौ रुपया हो गया था।

बड़ौदा में रहते हुए ही अरविंद का विवाह सन् १९०१ ई० में मृणालिनी नामक एक सुंदर एवं सुशील कन्या से हुआ। ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्ति से पाणिग्रहण होने पर भी मृणालिनी को प्रायः सारा जीवन वियोग में ही व्यतीत करना पड़ा। यद्यपि पति-पत्नी के संबंध अंत तक बड़े ही प्रेमपूर्ण थे, फिर भी अरविंद के साथ रहने का अवसर उन्हें बहुत कम मिला। सन् १९१८ ई० में पांडीचेरी जाते समय कलकत्ते में इंल्फ़ुएंज़ा से मृणालिनी देवी का देहांत हो गया।

राज्य की सेवा करते हुए अरविंद अपने भावी जीवन की तैयारी में दत्तचित्त थे। यहाँ रहकर उन्होंने मराठी, गुजराती, संस्कृत और बंगला आदि भारतीय भाषाओं का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया। इस समय ज्ञान का संचय ही उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य था। उन्होंने भारतीय जीवन के विशाल क्षेत्र, उसकी प्राचीन संस्कृति और उसकी प्रेरणा से घनिष्ठ परिचय प्राप्त किया। भारतीय दर्शन का उन्हें अब तक बड़ा ही सीमित ज्ञान था। अब उन्होंने संस्कृत साहित्य का विस्तृत अध्ययन किया और वेद और गीता के दर्शन में पांडित्य प्राप्त किया और इस प्रकार अपनी अंतरात्मा की खोज आरंभ की। श्री अरविंद ने लगभग १३ वर्षों तक बड़ौदा राज्य की सेवा की। यहाँ के जीवन के अंतिम भाग पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि इस समय इनके भीतर एक तीव्र ज्वाला जल रही थी जिसमें यह अपना सर्वस्व स्वाहा करने की तैयारी कर रहे थे। यह ज्वाला थी भारतमाता को परतंत्रता से मुक्त करने की और ईश्वर का साक्षात्कार करके, तद्रूप होकर उसके दिव्य ज्ञान, दिव्य शक्ति और आनंदरूपी अमृत को मानव-जाति का कल्याण करने के लिए संचार करने की।

सक्रिय राजनीति में

बड़ौदा में रहते हुए ही अरविंद ने राजनीतिक कार्य आरंभ कर दिया था, किंतु राज्य की सेवा में नियुक्त होने के कारण ऐसी स्थिति नहीं थी जिसमें वह स्वतंत्रतापूर्वक कार्य कर सकते। अवकाश मिलने पर वह अपने कुछ साथियों के साथ गुप्त रूप से बंगाल के राजनीतिक आंदोलन की तैयारी करते रहे। सन् १९०५ ई० में जब बंगाल का दो भागों में विभाजन हो गया तब पूरे देश और विशेषतः बंगाल में राजनीतिक

आंदोलन आरंभ हो गया। इसी समय राज्य की सेवा से त्याग-पत्र देकर अरविंद ने सक्रिय राजनीति में प्रवेश किया और बंगाल चले आये। इस समय कलकत्ते में एक राष्ट्रीय कॉलेज की स्थापना हुई जिसके ये आचार्य नियुक्त किये गये। इस कॉलेज द्वारा सारे उत्तर भारत के नवयुवकों को राष्ट्रीयता का मंत्र देकर यह राजनीतिक क्रांति करना चाहते थे। उन्होंने अंग्रेज़ी में 'वंदेमातरम्' और बंगाल में 'युगांतर' नामक पत्रों का प्रकाशन आरंभ किया और स्वयं ही उनका संपादन भी किया। सन् १९०७ ई० में 'वंदेमातरम्' में एक क्रांतिकारी लेख के छापने के अभियोग में श्री अरविंद को जेल जाना पड़ा। जेल जाने के पूर्व वही इन पत्रों की नीति के एकमात्र संचालक रहे। राष्ट्रीयता और नवजागरण के प्रसार में इन पत्रों ने अमूल्य सेवाएँ कीं। सन् १९०८ ई० में माणिकटोला बमकेस में उन पर अभियोग लगाया गया, किंतु वह निर्दोष सिद्ध हुए। सन् १९०८ ई० में उन्हें अलीपुर षडयंत्र केस में पुनः बंदी बना लिया गया। यह मुकदमा एक वर्ष तक चलता रहा, किंतु अंत में वह निर्दोष सिद्ध हुए और ठीक एक वर्ष जेल में विचाराधीन क़ैदी की भाँति रह कर वह बाहर आये।

दैवी संदेश

जीवन में श्री अरविंद को कुछ विचित्र अनुभव हुए। यद्यपि उनकी आध्यात्मिक साधना तो निरंतर चल ही रही थी, किंतु जेल के एकांत जीवन में उन्होंने इधर और प्रगति की। जेल की प्रत्येक वस्तु में उन्हें भगवान कृष्ण का दर्शन होने लगा। एक दिन जब वह ध्यानमग्न थे तब उन्हें संदेश मिला, 'शीघ्र ही जेल से बाहर जाकर तुम्हें देश का उद्धार करना है। देश का उद्धार करने का अभिप्राय है सनातन धर्म का उद्धार।' जेल से निकलने के बाद उनका जीवन पूर्णतया बदल गया। जेल में उन्हें न केवल भगवान् के दर्शन हुए, बल्कि वहाँ रहकर वह एक परिपक्व अविक्षुब्ध राजनीतिक तत्वज्ञानी हो गये। इस समय तक उनका जीवन ईश्वरीय अनुभूति से आप्लावित हो चुका था।

पांडीचेरी की ओर

जेल से बाहर आने के बाद एकमात्र नेता के रूप में एक वर्ष तक वह आंदोलन को पुनरुज्जीवित करने का प्रयास करते रहे। उन्होंने अंग्रेज़ी में 'कर्मयोगी' और बंगला में 'धर्म' नामक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किये, किंतु उनके हृदय में अंतःसंघर्ष जारी था। फलस्वरूप उनके भीतर एक ऐसी प्रेरणा जगी जिसने राजनीतिक क्षेत्र से उन्हें विरक्त कर दिया और वह उस आत्मानुभूति के क्षेत्र में विचरण करने लगे जिसमें चेतना के निम्नस्तरीय मोह से मुक्त होकर नवीन अनुभव प्राप्त होते हैं।

सन् १९०९ ई० में सिस्टर निवेदिता को विश्वस्त सूत्र से ज्ञात हुआ कि अरविंद पुनः गिरफ़्तार होने वाले हैं और इस बार उन्हें देश-निष्कासन का दंड मिलेगा। इस

सूचना के प्राप्त होने पर अरविंद ने देशवासियों के नाम एक खुली चिट्ठी प्रकाशित की जिसे उनका अंतिम राजनीतिक वसीयतनामा कहा जा सकता है और वह राजनीति से संन्यास लेकर फ़रवरी सन् १९१० ई० में गुप्त रूप से चंद्रनगर की फ्रांसीसी बस्ती में चले गये। तदुपरांत वह वहाँ से अप्रैल मास में पांडीचेरी पहुँच गये। पांडीचेरी पहुँच कर अरविंद योग-साधना में तल्लीन हो गये और उन्हें यह अनुभव होने लगा कि यह आध्यात्मिक कार्य बहुत महान् है तथा उसमें उन्हें अपनी सारी शक्ति लगा देनी चाहिए।

साधना-काल

सन् १९१०ई० से सन् १९१४ ई० तक का काल आर्थिक दृष्टि से उनके लिए बड़ा कष्टप्रद रहा, किंतु योगसाधना में वह लीन रहे। पांडीचेरी में सबसे पहले वह श्री शंकर चेट्टी के यहाँ ठहरे। वह चेट्टी के मकान के सबसे ऊपरी भाग में रहते थे और एकांत में साधना करते थे। कुछ समय पश्चात् वह एक किराये के मकान में चले गये और अपने कुछ साथियों के साथ भोजनादि बनाने का सारा कार्य करते हुए साधना करने लगे। सन् १९१४ ई० में उन्होंने 'आर्य' का प्रकाशन आरंभ किया। इसी वर्ष फ्रांसीसी महिला मीरा रीचार्ड उनसे मिलने आयीं और श्री अरविंद के योग से बहुत प्रभावित हुईं। उन्होंने श्री अरविंद की सेवा तथा योग-साधना में अपना जीवन अर्पित कर दिया तथा सन् १९२० ई० से वह पांडीचेरी में ही श्री अरविंद के साथ बस गयीं और आज भी वहाँ का सारा प्रबन्ध वही कर रही हैं। यही मीरा रीचार्ड आगे चल कर माता जी के नाम से प्रसिद्ध हुईं। ज्यों-ज्यों श्री अरविंद की साधना बढ़ती गयी, उनकी ओर लोग आकर्षित होने लगे। साधकों की संख्या बढ़ जाने के कारण पांडीचेरी में एक विशाल आश्रम की स्थापना हो गयी जिसमें देश-विदेश के जिज्ञासु आज भी योग की शिक्षा ग्रहण करते हैं।

सिद्धि-प्राप्ति

निरंतर साधना के कारण श्री अरविंद में दिव्य शक्तियों का जागरण हो गया था। उनकी दीर्घ साधना का फल २४ नवंबर सन् १९२६ ई० को प्राप्त हुआ। इसी दिन उन्हें सिद्धि की प्राप्ति हुई। इस दिन उन्हें यह अनुभव हुआ कि उनका अधिकार उस अनंत ज्ञान और अनंत शक्ति वाले मन या विज्ञान पर है जिसके द्वारा असंख्य जीवों के भूत, भविष्य और वर्त्तमान को, उनकी निरंतर होने वाली आंतरिक बाह्य मानसिक और शारीरिक क्रियाओं को प्रत्यक्ष देखा जा सकता है और उन्हें भगवान का साक्षात्कार कराने, उनके शरीर, मन और प्राण का रूपांतर कराने और उन्हें दिव्य बनाने के लिए उनमें आवश्यक ज्ञान और शक्ति का संचार किया जा सकता है।

इस शक्ति को प्राप्त कर लेने के पश्चात् श्री अरविंद पूर्णतया एकांत जीवन बिताने

लगे और अपना बाह्य संपर्क केवल माताजी के साथ बनाये रखा। उन्होंने वर्ष में चार ऐसी तिथियाँ निश्चित कर दीं जिन पर सर्वसाधारण उनका दर्शन कर सकता था।

महासमाधि

अपने जीवन के अंतिम वर्षों में श्री अरविंद के गुर्दे में रोग हो गया। बहुत दिनों तक उन्होंने उसे नियंत्रित रखा, किंतु अंत में २ दिसम्बर सन् १९५० ई० को उन्होंने इस संसार को त्याग कर दिव्य लोक को प्रस्थान किया। उनकी महासमाधि के अवसर पर डा० राजेंद्र प्रसाद ने इन शब्दों में अपना उद्‌गार प्रगट किया था—"वे प्राचीन ऋषियों की भाँति साहसी और निर्भीक विचारक थे।...... वे जो संदेश छोड़ गये हैं, आध्यात्मिकता की जो सुवास बिखेर गये हैं, वह न केवल देश की आने वाली पीढ़ियों को, वरन् सारे संसार को प्रेरणा देती रहेगी। भारत इनकी स्मृति की पूजा और प्रतिष्ठा करता रहेगा और उन्हें अपने महान् मुनियों और देवदूतों में स्थान देगा।"

जीवन-दर्शन

श्री अरविंद का दर्शन ज्ञेयवादी (Gnostic) है। उन्होंने अपने दर्शन में जीवन की ज्ञेयवादी व्याख्या की है। वह विकास (Evolution) में विश्वास करते हैं और उन्हीं के शब्दों में इस विकास का लक्ष्य है—विश्व में व्याप्त दिव्य-शक्ति का प्रगतिशील बोध। उनका कथन है कि एकता की अंतःप्रेरणा में दर्शन का आदि और अंत निहित है। उनकी सभी रचनाओं में इस अंतः प्रेरणा की छाप है क्योंकि उनके समस्त विचार मौलिक रूप से इसी अंतःप्रेरणा पर आधारित हैं। उनके अनुसार इस संसार के समस्त विकासशील प्राणियों का एक ही प्रयोजन और लक्ष्य है—पूर्ण और अखंड चेतना की उपलब्धि। मनुष्य को व्यक्तिगत और सामूहिक या सामाजिक रूप में इसी पूर्ण और अखंड चेतना की प्राप्ति करनी है। वह यह मानते हैं कि सृष्टि-रचना के पीछे एक प्रयोजन है, इसका एक लक्ष्य है—परम चेतना (Supreme Consciousness) की प्राप्ति। उनके विचार में इसी चेतना के प्रस्फुटित होने को मानसिक विकास कहते हैं। विकास के स्तरों को बताते हुए उन्होंने कहा है कि विकास-क्रम की आरंभिक अवस्था में जड़ पदार्थ से वनस्पति-जगत् के रूप में प्राण का विकास हुआ। इसी विकास के दूसरे स्तर पर प्राण से पशु-मन का विकास हुआ जिसे प्रथम चेतन-चेतना कह सकते हैं। इसी पशु-मन या ऐंद्रिय मानसिकता से मन (Mind proper) अथवा मानव-मन का विकास हुआ। इस मानव-मन का गुण है : विचार करना, तर्क करना। विकास का यह वह स्तर है जहाँ पहुँच कर ऐसी मानव-चेतना का पूर्ण जागरण होता है जो स्वयं अपने विषय में भी विचार करती है।

चेतना के विकास-क्रम की दो विशेषताएँ हैं। प्रथम : पदार्थ, प्राण, मन और बुद्धि—इनका अस्तित्व पृथक्-पृथक् नहीं है, वरन् प्रत्येक अनुवर्त्ती स्तर अपने पूर्ववर्त्ती स्तर से जुड़ा हुआ है। इस विषय में श्री अरविंद का तर्क यह है कि किसी पदार्थ या वस्तु से वही चीज़ उत्पन्न हो सकती है जो पहले से ही उसमें अंतर्निहित हो; केवल अंतर्निहित ही बहिर्मुख हो सकता है। जड़ पदार्थ में से प्राण इसलिए विकसित हुआ क्योंकि वह उसमें पहले से ही अंतर्निहित था; प्राण पदार्थ में प्रच्छन्न रूप में विद्यमान था। इसी प्रकार प्राण से मन का विकास इसलिए हुआ कि वह प्राण में अंतस्थ था; अतः प्राण और मन, दोनों पदार्थ में निहित थे। इसी भाँति, बुद्धि और चेतना (Consciousness Proper) दोनों प्राण मन (Vital mind) में निहित थे और साथ ही पूर्ववर्ती स्तर पदार्थ में भी। अतः चेतना अव्यक्त रूप में प्राण और पदार्थ दोनों में निहित थी। इसलिए इस विकास-क्रम में मौलिक तत्व चेतना है जो विकास के सभी स्तरों को व्यक्त या अव्यक्त रूप में सूत्र-बद्ध किये हुए हैं। पदार्थ चेतना का ही नाम और रूप है जो अचेतन-अवस्था में रहता है। श्री अरविंद का कथन है कि ब्रह्मांड की समग्रयोजना है—इसी चेतना, इसी अंतिम सत्य की प्रगतिशील अभिव्यक्ति करना। श्री अरविंद इस विकास-क्रम को यांत्रिक और स्वचालित नहीं मानते हैं, मनुष्य के विकास-क्रम को तो निश्चय ही नहीं, क्योंकि यह क्रम विकास की प्रक्रिया की सोद्देश्य योजना करता है और उसकी गति को अग्रसर करता है। वह इस विकास-क्रम को चेतना का चेतन-विकास मानते हैं। यद्यपि मनुष्य विकास-मात्रा को व्यक्ति या समष्टि रूप में अग्रसर कर सकता है, तथापि इसे गति-विमुख नहीं कर सकता, पीछे नहीं लौटा सकता क्योंकि चेतना का पूर्ण-विकास या सिद्धि दैवी चेतना द्वारा पूर्वनिर्दिष्ट होती है।

विकास-क्रम की दूसरी विशेषता यह है कि प्रत्येक उच्च स्तर पर पहुँच कर विकसित चेतना, अपने पूर्ववर्ती और अनुवर्ती स्तरों को अपने ढंग से और अपने नियमों के अनुरूप प्रभावित करती है। उदाहरण के रूप में, प्राण और पदार्थ का समवाय रूप प्राणी है। यह पदार्थयुक्त प्राणी पदार्थ से पृथक् या भिन्न रूप में कार्य करता है क्योंकि जड़ पदार्थ की भाँति वह कठोर यांत्रिक नियमों से शासित नहीं होता है। इसी प्रकार मनयुक्त प्राणी केवल प्राणयुक्त चीज़ों और जड़ पदार्थ से भिन्न रूप में कार्य करता है। इसी प्रकार, बुद्धियुक्त मन का विकास हो जाने पर उसका कार्य पूर्ववर्त्ती स्तरों से भिन्न होता है। बुद्धि और तर्कयुक्त मनुष्य अपने भौतिक वातावरण और पाशविक प्रवृत्ति को पुनः नये रूप में ढालने का प्रयत्न करता है। पुनः संगठन की यह प्रक्रिया, विशेषकर मानव-प्रवृत्ति की एक चेतन-आवश्यकता (Conscious Need) होती है जो वनस्पति-जगत् की सहज क्रिया से भिन्न होती है। चेतना के इन तीन स्तरों का मनुष्य ने अपनी चेतना के प्रकाश में, बुद्धि के प्रकाश में वर्गीकरण किया है और क्रम बद्ध बनाया है जिसे हम भौतिक विज्ञान, जीवविज्ञान और मनोविज्ञान के रूप में जानते हैं।

श्री अरविंद के अनुसार विकास की यह प्रक्रिया निरंतर अग्रसर हो रही है और विकास-क्रम में चेतना की एक ऐसी स्थिति का आना अवश्यंभावी है जिसे वह अतिमानसिक स्तर कहते हैं। इस स्तर तक पहुँच जाने पर, पृथ्वी पर एक नवीन चेतना, एक नवीन जाति का उदय होगा। उन्होंने बताया है कि चट्टानों और खनिजों से वनस्पति की उत्पत्ति हुई, वनस्पति से पशु उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार पशु से मानव का विकास हुआ और अब मानव से अतिमानव का विकास होना अनिवार्य है।

श्री अरविंद कहते हैं कि अपनी सीमित बुद्धि और तर्कशक्ति के कारण मनुष्य के लिए उस नवीन चेतना के स्तर की कल्पना करना कठिन है, जैसे वनमानुष के लिए मनुष्य के रूप में अपने भावी विकास की कल्पना करना कठिन रही होगी। जिस प्रकार मानवी चेतना के विकास के इस स्तर पर भी हमें उच्च स्तर के कुछ विशेष संकेत मिलते हैं, उसी प्रकार वनमानुष को भी उस तर्क की झाँकी मिली होगी जिसे मनुष्य की विशेषता मानी जाती है। ये संकेत हमें सहज ज्ञान, अन्तःप्रेरणा और दैवी प्रकाश के रूप में प्राप्त होते हैं। उच्चकोटि के वैज्ञानिक और गणितज्ञ अपने अनुसंधानों और आविष्कारों का श्रेय अपने सहज ज्ञान को ही देते हैं। अंतःप्रेरणा के द्वारा ही कवि और कलाकारों को यथार्थ के सौंदर्य का बोध होता है। प्राचीन या आधुनिक सभी साधु-संतों और रहस्यवादियों को, जो बहुत ही विकसित प्राणी होते हैं, सत्य की प्रत्यक्षानुभूति होती है जिसे दैवी प्रकाश भी कहते हैं। चेतना के ये अतिसामान्य रूप तर्क या मानव-बुद्धि की उपज नहीं हैं। चेतना के अतिसामान्य रूप यदाकदा मानव-चेतना के क्षेत्र में अवतरित होते हैं। इन्हीं के द्वारा चेतना के उच्चतम और श्रेष्ठतम स्वरूप का आभास मिलता है। जिस प्रकार तर्क और युक्ति मानव मन की विशेषताएँ हैं उसी प्रकार सहज ज्ञान, अंतःप्रेरणा और दैवी प्रकाश अतिमानव की विशेषताएँ हैं।

चेतना की इस अतिसामान्य स्थिति को प्राप्त करना मानव-चेतना के लिए दुर्लभ है। यह हमारी इच्छा-शक्ति के परे है। अतिमानसिक चेतना केवल अतिमानव के ही सहज, पूर्ण और शाश्वत अधिकार की वस्तु है, किंतु फिर भी यदि मनुष्य अपनी वर्त्तमान चेतना को और अधिक श्रेष्ठ, विकसित और अतिचैतन्य बनाए तो अतिमानव को जन्म देने में समर्थ हो सकेगा। पूर्ववर्त्ती स्तरों पर विकास की प्रक्रिया अपनी प्राकृतिक एवं स्वाभाविक गति के अनुसार धीरे-धीरे होती है, किंतु अब मानव-चेतना के स्तर पर यदि मनुष्य चाहे तो अपने विचार एवं चेतनप्रयास द्वारा, अपनी सुव्यवस्थित, प्रबल एवं प्रयत्ननिष्ठ इच्छाशक्ति द्वारा अतिमानस के स्तर पर शीघ्र ही पहुँच सकता है। अचेतन और चेतन विकास-क्रम में यही अंतर है कि अचेतन स्तर पर विकास करने में शताब्दियों एवं अगणित जन्म लग जाते हैं, किंतु चेतन-विकास द्वारा मनुष्य समय और काल की दूरी का अतिक्रमण करके, शीघ्र ही, गतिपूर्वक उच्चतम विकास प्राप्त कर सकता है।

इस अतिमानसिक स्तर को प्राप्त कर लेने पर अज्ञान का नाश हो जाता है और

फिर प्रकाश ही प्रकाश, ज्ञान ही ज्ञान रहता है। मानसिक क्षेत्र की उच्चतम ऊँचाई पर पहुँच कर भी प्रकाश और अन्धकार, ज्ञान और अज्ञान दोनों मिले-जुले रूप में ही रहते हैं। इस स्तर पर भी संदेह, द्वैतभाव और अनिश्चय के तत्व वर्त्तमान रहते हैं। इस स्तर पर मनुष्य अंधकार से कम अंधकार की ओर अग्रसर होता है। दूसरे शब्दों में, उसका प्रत्यक्षीकरण आंशिक होता हैं। किंतु अतिमानसिक स्तर पर पहुँच जाने पर मनुष्य प्रकाश से अधिक प्रकाश, ज्ञान से अधिक ज्ञान की ओर अग्रसर होता है। अतिमानस के स्तर पर पहुँच कर मानसिक चेतना के सभी भेद, द्वैतभाव, अज्ञान, शंका, संदेह और आंशिक प्रत्यक्षीकरण का नाश हो जाता है।

श्री अरविंद के विचार में यह संभव नहीं है कि मनुष्य एक ही छलांग में अतिमानस के उच्च स्तर पर पहुँच सके। अतः मानसिक स्तर से अतिमानस तक पहुँचने के लिए उन्होंने दो और स्तरों को बात की है—उपरिमन तथा दिव्यमन। मानसिक स्तर अज्ञान और अन्धकार का स्तर है और अतिमानसिक स्तर पूर्ण प्रकाश और ज्ञान का स्तर है। इन दोनों के संधि-स्थल पर गोधूली की भाँति अंधकार और प्रकाश मिले-जुले होते हैं। इस स्थल के पार अतिमानस की सीमा में उपरिमन और दिव्यमन की स्थिति है। अतिमानस विकास की वह अवस्था है जहाँ प्रत्यक्ष, निश्चित एवं पूर्ण ज्ञान का जाज्वल्यमान प्रकाश है। यह ज्ञान की वह अवस्था है जिसमें विषयी और विषय में कोई भेद नहीं रह जाता। यही आत्म-ज्ञान की अवस्था है। मानसिक स्तर पर सत्य की उपलब्धि के लिए इच्छा-शक्ति को प्रयत्न, संघर्ष और श्रम करना पड़ता है, किंतु इस स्तर पर पहुँच कर वह चेतना की आत्मशक्ति के सहज प्रकाशन के रूप में व्यक्त होने लगती है। यहाँ इच्छा करते ही सत्य की उपलब्धि हो जाती है क्योंकि इस स्तर पर ज्ञान और इच्छा में अभेद होता है। इस अतिमानसिक स्तर पर पहुँच जाने पर अभूतपूर्व शांति का अनुभव होता है, आनंद द्वारा सृष्टि का रहस्य स्पष्ट हो जाता है तथा हर्षातिरेक की इस स्थिति में सत्ता की सत्यता का बोध हो जाता है।

श्री अरविंद का विचार है कि यह अवस्था मौलिक रूप में वेदांतिक विचारधारा के सत्, चित्, आनंद का ही स्वरूप है। यहाँ केवल सत्, चित्, आनंद का एकीकरण कर दिया गया है। सांसारिक जीवन और अस्तित्व का आधार यही एकीकृत चेतना है। यह एकीकृत चेतना अपने श्रेष्ठ नियमों के अनुकूल सांसारिक जीवन और अस्तित्व के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति करती है। श्री अरविंद की भविष्यवाणी है कि उच्च आध्यात्मिक स्थिति आ रही है और उसका आना निश्चित है। उसका आगमन अतीत में किए गए सभी मानव प्रयत्नों की चरम परिणति का सूचक होगा।

पाप की समस्या

मानव की सभी समस्याओं में सबसे जटिल समस्या पाप की है—वैयक्तिक और

सामाजिक दोनों क्षेत्रों में। इसकी मूल प्रकृति, कारण तथा निदान के विषय में श्री अरविंद का कथन है कि सामान्य रूप से इस प्रश्न को निराश होकर छोड़ दिया जाता है, प्रायः यह भी बलपूर्वक कहा जाता है कि मनुष्य के आदिम स्वभाव में पाप, अज्ञान और अविवेक निहित हैं और इनका उन्मूलन असाध्य है, केवल मूलप्रवृत्यात्मक स्तर पर व्यक्ति के जीवन में और विशेषकर सामाजिक जीवन में थोड़ा सुधार हो सकता है। अनेक सुधारकों, आदर्शवादियों और परमज्ञानियों ने भी इस समस्या को सुलझाने की चेष्टा की है और कुछ लोगों ने तो इसे समूल नष्ट करने की चर्चा भी की है, परंतु भूत और वर्त्तमान के तमाम प्रयत्नों की अपेक्षा भी यह समस्या पूर्ववत् विद्यमान है। श्री अरविंद के विचार में इस पाप का उन्मूलन अतिमानस के स्तर पर अतिमानव द्वारा ही हो सकता है। शुभ और मंगल सदैव से ही इस समस्या का समाधान रहा है और आज भी है, किंतु श्री अरविंद का कथन है कि यह शुभ या मंगल चेतना के उसी निम्न स्तर का भागी है जिसका कि पाप। श्रेष्ठ आध्यात्मिक मानवी स्तर वाले प्राणी के भरपूर प्रयत्न द्वारा भी इसे दूर नहीं किया जा सकता है। इसका उन्मूलन अतिमानसिक रूपांतर द्वारा ही संभव है। पाप के उन्मूलन के संबंध में अब तक जो प्रयास हुए हैं, श्री अरविंद कहते हैं, कि वे व्यर्थ नहीं जायँगे। वे मनुष्य के जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में, विभिन्न स्तरों पर की गई तैयारियों के रूप में हैं।

श्री अरविंद कहते हैं कि यदि हम अपने देश में पाप की समस्या पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि इस संबंध में हमारे यहाँ जो प्रारंभ में दृष्टिकोण था वह आज पूर्णतया बदल गया है। सर्वप्रथम, हम उपनिषदों में पाप की समस्या पर जिस दृष्टिकोण से विचार किया गया है उसे देखें। उपनिषदों के अनुसार पाप की भावना तभी तक विद्यमान रहती है जब तक कि व्यक्ति की चेतना पर अज्ञान का आवरण पड़ा रहता है। ज्यों ही यह आवरण हट जाता है त्यों ही पाप लुप्त हो जाता है। जब तक इस विचारधारा का प्राधान्य था तब तक पाप की समस्या को सार्वभौमिक स्थिति नहीं प्राप्त थी क्योंकि यह माना जाता था कि पाप व्यक्तिगत चेतना में अज्ञान के कारण उत्पन्न होता है। फलतः यह समझा जाता था कि व्यक्ति में सत्य ज्ञान के उत्पन्न होते ही यह उसी प्रकार नष्ट हो जायेगा जिस प्रकार सूर्य के उदय होने से ओस की बूँदें समाप्त हो जाती हैं। इस दृष्टिकोण से पाप की समस्या मुख्यतः एक व्यावहारिक समस्या भी थी; यह केवल व्यक्ति के प्रशिक्षण की समस्या थी जिससे कि वह सत्य ज्ञान की उपलब्धि करने में समर्थ हो सके। यह प्रशिक्षण 'योग' के साथ घनिष्ठ रूप से संबद्ध था अथवा 'पाप' की समस्या का समाधान 'योग' में निहित था। उपनिषदों में भी हमें सार्वभौमिक मुक्ति अर्थात् समस्त सांसारिक प्राणियों की पाप से मुक्ति का संकेत मिलता है। उपनिषद् के इस दृष्टिकोण से, श्री अरविंद कहते हैं कि संसार के मिथ्यात्व का संकेत नहीं मिलता। इसके प्रतिकूल, यह कहा जा सकता है कि उपनिषदों की धारणा संसार को अवास्तविक मानने के विरुद्ध

है। उपनिषदों में, संसार में ईश्वर के सर्वान्तिर्यामी होने के विचार पर विशेष रूप से बल दिया गया है और यह विचार प्रत्यक्षतः शंकराचार्य के मायावाद के सिद्धांत के विरुद्ध है जो संसार को मिथ्या मानता है। अतः परवर्ती युग में, श्री अरविंद कहते हैं, पाप के स्वरूप-संबंधी विचारों में परिवर्तन होने के कारण संसार को मिथ्या माना जाने लगा। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि लोग 'पलायनवाद के सिद्धांत' में विश्वास करने लगे। संसार क्योंकि मिथ्या है, अतः हमें संसार से पलायन करना चाहिए। उपनिषदों का कहना है कि हमें विषयों से बचना चाहिए और उनका यह कथन इस तथ्य से सर्वथा भिन्न है कि हमें संसार से पलायन करना चाहिए।

पाप की समस्या के संबंध में एक दूसरा 'अतिवादी' दृष्टिकोण भी है। इसके अनुसार पाप संसार की स्थायी विशेषता है। पश्चिम के लोग इसी दृष्टिकोण के पक्षपाती हैं, किंतु श्री अरविंद इसका भी समर्थन नहीं करते हैं। अतिवादी दृष्टिकोण की मान्यता है कि पाप भी उतना ही सत्य है जितना पुण्य। पाप की समस्या, इस संसार में, पाप और पुण्य के सह अस्तित्व की समस्या है। सामान्यतः पुण्य की स्थिति ऊँची मानी जाती है और समझा जाता है कि ईश्वर उसके साथ एकात्म हैं। जो कुछ भी हो, इससे समस्या और असाध्य हो जाती है क्योंकि पुण्य के साथ एकात्म ईश्वर पाप के बने रहने को कैसे सहन कर सकता है जो उसकी प्रकृति के प्रत्यक्ष विपरीत पड़ता है। अतः यह समस्या पाश्चात्य दार्शनिकों के समक्ष अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न कर देती है। श्री अरविंद इस पाश्चात्य दृष्टिकोण से सहमत नहीं कि संसार आज बुरा है और यह सदैव बुरा बना रहेगा।

श्री अरविंद का कथन है कि यदि पाप की समस्या को संसार की स्थायी एवं असाध्य समस्या नहीं बना रहना है तो यह अनिवार्य है कि हम पुराने दृष्टिकोण को त्याग दें—चाहे वह प्राच्य दृष्टिकोण हो अथवा पाश्चात्य और इस समस्या पर नये ढंग से विचार करें। स्वयं हमारे प्राचीन दृष्टिकोण में यह दोष है कि वह पाप की समस्या को गंभीर रूप में ग्रहण नहीं करता है। इस समस्या के उद्गम और निराकरण दोनों को समझने के लिए हमें 'विकास के आध्यात्मिक सिद्धांत' को, जो सृष्टि का केन्द्रीय सत्य है, पूर्ण रूप से जानना होगा। 'विकास-क्रम' वास्तव में सृष्टिक्रम से उल्टी क्रिया है। जिस प्रकार सृष्टि, पदार्थ, जीवन और मन में आत्मा की अंतर्निहिति है उसी प्रकार विकास पदार्थ, जीवन और मन से अपनी वास्तविक प्रकृति में आत्मा का पुनरावर्त्तन है। विकास के इस सामान्य स्वभाव से यह स्पष्ट है कि यह विकास तब तक नहीं रुकेगा, जब तक कि संपूर्ण जगत् पूर्ण आत्मा या सच्चिदानन्द की स्थिति को प्राप्त नहीं कर लेता है। इसलिए विकास की बात करना और पाप की शाश्वत सत्ता पर ज़ोर देना, दोनों परस्पर विरोधी बातें हैं। यदि विकास एक तथ्य है तो पाप कभी भी संसार की एक स्थायी विशिष्टता नहीं बन सकता। विकास के एक निश्चित स्तर पर पहुँच कर और एक निश्चित

दशा में पाप का उदय और प्रसार संसार में होता है और जब वे दशायें नहीं रहतीं तब उसका नाश हो जाता है। अतः पाप संसार की अस्थायी एवं आकस्मिक विशिष्टता है। संसार अपने आप में पापमय नहीं है, आरंभ में भी संसार पापपूर्ण नहीं था क्योंकि उस समय संसार अचेतनता के अंधकार से आच्छादित था और इस दशा में पाप और पुण्य का कोई भेद ही नहीं किया जा सकता था। विश्व के विकास के मध्यवर्ती स्तर पर पाप की संभावना रहती है। पाप का अस्तित्व केवल जीवन और मानसिक स्तर पर ही रहता है। उच्चतर स्तरों पर उसका लोप हो जाता है।

पाप के इस प्रकार के उद्भव को समझने के लिए हमें उस स्थिति का चित्र अपने सामने रखना होगा जब विकास-क्रम में पदार्थ से प्राण का स्फुरण होता है। इस स्तर पर प्राण चारों ओर से भौतिक शक्तियों से घिरा रहता है और अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए विरोधी शक्तियों के विरुद्ध अपने को प्रबल रूप में प्रदर्शित करने के लिए बाध्य होता है। इस प्रकार तब सर्वप्रथम प्राण या जीवन में अपने को उत्तेजक रूप में उपस्थित करने की शक्ति उत्पन्न होती है जिसे 'अहंकार' कहते हैं। अतः 'अहंकार' का उदय उस आवश्यकता के कारण होता है जिसका अनुभव 'जीवन' या प्राण असहिष्णु प्रकृति के विरुद्ध अपनी रक्षा के लिए करता है। चेतना के अधिक विकसित रूप के उदय होते ही 'अहंकार' और भी शक्तिशाली एवं सुरक्षित रूप में विकसित होता है क्योंकि प्राण-स्तर पर अहंकार के साथ मानसिक अहंकार का संपर्क हो जाता है। यही 'अहंकार' पाप के उदय का मूल है। पाप के उदय होने की इस प्रक्रिया से यह स्पष्ट है कि पाप उस समय उत्पन्न नहीं हो सकता जब विकास-क्रम विशुद्धतः भौतिक स्तर पर होता है क्योंकि उस स्तर पर अचेतनता के अंधकार में आत्म-संज्ञा (Self-awareness) नहीं होती और आत्माग्रह (Self assertiveness) नहीं के बराबर होता है। पाप के उत्पन्न होने के लिए यह आवश्यक है कि विकास-क्रम प्राण-स्तर पर पहुँचा हुआ हो। कारण, इसी स्तर पर पहुँचकर आत्म-प्रदर्शन एवं अहंकार का विकास होता है।

सामान्यतः पाप के उदय होने का यही ढंग है। किंतु इसके अतिरिक्त दूसरा भी मार्ग है जिसके द्वारा पाप संसार में प्रवेश करता है। श्री अरविंद के अनुसार अति-भौतिक सत्ताएँ होती हैं जिनमें ऐसी शक्तियाँ हैं जिनका मूल अज्ञान में होता है और जो अपनी शक्ति का उपयोग करती हैं। ये अतिभौतिक सत्ताएँ भौतिक प्राणियों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए सत्य, प्रकाश और पुण्य की वृद्धि को रोकती हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि ये दैवी चेतना और दैवी अस्तित्व की ओर जाने वाली मानव-प्रकृति के प्रयास में बाधा डालती हैं। इन्हीं अतिभौतिक सत्ताओं का वर्णन पुराने समय के धर्म, गाथा आदि में चला आ रहा है और सभी प्रकार के रहस्यात्मक ज्ञान में जिनकी स्थिति है। अतिभौतिक जगत् में यक्ष, राक्षस, पिशाच आदि रहते हैं जिनका वर्णन प्राचीन धर्मों में पाया जाता है। यद्यपि अंधकार का प्रतिनिधित्व करने वाली ये

शक्तियाँ बड़ी शक्तिशालिनी होती हैं, तथापि उनके अस्तित्व को विश्व की स्थायी विशेषता नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पाप ने जिस भी द्वार से संसार में प्रवेश किया हो, यह संसार में स्थायी रूप से ठहर नहीं सकता। इसका अस्तित्व तभी तक रहता है जब तक विकास-क्रम प्राण और मानसिक स्तर पर होता है, किंतु उच्च स्तर का विकास होते ही यह लुप्त हो जाता है।

प्रश्न यह उठता है कि संसार पाप से मुक्त कैसे हो? इस समस्या का समाधान संसार के तात्त्विक रूपांतर में प्राप्त किया जा सकता है, केवल व्यक्ति की चेतना में ज्ञान के प्रवेश से नहीं। यह स्मरण रखना चाहिए कि हमारी समस्या सार्वभौमिक है, व्यक्तिगत नहीं। यदि कुछ व्यक्ति व्यक्तिगत आधार पर पाप से मुक्ति प्राप्त भी कर लें तो भी हमारी समस्या जहाँ की तहाँ रह जाती है। श्री अरविंद संसार के उस तात्त्विक परिवर्तन की कल्पना करते हैं जिसके आधार पर संसार पाप के दुःस्वप्न से पूर्णतया मुक्त हो जायेगा।

यह तात्त्विक परिवर्तन किस प्रकार किया जाय? हम पहले ही देख चुके हैं कि विकास अचेतन रूप से मंदगति से बराबर हो रहा है, पर इस मंदगति से होने वाले परिवर्तन में अधिक समय लगेगा। यदि हम शीघ्र ही तात्त्विक परिवर्तन चाहते हैं तो विकास की निरंतर होने वाली प्रक्रिया को किसी दूसरी पूरक वस्तु द्वारा तीव्र करना होगा। यह दूसरी वस्तु है 'दैवी अनुकंपा' या दैवी प्रकाश का अधिक-से-अधिक मात्रा में अवतरण। 'दैवी अनुकंपा' तात्त्विक परिवर्तन की अनिवार्य मान्यता है और केवल यही संसार को पाप से मुक्त कर सकती है। किंतु यदि ईश्वरीय अनुकंपा संसार की प्रकृति में तात्त्विक परिवर्तन का प्रधान माध्यम है तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मनुष्य के प्रयास की उपेक्षा की जाय। इसके विपरीत दैवी अनुकंपा को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को अपने को उपयुक्त एवं सुपात्र बनाना होगा। जब तक मनुष्य सुपात्र नहीं होता, उसमें 'दैवी अनुकंपा' को पाने की तीव्र प्रेरणा नहीं होती, तब तक अनुकंपा का अवतरण नहीं होता है। मनुष्य, योग-पद्धति द्वारा, 'दैवी अनुकंपा' के अवतरण के समय, उसे ग्रहण करने के लिए अपने को योग्य अथवा उपयुक्त बना सकता है।

यहाँ यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि उपयुक्तता के विषय में श्री अरविंद और परंपरागत विचारों में भेद है। उपयुक्तता से श्री अरविंद का वह तात्पर्य नहीं है जो परंपरागत विचारधारा में है, अर्थात् शरीर, जीवन और मन से पूर्ण तटस्थता (Detachment)। ऐसी तटस्थता मनुष्य को दैवी प्रकाश को ग्रहण करने के बजाय अनुपयुक्त बनाती है। दैवी प्रकाश ग्रहण करने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपनी पूर्णसत्ता (अर्थात् शरीर, जीवन और मन) के साथ ग्रहणशील बने। यदि दैवी प्रकाश व्यक्ति के जीवन के एक ही अंश को उद्भासित करता है तो व्यक्ति उसे अक्षुण्ण नहीं रख सकेगा और वह अपनी पूर्वावस्था में पुनः पहुँच जायगा। इसके अतिरिक्त उपयुक्तता का अर्थ है कि व्यक्ति संसार

को उच्चतर स्थिति तक उठने में सहायता करेगा। परंतु शरीर, जीवन और मन से तटस्थ व्यक्ति, इसके विपरीत अपने को संसार से पूर्णतया पृथक् कर लेगा जो अध्यात्म विरोधी कार्य है क्योंकि आध्यात्मिकता का तात्पर्य है संपूर्ण विश्व के साथ एकात्म का स्थापन। जो भी हो, दैवी अनुकंपा और आत्म-प्रयास को एक दूसरे का विरोधी समझना भूल होगी। वे दोनों परस्पर विरोधी न होकर एक ही सत्ता के दो पहलू हैं। इन दोनों को विकास-क्रम में पग-पग चलना है।

श्री अरविंद : अतिमानव के देवदूत

श्री अरविंद के विचार में अतिमानस का अविर्भाव (Emergence) विकास की अनिवार्यता है। इसी के परिणामस्वरूप अतिमानव का उदय होना भी अनिवार्य है क्योंकि अतिमानव में ही अतिमानस का अवतरण होता है। यहाँ यह स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है कि अतिमानव और अवतार दोनों एक ही नहीं हैं। इस संसार में अवतार का जन्म एक विशेष मन्तव्य से होता है। ईश्वर उसे एक विशेष उद्देश्य से भेजता है और वह उस उद्देश्य को कार्यान्वित करने के लिए संसार में आता है और कार्य समाप्त होते ही वह संसार से विकास की प्रगति को वैसे ही छोड़कर चला जाता है। वह विश्व की प्रवृत्ति में कोई तात्विक परिवर्त्तन नहीं करता, वह तो विकास के मार्ग की महान् बाधाओं को दूर कर विकास के मार्ग को प्रशस्त बनाता है ताकि वह अपनी मंथरगति से अग्रसर हो सके। यह सत्य है कि अवतार मनुष्य-शरीर में जन्म लेता है, किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह संपूर्ण मानव जाति को दिव्यता प्रदान करता है। मनुष्य के शरीर में अवतार के आगमन से यह भी सिद्ध हो जाता है कि मनुष्य का शरीर दिव्यसारतत्व (Divine Essence) अपने भीतर रख सकने में सर्वाधिक समर्थ है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मनुष्य में दिव्य बनने की क्षमता है। इसके अतिरिक्त अतिमानव संसार में किसी विशेष उद्देश्य से नहीं आता और न उस उद्देश्य के पूरा होते ही चला जाता है। वह विश्व में स्थायी रूप से निवास करने के लिए आता है और अपने उच्च कार्यों से विश्व को ऊँचा उठाता है। वह एक व्यक्ति के रूप में नहीं आता, वरन् एक उच्च जाति के प्राणियों के सदस्य के रूप में आता है। जब विश्व का विकास उस स्तर पर पहुँच जाता है कि अतिमानव का आविर्भाव हो तब अतिमानव एक व्यक्ति के रूप में नहीं, वरन् अतिमानवों की एक जाति के रूप में आता है।

अतिमानव पवित्र होते हुए भी ईश्वर के समरूप (Identical) नहीं होता और न उसके आविर्भाव के साथ ही विकास का क्रम रुक जाता है। हाँ, इस क्रम में एक तात्विक परिवर्तन अवश्य होता है—अतिमानव के अवतरण के पूर्व यह विकास अज्ञान के द्वारा होता है पर उसके अवतरण के पश्चात् सर्वप्रथम विकास ज्ञान के द्वारा होता है। किन्तु ज्ञान की भी कई कोटियाँ होती हैं, अतः विकास-क्रम तब तक ऊर्ध्वगामी बना रहता है

जब तक कि सच्चिदानंद का आविर्भाव नहीं होता जो सत्, चित् और आनंदस्वरूप है।

यह स्मरण रखना बहुत ही आवश्यक है कि अतिमानव के विकास का यह सिद्धांत मानवतावाद के सिद्धांत से बहुत भिन्न है। मानवतावाद मानव और उसकी समस्याओं मात्र को ही दर्शन का विषय मानता है। वह प्रत्येक तथ्य को, मानव की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि क्षेत्रों की विभिन्न वर्त्तमान आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर, मानव-दृष्टिकोण से आँकता है। वह उप-मानव (Sub-human) तथा अतिमानव-जगत् के संबंध में बिल्कुल विचार नहीं करता। श्री अरविंद के विचार में यह एक अपूर्ण विचारधारा है। मानव और उसकी समस्याएँ विकास-क्रम के एक स्तर से ही संबंधित हैं, अतः उन्हें इतना महत्त्व नहीं दिया जा सकता कि वे अन्य समस्याओं को ढँक लें। मानवतावादी केवल नैतिक जगत् में ही रहते हैं। नैतिकता अकेली हमें वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति नहीं करा सकती।

अतिमानव के विकास का दर्शन इससे भिन्न है। यह संपूर्ण विश्व पर विचार करता है, केवल मानव और उसकी समस्यायों पर ही नहीं जो कि संपूर्ण विश्व का एक अंग मात्र है। हाँ, इसका आग्रह इस बात पर है कि मनुष्य ने अपनी उस क्षमता को प्रदर्शित किया है जिससे स्पष्ट है कि वह मनुष्य से ऊँचा उठ सकता है। श्री अरविंद का विश्वास है कि जब 'उच्चतर प्रकाश' का अवतरण होगा और वह प्रकाश संपूर्ण विश्व को और भी अधिक उदात्त, श्रेष्ठ एवं पवित्र रूप में रूपांतरित कर देगा, तब उस प्रकाश का अवतरण मनुष्य की चेतना में होगा। इस अवतरण का परिणाम होगा मनुष्य का अतिमानव के रूप में परिवर्त्तन और साथ ही उसकी प्रकृति का पराप्रकृति के रूप में रूपांतर। अतिमानव और उसकी पराप्रकृति के इसी दृष्टिकोण से ही श्री अरविंद विश्व के संबंध में विचार करने का प्रयत्न करते हैं। इस दृष्टिकोण से मनुष्य की आवश्यकताओं और समस्याओं का विशेष महत्त्व नहीं है और वे विशाल समस्याओं में अंतर्लीन हो गयी हैं।

श्री अरविंद द्वारा प्रतिपादित विकास के स्वरूप की विशेषता यह है कि उसमें मनुष्य के लिए अपनी सत्य स्थिति—दैवी स्थिति तक पहुँचने का विधान है। यह विचित्र बात है कि मनुष्य की दिव्यता के संबंध में अपने सिद्धांतों का दम भरने वाले पश्चिमी दार्शनिक नैतिक स्तर की अपेक्षा मनुष्य को और ऊँची स्थिति प्रदान न कर सके। उनकी असफलता का कारण है, उनके विकास का दोषपूर्ण सिद्धांत। वे या तो विकास को यांत्रिक रूप में ग्रहण करते हैं जहाँ मनुष्य की दिव्यता की कोई बात नहीं हो सकती है, या जब वे इसे आध्यात्मिक रूप में देखते हैं तब वे आध्यात्मिकता को भौतिकता से पूर्णतया पृथक् कर देते हैं। इसी कारण से पश्चिम का आध्यात्मिक दृष्टिकोण मनुष्य को मध्य आकाश में लटकता हुआ छोड़ देता है। वह भौतिक संसार से तो पृथक् हो ही जाता है, साथ ही दिव्यता से भी अलग रह जाता है।†

श्री अरविंद का दर्शन बड़े स्पष्ट रूप से पदार्थ (Matter) और आत्मा (Spirit)

---

† S. K. Maitra : 'Studies in Sri Aurobindo's Philosophy,' pp. 158, 159

में समन्वय स्थापित करता है, सार्वभौम चेतना में दोनों की वास्तविकता को स्वीकार करता है। वह कहते हैं कि हमें सत् (Being) को प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि हम उसमें निवास करते हैं। यह सत् ही सभी विश्व-क्रिया (Cosmic activity) का आधार है। परंतु सत् स्वयं असत् (Non-being) से उत्पन्न हुआ है। असत् ही सत् को स्थान देता है, अतः सत्ता (Reality) शाश्वत् शान्ति और शाश्वत् क्रिया है जो उसी के अस्तित्व के दो पहलू हैं। यदि शाश्वत् सत्य है तो शाश्वत् असत्य भी है। यदि संसार स्वप्न या भ्रम है और ब्रह्म सत्य है तो यह स्वप्न सत्ता में ही विद्यमान है, उससे बाहर नहीं और जिस सामग्री से उसकी रचना हुई है वह वही परमसत्ता है। इस प्रकार यह संसार उतना ही वास्तविक है जितना ब्रह्म। यदि यह संसार वैसा ही भ्रम है जैसे रज्जु में सर्प का भ्रम तो हम तर्क कर सकते हैं कि यह भ्रम इसलिए वास्तविक है क्योंकि रज्जु और सर्प दोनों का वास्तविक अस्तित्व है। यह भ्रम इसलिए संभव है क्योंकि भ्रम होने से पूर्व सर्प किसी समय किसी स्थान पर वास्तविक रूप में था। इसी प्रकार यदि संसार भ्रम है तो इस रूप में भ्रम होने से पूर्व उसका वास्तविक अस्तित्व किसी अन्य रूप में रहा होगा। अतः असत् (Non-being) और विश्व एक ही शाश्वत् सत्ता की दो विभिन्न स्थितियाँ हैं। भौतिकवाद और आदर्शवाद एक ही सत्ता के दोनों छोरों पर हैं। विश्व में इस सत्ता की उच्चतम अभिव्यक्ति केवल उसके चित् पक्ष का प्रदर्शन नहीं करती वरन् परम बुद्धि, शक्ति और आनंद का भी। ब्रह्म ने यदि रूप ग्रहण किया है, पदार्थ-तत्व में अपने को प्रदर्शित किया है तो केवल आत्माभिव्यक्ति का आनंद लेने के लिए। यह सृष्टिक्रम दिव्य इच्छाशक्ति के कारण ही निरंतर गतिशील है। अतः श्री अरविंद का कथन है कि शंकराचार्य ने यह तो ठीक कहा कि ब्रह्म परम मुक्ति (Absolute Freedom) एवं शाश्वतः स्वयं-पूर्ण (Eternally elf-sufficient) है परंतु उन्होंने ब्रह्म के एक ही पक्ष पर बल देकर उसके अस्तित्व को एक ही पक्ष तक सीमित कर दिया है। ब्रह्म में एक साथ ही निराकार और अनादि रूपों की सृष्टि करने तथा पूर्ण प्रशांत रहने एवं गत्यात्मक होने की क्षमता है।

श्री अरविंद स्वीकार करते हैं कि संसार अपने वर्त्तमान रूप में, पूर्ण रूप से अपूर्णताओं से भरा हुआ है। यहाँ जीवन-मरण, ज्ञान-अज्ञान, सद्गुण और अवगुण का द्वंद्व है किंतु सच्चिदानंद इन द्वन्द्वों में भी विद्यमान है। वह इनके माध्यम से भी अपने को व्यक्त करता है। जन्म-मरण ब्रह्म की अमरता की सीमित अभिव्यक्ति हैं; सुख-दुःख उसके असीम आनंद के धूमिल प्रतिबिम्ब हैं और सद्गुण और अवगुण उसकी पूर्णता के आंशिक प्रदर्शन हैं। इस विश्वप्रक्रिया को नियंत्रित करने वाला रहस्यमय उद्देश्य (Secret Purpose) है इन द्वन्द्वों को उनके परम साररूप में रूपांतरित करना; पदार्थ, प्राण और मन के जगत में सत्य और अमरता का शासन स्थापित करना।

श्री अरविंद का विश्वास है कि शरीर, प्राण और मन को उनकी वर्त्तमान अशुद्धियों से शुद्ध और मुक्त किया जा सकता है और वे सच्चिदानंद की अभिव्यक्ति के पूर्ण माध्यम बन सकते हैं। ऐसा इसलिए संभव है कि भौतिक शरीर सच्चिदानंद के विशुद्ध अस्तित्व का सबसे निम्न स्तर है; प्राण उसकी असीम शक्ति या चेतन शक्ति की अभिव्यक्ति है और मन उसकी व्यापक सत्य चेतना की। अतः यह विश्व ब्रह्म से उत्पन्न है, उसका आवास है और निरंतर उसके ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार श्री अरविंद ने आदर्शवाद और भौतिकवाद, आत्मा और पदार्थ की विरुद्धता में उस चेतना के द्वारा समन्वय स्थापित किया है जो कि विश्व का केन्द्रीय और शाश्वत् सत्य है।

भौतिकवाद के समर्थक दार्शनिकों से श्री अरविंद प्रश्न करते हैं कि सत्, पदार्थ में कैसे रूपांतरित हो जाता है? दूसरे शब्दों में, चेतना पदार्थ में कैसे रूपांतरित हो जाती है? वह स्वयं ही उत्तर देते हैं कि इस पदार्थ स्तर पर, चेतना अपने कार्य में, स्वयं को भूल गयी है; जैसे, कोई मनुष्य जब काम में बहुत व्यस्त हो जाता है तब अपनी सुध-बुध खो बैठता है और उस क्षण केवल कार्य तथा कार्य करनेवाली शक्तिमात्र रह जाता है। इसी प्रकार जब पदार्थ में चेतना विकसित होती है तब वह उसी में अपने को भूल जाती है और फिर धीरे-धीरे इस दीर्घकालीन आत्म-विस्मृति से, इस पूर्वचेतन स्तर (Pre-sentient stage) से, अर्धचेतन की ओर बढ़ती हुई, अंत में संघर्ष करती हुई फिर आत्म-चेतन, स्वतन्त्र, असीम, और अमर होना चाहती है। मन और पदार्थ इसी चेतना शक्ति के विभिन्न स्तर हैं। मान लीजिए कि यदि हम यही स्वीकार करते हैं कि चेतना का विकास पदार्थ से हुआ है, फिर भी चीज़ तो वही विकसित होगी जो पहले से उसमें अंतर्निहित थी। वास्तविकता यह है कि प्राण, मन आदि स्तरों पर चेतना का रूप परिवर्तित हो जाता है। सबसे उच्च स्तर पर यह चेतना अस्तित्व की आत्म-चेतन-शक्ति है।

श्री अरविंद का कथन है, जो कुछ भी हो, विभिन्न रूपों में भी चेतना का सिद्धांत वही रहता है। यह चित्त ही है जो शक्ति के रूप में विश्व की सृष्टि करता है। यहाँ हम उसी 'एकता' पर पहुँचते हैं जहाँ भौतिकवादी विज्ञान अपने दृष्टिकोण से पहुँचता है अर्थात् मन पदार्थ से भिन्न अन्य कोई शक्ति नहीं है; मन केवल भौतिक शक्ति का ही विकास और परिणाम है। श्री अरविंद ने पदार्थ और मन को एक ही शक्ति के विभिन्न स्तर बताकर, प्राचीन भारत के औपनिषद-दर्शन की बहुत ही युक्ति-युक्त व्याख्या की है। वह न तो शंकर के निवृत्तिवादी दृष्टिकोण (Ascetic View-point) का समर्थन करते हैं और न घोर भौतिकवाद का। उनका दर्शन पदार्थ और चेतना दोनों का समर्थन करता है और दिव्य जीवन के समन्वय की प्राप्ति में दोनों को स्थान देता है।

श्री अरविंद चेतना को स्वीकार करने के साथ ही यह भी स्वीकार करते हैं कि मानव-चेतना का विश्व-चेतना में विस्तार संभव है। आधुनिक मनोविज्ञान भी यह मानता

जा रहा है कि मानवता में विश्व-चेतना की संभावना है। मानव-चेतना का विश्व-चेतना से मिलन योग द्वारा संभव है और भारतीय साधक यही आदर्श अपने सम्मुख रखते आये हैं।

जीवात्मा का स्वभाव या प्रकृति

श्री अरविंद ने अपने दर्शन में व्यक्ति की आत्मा (Individual Soul) की अमरता को स्वीकार किया है, अतः वह जीवात्मा के पुनर्जन्म में भी विश्वास करते हैं। मानव-स्तर पर व्यक्ति स्वयं परम चेतना की प्राप्ति के लिए प्रयास करता है। इससे प्रत्येक जीवात्मा की महत्ता का पता चलता है। पुनर्जन्मों द्वारा व्यक्ति की अमर आत्मा दुर्भेद्य अचेतन की दुर्भेद्यता को कम करके दिव्यता की अतिचेतना की ओर आरोह करने का प्रयत्न करती है।

श्री अरविंद कहते हैं कि जीवात्मा का निजत्व (Individuality) केवल आभास, या अज्ञान द्वारा उत्पन्न भ्रम मात्र नहीं है, वरन् यह परमसत्ता के आधारभूत विधान (Structure) से संबद्ध है। जीवात्मा का वास्तविक निजत्व निरंतर बना रहता है; अपरा अथवा निम्न प्रकृति से मुक्ति पाकर भी बना रहता है। ऐसी मुक्ति के बाद जो चीज लुप्त हो जाती है वह है अहं (Ego) का मिथ्या निजत्व जो अविद्या या निम्न प्रकृति जन्य है। श्री अरविंद के विचार में जब कि अहंपूर्ण निजत्व व्यक्ति में सारे संसार से पृथकत्व की भावना उत्पन्न करता है, तो 'वास्तविक व्यक्ति' (True Individual) विश्व-आत्मा के जीवन से संलग्न होता है और उसे यह ज्ञान रहता है कि वह अति वैश्व-परात्पर भगवान् (Supra Cosmic Transcendent Divine) से अविभाज्य है।

विशिष्टाद्वैतवाद की भाँति, श्री अरविंद का भी विश्वास है कि वास्तविक निजत्व (True Individuality) ईश्वर का शाश्वत् अंश है, फिर भी जीवात्मा के सार-तत्व के संबंध में वह अद्वैतवाद की ओर आकर्षित होते हैं। जीवात्मा अपनी सत्ता और सार रूप में ईश्वर से तद्रूप है और ईश्वर अविभाज्य रूप में प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान है। अतः जीवात्मा शाश्वत् रूप में पूर्ण और सभी बंधनों से मुक्त है। यह जन्म, विकास, नाश का विषय नहीं है वरन् उत्पत्ति और विनाश के परिवर्तनों से परे है। जीवात्मा परमात्मा ही है, किंतु 'उसके' अस्तित्व की एक विशेष स्थिति (Poise) में। यह परमात्मा से भिन्न है क्योंकि यह परमात्मा के अस्तित्व की विभिन्न स्थितियों में से एक है। अपने सारतत्व में परमात्मा के साथ एकाकार होते हुए भी यह रूप और कार्य में उससे भिन्न है। प्रत्येक जीवात्मा दिव्य-शक्ति की क्रिया का केन्द्र है और उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम है। प्रो० हरिदास चौधरी के शब्दों में, "निजत्व (Individuality) का अस्तित्व तत्वतः परमात्मा में, परमात्मा के द्वारा और परमात्मा के लिए है,.... यह विश्व आत्म-निर्माण (Soul-making) करने की घाटी है और इसका उद्देश्य है पूर्ण देहधारी

व्यक्तियों का विकास करना क्योंकि परमात्मा की संसार में आत्म अभिव्यक्ति का या आत्मा की पदार्थ में अभिव्यक्ति का यही उपयुक्त माध्यम है।'†

जीवात्मा का परम लक्ष्य केवल मुक्ति या पूर्णता प्राप्त करना नहीं है क्योंकि यह तो शाश्वत् रूप में मुक्त और पूर्ण है, व दिव्य-शक्ति के साथ एकात्म है। यह समझना भूल होगी कि विकास प्रक्रिया में 'व्यक्ति' का विकास होता है क्योंकि वास्तविक व्यक्ति विकास प्रक्रिया से परे है। विकास प्रक्रिया में जिस चीज़ का विकास होता है वह है प्रत्येक विकासशील सांसारिक व्यक्ति के हृदय में रहने वाला और उसके साथ विकसित होने वाला वह तत्व जिसे उपनिषदों में 'चैत्य पुरुष' कहा गया है। यह 'चैत्य पुरुष' दिव्य-शक्ति का स्फुलिंग है जो प्रत्येक देहधारी व्यक्ति में निहित है और इस जगत में शरीर, प्राण और मन-सहित व्यक्ति, जो 'अतिकालिक वैयक्तिक आत्मा' (Supra-temporal Individual Self) का उच्चतम प्रतिनिधि है, के विकास का नियंत्रण करता है। इस 'चैत्य पुरुष' का वर्णन इस प्रकार भी किया जा सकता है कि यह एक प्रकार की उद्गति (Emanation) है जो 'वैयक्तिक आत्मा' से निकल कर विकास प्रक्रिया में निहित हो जाती है ताकि वह दिव्य उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विकास प्रक्रम को सतत निर्देशित कर सके। अनुभव की पूर्णता न था आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त कर लेने पर, चैत्य पुरुष पुनः 'वैयक्तिक आत्मा' के साथ युक्त हो जाता है। अतः विश्व का परम लक्ष्य है आत्म-निर्माण अथवा दूसरे शब्दों में पूर्ण व्यक्ति या अतिमानव का निर्माण। इस लक्ष्य की प्राप्ति देहधारी व्यक्ति आध्यात्मिक साधना द्वारा कर सकता है। अतः 'निजत्व मूलतः वैयक्तिक चेतना Supra Individual Spirit) की क्रिया या उसके अस्तित्व का एक रूप है।'

उपर्युक्त विवेचन से व्यक्ति और समाज के सहसंबंध को भली भाँति समझा जा सकता है। व्यक्ति जितना ही अपने व्यक्तित्वको ऊँचा उठाता है उतना ही अधिक व्यक्ति और समाज का संघर्ष कम होता जाता है। व्यक्तिवाद (Individualism) को आज जिस रूप में समझा जाता है वह वास्तविक व्यक्तित्व के विकास का साधन नहीं है। आज का व्यक्तिवाद जिस व्यक्ति की कल्पना करता है वह व्यक्ति दूसरों के हित का ध्यान रखे बिना, कभी-कभी दूसरों का विरोध करके भी, अपना आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक हित करना चाहता है। वह व्यक्ति को अहमत्व की महानता प्राप्त करने के लिए असीम अवसर प्रदान करता है और प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा करने का अवसर देता है। ऐसा व्यक्तिवाद अपने आप में निंद्य है। श्री अरविंद जिस व्यक्ति की कल्पना करते हैं वह इस प्रकार के व्यक्तिवाद द्वारा कल्पित व्यक्ति से सर्वथा भिन्न है- वह कहते हैं कि

† H. Chaudhury : 'Sri Aurobindo and Absolutism,' Sri Aurobindo Mandir, Second Annual Jayanti Number, 15th. Aug. 1943, p. 185

पूर्ण व्यक्ति जिसका विकास विकास-क्रम की एक आधारभूत आवश्यकता है उसके हित और दूसरों के हित में कोई विरोध नहीं होगा वरन् वह व्यक्ति किसी ऐसी वस्तु को अपने लिए शुभ नहीं मानेगा जिसमें कि दूसरों का हित न हो।

अधिकांश समाजों में एक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के साथ एकता का अनुभव नहीं करता है। शिक्षा और सामाजिक दबाव के द्वारा उसे अन्य व्यक्तियों के साथ संबंध का अनुभव कराया जाता है परंतु यह अनुभव कभी पूर्ण नहीं होता है। इस प्रकार का संबंध-सूत्र संकट-काल में टूट जाता है और फिर उस संबंध-सूत्र को जोड़ने के लिए बाह्य दबाव डाला जाता है। अतः इस प्रकार व्यक्ति-व्यक्ति तथा व्यक्ति और समाज में संघर्ष चला करता है। श्री अरविंद ने जिस ज्ञेयवादी समाज की कल्पना की है उसमें इस प्रकार के संघर्ष की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

अतिमानवीय प्राणी परमानंद को प्राप्त करेगा और उसमें यह शक्ति होगी कि वह सबको परमानंद अथवा आत्मा के आनंद का पान कराये। एक मुक्त जीवात्मा का यही गुण माना जाता है कि वह संपूर्ण प्राणियों के हित-साधन में लीन रहे; दूसरों के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझे। अतिमानव को दूसरों की भलाई करने के लिए आत्म-बलिदान की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। कारण, मानवीय स्तर पर दूसरों की भलाई करने के लिए चेतन प्रयास करना पड़ता है पर अतिमानव के स्तर पर यह चेतन प्रयास आत्म-दर्शन के आनंद में परिवर्तित हो जाता है और उसकी सार्वभौमिकता की भावना और क्रिया उसके स्वभाव का सहज अंग बन जाती है।

शिक्षा-दर्शन

श्री अरविंद का शिक्षा-दर्शन उनके जीवन-दर्शन के सर्वथा अनुरूप है। उनके दर्शन में सांख्य और अद्वैत का समन्वय हुआ है। श्री अरविंद, उन सभी शिक्षाविदों की भाँति जिनका वर्णन हम पूर्व कर चुके हैं, भारतीय शिक्षादर्शों के महान समर्थक हैं। उनकी विशेषता इस बात में है कि उन्होंने बताया कि प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति की सफलता का रहस्य, केवल इन आदर्शों के पालन मात्र में नहीं था वरन् इस पद्धति की आधारशिला—भारतीय मनोविज्ञान—पर आधारित था। श्री अरविंद के शिक्षा-दर्शन में भारतीय दृष्टिकोण से पूरित ऐसे अनेक मनोवैज्ञानिक तथ्य एवं शिक्षा-सिद्धांत निहित हैं जिनका वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति में सफलतापूर्वक समावेश किया जा सकता है।

परम उद्देश्य

भारतीय परंपरा के सर्वथा अनुकूल श्री अरविंद मानव द्वारा आध्यात्मिक विकास की उच्चतम स्थिति की प्राप्ति में आस्था रखते हैं। उनके अनुसार वास्तविक शिक्षा का प्रयोजन एवं उद्देश्य है चेतना का विकास, उसका संस्कार और रूपांतर, क्योंकि चेतना ही सृष्टि का आधारभूत सत्य है, परमसत्ता है, एक सृजनात्मक सत्ता है। उनके विचार

में, मनुष्य के प्रारब्ध में ही यह है कि उसके अंदर से स्वतः दिव्य मानवता (Divine Humanity) या अतिमानव-जाति (Race of Supermen) का विकास होगा। आधुनिक विज्ञान का विकासवादी सिद्धांत जो प्रकृति में ऊर्ध्वगामी प्रवृत्ति को स्वीकार करता है और जिसके अनुसार पदार्थ से जीव तथा जीव से मनुष्य की उत्पत्ति हुई है, वह भी इसी विकास-दिशा की ओर संकेत करता है। किंतु पदार्थ से मनुष्य तक के विकास की जिस प्रक्रिया का निरूपण विज्ञान ने किया है वह एकाएक मनुष्य तक पहुँच कर समाप्त हो जाती है। यह विकास मनुष्य तक ही पहुँच कर क्यों समाप्त हो जाता है, इसका कोई उचित कारण विज्ञान नहीं दे पाता। श्री अरविंद के विचार में विकास की संभावनाएँ अभी भी शेष हैं, किंतु विज्ञान विकास के इस दूसरे स्तर को स्पष्टरूप से क्रमबद्ध नहीं कर पाता और विकास की बाह्य प्रक्रिया तक ही सीमित रह जाता है। विज्ञान प्रत्यक्ष रूप से पदार्थ से प्राण और पशु से मानव तक के आश्चर्यजनक रूपांतर को स्पष्टतः बतला नहीं पाता। भारतीय योग-दर्शन में भी इस विकास-प्रक्रिया पर विचार किया गया है, जिसके अनुसार संसार पदार्थगत, प्राणगत, मानसिक तथा अतिमानसिक चार स्तरों में विभाजित है। ये स्तर केवल उस विशिष्ट आकार के नाम हैं, विशिष्ट रूप हैं जिनके द्वारा अनंत सच्चिदानंद ने अपने को व्यक्त किया है। यही अनंत शक्ति उन सब स्तरों में व्याप्त है और विभिन्न आकारों या रूपों में व्यक्त होने के अनुसार ही उसे संबोधित किया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक स्तर में अन्य अनुवर्त्ती स्तरों के विकास की संभावनाएँ निहित रहती हैं। अतः अस्तित्व के प्रत्येक स्तर अपने ढंग से तथा अपनी सीमाओं में शेष सभी आगामी स्तरों की संभावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं। इन स्तरों में परस्पर क्रिया और प्रतिक्रिया होती रहती है। इसीलिए पदार्थ-स्तर पर, पृथ्वी के जड़ होते हुए भी, जब प्राण-स्तर का दबाव पड़ा तो प्राण की अभिव्यक्ति हुई। इसी प्रकार जब प्राण-स्तर पर मानसिक स्तर का दबाव पड़ा तब मन का विकास हुआ। अब इस मानसिक स्तर पर अतिमानस के दबाव के कारण अतिमानस के विकास का प्रयत्न हो रहा है जिससे मनुष्य के शरीर, जीवन और मन का उच्चतम एवं पूर्णतम विकास होगा।

विकासक्रम : अचेतन और चेतन—श्री अरविंद का विश्वास है कि मानव से ही अतिमानव का विकास होगा जिस प्रकार कि पशु से मानव का विकास हुआ है। पदार्थ से मानव तक के विकास का क्रम अचेतन विकास-क्रम है अर्थात् विकास-क्रम में आत्मचेत्ता मानव तक का विकास स्वभावतः प्रकृति के माध्यम से बिना किसी साधना या प्रयास के हुआ है। परंतु मनुष्य के आगामी विकास में श्री अरविंद मनुष्य के सचेतन सहयोग को स्वीकार करते हैं। दूसरे शब्दों में, मनुष्य अपने भावी विकास के लिए स्वयं चेष्टा करेगा, स्वयं प्रयत्नशील होगा। उनका विश्वास है कि मनुष्य का जो भावी विकास होने वाला है उसमें इतना दीर्घकाल नहीं लगेगा जितना कि अचेतन विकास-काल में लगा क्योंकि यह

विकास चेतना के गुण, परिमाण, तीव्रता, सहयोग तथा संकल्पपूर्ण प्रयास पर अवलंबित होगा। इसका परिणाम यह होगा कि विकास करने में जो अनेक योनियों में भ्रमण करना पड़ता है और शताब्दियों का समय लग जाता है वह सिमट कर वर्षों में सीमित हो जायेगा। अतः इस उच्चतम उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक पूर्ण व्यवस्थित एवं सुनियोजित शिक्षा-पद्धति की आवश्यकता है। इसीलिए श्री अरविंद प्राचीन भारत की आत्मा, आदर्शों और पद्धतियों को आधुनिक परिस्थितियों एवं शिक्षा-संबंधी अनुसंधानों को ध्यान में रखते हुए, भारतीय मनोविज्ञान के अनुकूल बना कर उनका शक्तिपूर्ण पुनरुत्थान करने पर ज़ोर देते हैं।

राष्ट्रीय शिक्षा की नींव : सुदृढ़

राष्ट्रीय शिक्षा की चर्चा करते हुए श्री अरविंद शिक्षा की ऐसी नींव डालने के समर्थक हैं जो अतिमानसिक विकास की आवश्यकताओं को पूरा करे। अतः उनका कहना है कि 'एक महान बौद्धिक रचना के लिए पहली आवश्यकता इस बात की है कि उसकी ऐसी सुदृढ़ नींव डाली जाय जो उसे सँभाल सके।' श्री अरविंद के विचार में आधुनिक शिक्षा-पद्धति, मानव-संस्कृति के विभिन्न अंगों का प्रतिनिधित्व करने वाले विषयों के संबंध में व्यापक और भलीभाँति चुनी हुई सूचनाएँ बालकों को देकर यह समझती है कि वह संतोषजनक नींव डाल रही है। किंतु यहाँ वह एक आधारभूत भूल करती है। केवल सूचना ही बौद्धिक विकास की नींव नहीं बन सकती। सूचना तो उस सामग्री का एक अंग-मात्र है जिसके माध्यम से ज्ञाता ज्ञान की उपलब्धि करता है। सूचना वह आरंभ-विंदु है जहाँ से नवीन खोज और आविष्कार का प्रारंभ होता है। 'जो शिक्षा केवल ज्ञान-प्रदान करने तक ही सीमित है, वह शिक्षा नहीं है'। अतः केवल विभिन्न मानसिक शक्तियों को साधन-सामग्रियों से पूर्णतया सुसज्जित करने की ही आवश्यकता नहीं है, वरन् उन्हें इस प्रकार प्रशिक्षित करना है कि वे नई सामग्रियों को खोज सकें और अपने पास की सामग्रियों का कुशलतापूर्वक उपयोग कर सकें। यह शक्तियाँ जिस (मानसिक) रचना की नींव डालेंगी वही उस शक्ति का स्रोत होगा जो कि स्मरण, निर्णय, तथा सृजन-शक्तियों की निरंतर बढ़ती हुई क्रियाशीलता की माँग की पूर्ति कर सकेगा। पर यह शक्ति कहाँ प्राप्त होगी?

इस शक्ति को प्राप्त करने के लिए श्री अरविंद भारतीय आदर्शवादी दर्शन के एक प्राचीन सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं। प्राचीन आर्यों की भांति उनका विश्वास है कि मनुष्य विश्व से पृथक् नहीं है। जिस प्रकार लहर समुद्र का अंग है उसी प्रकार मनुष्य भी विश्व का अभिन्न अंग है। संसार एक अनादिशक्ति, प्रकृति, माया या शक्ति से व्याप्त है। वही शक्ति संसार में विभिन्न नाम रूप में—मिट्टी, पौधों, कीड़ों, पशुओं और मनुष्यों में—अपने को व्यक्त करती है। ये सभी—मिट्टी, पौधे, कीड़े, पशु और मनुष्य—अपने

भौतिक अस्तित्व में उस शक्ति के व्याप्त होने के उचित आधार हैं। हममें से प्रत्येक प्राणी एक डायनमो (शक्ति-केन्द्र) की भाँति है जिसमें उस अनादि शक्ति की तरंगें उत्पन्न होती है, संगृहीत होती हैं, निरंतर सुरचित रहती हैं और उपयोग की जाती हैं। जो शक्ति ताराओं और ग्रहों में संचरित होती है वही हमारे भीतर भी गतिशील है। हमारे विचार और कार्य उसी शक्ति की क्रीड़ा और उसकी क्रिया की जटिलता से उत्पन्न होते हैं। श्री अरविंद का कहना है कि ऐसी प्रक्रियाएँ हैं जिनके द्वारा मनुष्य-रूपी आधार अपनी क्षमताओं को बढ़ा सकता है। कुछ अन्य प्रक्रियाएँ भी हैं जिनके द्वारा वह अपने और विश्वशक्ति के बीच के अवरोधों को दूर करके संपर्क-मार्ग को प्रशस्त बना सकता है और उस शक्ति को अधिक से अधिक मात्रा में अपनी आत्मा, मस्तिष्क और शरीर में एकत्रित और संचारित कर सकता है। आधार की निरंतर उन्नति, और संप्रेषित होने वाली शक्ति की मात्रा और कार्यों की जटिलता में वृद्धि ही संपूर्ण विकास का उद्देश्य है। जब वह शक्ति अधिकाधिक और पूर्ण मात्रा में, मनुष्य-रूपी आधार में प्रविष्ट हो जाती है और आधार इसके आघात और क्रीड़ा-सहन करने योग्य बन जाता है तब वह सिद्ध या पूर्ण मनुष्य बन जाता है। वह अपने व्यक्तिगत विकास की उस चरम सीमा पर पहुँच जाता है जिसके लिए मानवता युगों-युगों से साधना करती चली आ रही है।

श्री अरविंद कहते हैं कि यदि उपर्युक्त सिद्धांत सत्य है तो वह शक्ति जो हमारी बौद्धिक क्रिया का आधार है, हमारे भीतर ही है और हम उसका पर्याप्त विस्तार कर सकते हैं, असीम रूप में उसका उपयोग कर सकते हैं। यदि यह सिद्धांत सत्य है तो इससे यह भी एक ठोस निष्कर्ष निकलता है कि हम इस शक्ति की अपने भीतर जितनी ही अधिक वृद्धि करेंगे, इसके संग्रह द्वारा अपने को समृद्ध बनायेंगे, उतनी ही अधिक हमारे मन की क्रियायों की परिधि विस्तृत होगी, क्रियाशीलता, क्षमता और शक्ति बढ़ेगी और उसी के अनुपात में हमें सफलता प्राप्त होगी। यह प्रथम सिद्धांत है जिस पर आर्यों ने अपने शिक्षा-सिद्धांत को आधारित किया था। इस शक्ति के अधिकाधिक संग्रह के लिए जिस प्रक्रिया को अपनाया था वह था 'ब्रह्मचर्य'।

ब्रह्मचर्य—श्री अरविंद का कहना है कि कठोर अनुशासन के साथ ब्रह्मचर्य का पालन करने से मनुष्य के भीतर निहित शक्ति बढ़ती है और यह शक्ति स्वयं संग्रहकर्ता और मनुष्य-जाति के लिए लाभप्रद सिद्ध होती है।

उनके विचार में मानव-जीवन और उसकी समस्त शक्ति का आधार शारीरिक है, अर्थात् प्राण और शक्ति के स्थिर रहने और कार्य करने के लिए मनुष्य को शरीर रूपी आधार की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु प्राण और शक्ति का स्रोत भौतिक नहीं है वरन् आध्यात्मिक है। योरोप का भौतिकवादी दर्शन केवल आधार को ही सब कुछ मानता है और वह आधार को ही स्रोत भी समझ बैठता है। "भौतिक को आध्यात्मिक तक उत्कर्ष करना ही ब्रह्मचर्य है क्योंकि इन दोनों के सम्मिलन से जो शक्ति एक से आरंभ

होकर चलती है और दूसरी को उत्पन्न करती है उसकी (स्वयं) उन्नति होती है और वह अपनी पूर्ति भी करती है।"†

सभी शक्ति (तेज) रेतस् (वीर्य) में अंतर्निहित है। यदि इसे शारीरिक स्तर पर काम, क्रोध और लोभ आदि स्थूल विकारों के रूप में व्यर्थ नष्ट न किया जाय, शारीरिक स्तर पर अनैतिक कर्मों और सूक्ष्म स्तर पर अनैतिक विचारों द्वारा व्यर्थ नष्ट न किया जाय तो यह परिरक्षित होकर आत्मसंयम द्वारा वृद्धिमान होती है। स्थूल शरीर की सीमित आवश्यकताओं की पूर्ति के पश्चात् बचा हुआ रेतस्, पहले तपस् (उष्णता) के रूप में परिवर्तित हो जाता है जो साध्य कर्म और सफलता प्राप्त करने में उत्तेजना प्रदान करता है। दूसरे, यह पुनः तेज में परिवर्तित हो जाता है जो प्रकाश और शक्ति रूप है और सभी प्रकार के ज्ञान का स्रोत है। तीसरे, यह विद्युत में परिवर्तित हो जाता है जो सभी प्रकार के शक्तिशाली शारीरिक और मानसिक कार्यों का आधार है। विद्युत में ओज निहित रहता है। यह ओज वह मुख्य शक्ति है जो ईथर या आकाश से उत्पन्न होकर मस्तिष्क में उठती है और उसको आदि शक्ति से परिपूर्ण करती है, जो पदार्थ का अत्यंत सूक्ष्म रूप है या कह सकते हैं कि जो आत्मा के सन्निकट ही है। वह आत्मशक्ति ओज से ही उत्पन्न होती है जिसके द्वारा व्यक्ति आत्मज्ञान, बल, प्रेम और श्रद्धा की प्राप्ति करता है। अतः ब्रह्मचर्य के पालन द्वारा व्यक्ति तपस्, तेज, विद्युत और ओज का संग्रह कर उनकी वृद्धि करता है और ये मुख्य शक्तियाँ शरीर, मस्तिष्क, हृदय और आत्मा के कार्य के रूप में व्यक्त होती हैं।

समस्त ज्ञान : अंतर्निहित—दूसरा मनोवैज्ञानिक सिद्धांत जिस पर प्राचीन काल से लेकर आज तक के सभी दार्शनिकों ने ज़ोर दिया है, इस प्रकार है कि "समस्त ज्ञान मनुष्य के भीतर निहित है। उसे शिक्षा द्वारा जाग्रत करना है न कि बाहर से ज्ञान को उसके भीतर प्रविष्ट कराना है।"

यह एक स्वीकृत तथ्य है कि मनुष्य के ज्ञानार्जन की शक्ति प्रकृति के तीन तत्वों, सत्व (ज्ञान), रजस्, और तमस् (अज्ञान) से मिलकर बनी है। इनमें से अंतिम दो—रजस और तमस्—ज्ञान को धुँधला बना देते हैं। मनुष्य की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए, अध्यापक की मुख्य समस्या है कि वह कैसे तामस् प्रकृति को दूर करे, और राजस् प्रकृति को संयमित करके सात्विक प्रकृति को जाग्रत करे। अध्यापक को चाहिए कि वह विद्यार्थी को इस प्रकार प्रशिक्षित करे कि वह अपने अंतः प्रकाश को ग्रहण कर सके। नैतिक शुचिता द्वारा जब तेज का जागरण होता है तब तामस् प्रकृति दूर हो जाती है। ब्रह्मचर्याश्रम के कठोर नैतिक अनुशासन द्वारा राजस् प्रकृति का संयमन होता है जिससे बौद्धिक हठ, अभिमान और विकार आदि नष्ट होते हैं और मानसिक शांति, स्पष्टता एवं ग्रहणशीलता उत्पन्न

---

† Sri Aurobindo : "The Brain of India," pp. 17, 18

होती है। मन की ग़लत धारणाओं को शुद्ध करने में सबसे मुख्य हाथ गुरू के प्रति अनन्य श्रद्धा और मानसिक समर्पण का है। गुरु से ग्रहण किये हुए सम्यक् विचार और प्रामाणिक ज्ञान ही इन ग़लत धारणाओं के निराकरण में सहायक हैं। अतः शिक्षा का उद्देश्य है शिक्षक द्वारा बालक को अंतःप्रकाश का दर्शन प्राप्त कराना। इस अंतःप्रकाश की प्राप्ति की तीन विधियाँ हैं—आवृत्ति, ध्यान और नमन। आवृत्ति के द्वारा मन शब्दमय हो उठता है और अपने आप उसमें से अर्थ की अनुभूति होने लगती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि आवृत्ति यांत्रिक नहीं होनी चाहिए क्योंकि यंत्रवत् आवृत्ति द्वारा यह प्रभाव उत्पन्न नहीं होता। अंतः प्रकाश की प्राप्ति के लिए व्यक्ति में सात्विक तत्त्वों का उदय होना, शांत भाव से ग्रहणशील होना और आवृत्ति के द्वारा प्राप्त शब्दों में मन के विचारात्मक पक्ष द्वारा अर्थ ढूंढ़ने की तत्परता होनी चाहिए। इसी को ध्यान कहा जाता है। इस मनोवैज्ञानिक तथ्य का अनुभव हम सब लोग करते हैं कि यदि कोई प्रश्न हमारे मस्तिष्क में स्पष्ट नहीं है और हम थोड़ी देर के लिए उस पर विचार करना स्थागित कर दें तो वह प्रश्न सरलतापूर्वक स्पष्ट हो जाता है। बात यह है कि हमारे भीतर स्थित ज्ञाता का ध्यान प्रश्न की ओर आकर्षित होता है और अवकाश-काल में वह प्रश्न को हल करने में व्यस्त रहता है और प्रश्न से संबंधित सामग्री जुटाता है। श्री अरविंद का कहना है कि "ऐसे अनुभव केवल उन व्यक्तियों के लिए संभव हैं जिनके सात्विक तत्त्व पूर्णतया जाग्रत होते हैं, और जो गहन अध्ययन और बौद्धिक स्पष्टता के कारण चेतन या अचेतन अवस्था में कार्य करने में प्रशिक्षित हैं। इस सात्विक प्रवृत्ति के विकास की चरम सीमा वह है जहाँ पहुँच कर मनुष्य को स्वभावतः बाह्य साधनों की आवश्यकता नहीं रहती। अध्यापक, पाठ्यपुस्तक, व्याकरण और कोष आदि का महत्व उसके लिए नहीं रह जाता और वह पूर्णतया अपने अंतः ज्ञान से ही सब विषयों को जान लेता है। किन्तु यह बात केवल उस योगी के लिए संभव होती है जिसने योग को सफलतापूर्वक किया हो।"*

पूर्ण योग तथा आध्यात्मिक एकता—यह योग सात्विक प्रकाश तथा सिद्धि-प्राप्त करने की विधि बतलाता है। दूसरे शब्दों में, यह योग पूर्णत्व की प्राप्ति की विधि है और इसका आधार है 'ब्रह्मचर्यानुशासन'; यह एक अद्वितीय अनुशासन है जिसके द्वारा आत्मा और मन पूर्णरूप से शिक्षित होते हैं। श्री अरविंद का योगानुशासन प्राचीन अष्टांग योग से थोड़ा भिन्न है और विभिन्न योग-प्रणालियों का समन्वय है। इस दिशा में स्वामी रामकृष्ण परमहंस ही वह व्यक्ति थे जिन्होंने सभी योगानुशासनों की मौलिक एकता का मार्ग दिखाया था, किंतु मौलिक एकता के आधार पर शक्तियों और क्षमताओं का महान समन्वय श्री अरविंद के योग में ही हुआ। यह समन्वय योग के बाह्य रूपों को छोड़कर, सब में सामान्य रूप से पाये जाने वाले उस मूल सिद्धांत के आधार

* Sri Aurobindo : 'The Brain of India,' pp. 23, 24

पर हुआ है, जो सब में समान रूप से पाया जाने वाला रहस्य है तथा जो साधन-प्रणालियों में भेद होते हुए भी उनकी विभिन्न शक्तियों और उपयोगिताओं के संयोजन में सक्षम है।

आध्यात्मिक साधना के लक्ष्य के समन्वित दृष्टिकोण (Integral view) के कारण ही ऐसा समन्वय करने का आवश्यकता पड़ी। अध्यात्म-साधना मनुष्य की अपूर्णताओं को दूर करके उसे पूर्ण व्यक्तित्व प्राप्त करने में सहायता करती है। पूर्ण व्यक्तित्व प्राप्त करने पर व्यक्ति परम दिव्य अथवा रहस्यमयी आत्मा का अनुभव करेगा; वह एक दिव्यसत्ता का अनुभव करेगा जिसमें व्याप्त हम सब एक हैं; वह अनुभव करेगा कि दिव्यसत् के व्यक्त होने का वर्तमान साधन मानवता ही है और मानव-जाति और मानवप्राणी के माध्यम से ही यह क्रमिक रूप से अपने को अभिव्यक्त करेगा। इस दिव्यसत् का निरंतर यही प्रयास है कि वह अपने दिव्य-ज्ञान को साकार करे और इस पृथ्वी पर दिव्यात्मा का साम्राज्य स्थापित करे। व्यक्ति के भीतर दिव्यसत् के विकसित होने पर उसके जीवन का मुख्य सिद्धांत होगा समस्त मानव-प्राणियों के साथ आत्मीयता का अनुभव। इस सिद्धांत में केवल सहयोग की ही भावना निहित नहीं है, वरन् गहन-भ्रातृत्व की भावना है जिसके आधार पर हमें वास्तविक आत्मीय एकता, समानता और सामान्य जीवन का अनुभव होगा। हमें ज्ञात होगा कि संपूर्ण मानवता में एक आध्यात्मिक एकता निहित है। हमें ज्ञात होगा कि अन्य साथियों के जीवन में हो या साथ में ही व्यक्ति के जीवन की पूर्ति है। ऐसे ही पूर्ण व्यक्तियों को बढ़ती हुई संख्या में मनुष्यजाति की महान आशाएँ निहित हैं। ऐसे ही व्यक्ति शक्ति के केन्द्र होंगे और अतिविकसित एवं आदर्श समाज के विकास में सहायता करेंगे। आत्मिक स्तर पर सब में समानता का अनुभव करने से ही मानव-जाति में एकता स्थापित हो सकती है। अतः मनुष्य की आंतरिक एवं अंतस्थ शक्तियों और क्षमताओं को बाहर निकालना और विकसित करना होगा। मनुष्य को बाह्य प्रकृति का विकास न करके अपनी अंतः शक्तियों को विकसित करना होगा अर्थात् आत्मा की प्राप्ति करनी होगी। इसी आध्यात्मिक आधार पर श्री अरविंद जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीयता का समर्थन करते हैं।

संसार मिथ्या नहीं, आत्म-प्रयास—श्री अरविंद इस संसार को मिथ्या, तात्विकतया बुरा तथा अपूर्ण नहीं मानते हैं और न सच्ची पूर्णता एवं आनंद को प्राप्ति के लिए संसार का त्याग करने का उपदेश देते हैं। वह व्यक्ति की आत्मा को दिव्य शक्ति के सच्चिदानंद स्वरूप का एक अनादि अंग मानते हैं। दिव्य शक्ति के अवतरित होने का प्रयोजन है अनादि सच्चिदानंद की भौतिक परिस्थितियों में अभिव्यक्ति। अस्तु, सच्चिदानंद-स्वरूप का एक अनादि अंग होने के कारण मनुष्य सदैव से ही शांति, पूर्णता और 'सत्यं, शिवं, सुंदरम्' जैसे जीवन के उच्चादर्शों की कल्पना करता रहा है। इससे यह ज्ञात होता है कि मनुष्य अपनी अनादि प्रकृति को प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा है,

किंतु वास्तविक प्रकृति की प्राप्ति में उसे शारीरिक और मानसिक बंधनों एवं इंद्रियाभिभूत आत्मा के कारण आत्मसाक्षात्कार में न केवल निकट भविष्य वरन् सुदूर भविष्य में भी बाधा का अनुभव होगा। पूर्णता प्राप्त करने के लिए इस भौतिक जीवन का त्याग और अतिभौतिक साधनों का प्रयोग बताया जाता है। श्री अरविंद का कहना है कि जब तक अतिमानस का उच्चतर विकास नहीं हो जाता तब तक आध्यात्मिक साधना किसी सीमा तक मन को आध्यात्मिक-मात्र बनाएगी। अतः जब तक प्राण और शरीर भी रूपांतरित न होगा तब तक आध्यात्मिक साक्षात्कार या अध्यात्मबोध में बाधा पड़ेगी और उनको त्यागना ही पड़ेगा। अतः अतिमानसिक स्तर के विकसित होने पर आज विभिन्न योगानुशासनों द्वारा जिन मानसिक क्षमताओं को सप्रयास प्राप्त किया जाता है उन्हें मनुष्य बिना साधना या प्रयास के, जन्मसिद्ध अधिकार के रूप में प्राप्त करेगा। तब ये संपूर्ण शक्तियाँ स्वभावतः दैवी देन के रूप में मनुष्य को प्राप्त होंगी।

यहाँ हमें यह ध्यान रखना होगा कि अतिमानव का विकास अवश्यंभावी है। अचेतन विकास-क्रम के आधार पर भी, यद्यपि समय अधिक लगेगा फिर भी इस स्थिति को प्राप्ति अवश्य होगी। श्री अरविंद कहते हैं कि मनुष्य आत्म-चेत्ता प्राणी है। उसमें चेतन प्रयास की क्षमता है, अतः इस उच्च स्थिति की प्राप्ति के लिए यदि वह आत्म-प्रयास करे तो दैवी अनुकंपा का शीघ्र अवतरण होगा और वह विकास-क्रम में शीघ्रता पूर्वक आगे बढ़ सकेगा। ध्यान रहे, जैसा कि श्री अरविंद के जीवन-दर्शन का अध्ययन करते समय हम देख चुके हैं कि दैवी अनुकंपा बिना उन्नति संभव नहीं; पर दैवी अनुकंपा और आत्म-प्रयास एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। इन दोनों को पग-पग विकासक्रम में साथ साथ चलना है। बालक के आत्म-प्रयास को ठीक दिशा में निर्धारित करने के लिए उसे शिक्षा की आवश्यकता है। 'साधन साध्य के अनुरूप होने चाहिए तभी सफलता संभव है,' इस कथन के सर्वथा अनुकूल श्री अरविंद राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति को प्राचीन भारतीय-मनोविज्ञान के मूल सिद्धांतों के आधार पर संयोजित करना चाहते हैं। उनका कहना है कि भारतीय विचारों और भारतीय संस्कृति के तत्त्वों को शिक्षा में सम्मिलित कर देने मात्र से ही शिक्षा-पद्धति भारतीय नहीं हो सकती। उनका दृढ़ विश्वास है कि प्राचीन भारतीयों की सफलता का रहस्य न केवल शिक्षा के क्षेत्र में, वरन् अन्य क्षेत्रों में भी—सामाजिक और वैयक्तिक विकास की दृष्टि से—आश्रमों के शिक्षण-संबंधी नियम, व्यवस्था आदि में ही नहीं था वरन् उनकी सफलता शिक्षा-पद्धति और बौद्धिक प्रशिक्षण में मनोविज्ञान के पूर्ण और सूक्ष्म प्रयोग पर अवलंबित थी; और जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इसका आधार 'ब्रह्मचर्यानुशासन' था।

पाठ्य-विषय

श्री अरविंद, जैसा कि हमने देखा, यह मानते हैं कि जीवन का स्रोत आध्यात्मिक और आधार भौतिक है, अतः वह अपनी शिक्षायोजना में, इन दोनों में से किसी तथ्य

की उपेक्षा नहीं करते हैं। वह आध्यात्मिक, मानसिक, नैतिक और भौतिक सभी क्षेत्रों में मनुष्य के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास चाहते हैं। इसी कारण वह पाठ्य-विषय में सभी विषयों का समावेश चाहते हैं। यद्यपि वह जीवन का स्रोत आध्यात्मिक होने के कारण, बालक की आध्यात्मिक शिक्षा अथवा आध्यात्मिक साधना पर बल देते हैं, तथापि इसका यह अर्थ नहीं कि वह साहित्यिक एवं वैज्ञानिक विषयों का अध्ययन बालक के लिए हेय समझते हों। अपितु इन सभी विषयों के अध्ययन का भी ध्येय एक ही होना चाहिए—मानव के व्यक्तित्व का विकास। वह शिक्षा को उतना ही विस्तृत एवं पूर्ण बनाना चाहते हैं जितना योरोप के लोग; परंतु वह बालक का दृष्टिकोण केवल भौतिक जगत तक—केवल जीवन के आधार तक—ही सीमित नहीं करना चाहते वरन् इस भौतिक आधार को उत्कृष्ट करके, जीवन के स्रोत तक पहुँचाना चाहते हैं। यही कारण है कि श्री अरविंद ने शिक्षक के लिए भारतीय मनोविज्ञान का अध्ययन अत्यंत आवश्यक माना है।

शिक्षक और मनोविज्ञान

श्री अरविंद शिक्षक द्वारा विद्यार्थी के मन के अध्ययन को शिक्षण-प्रक्रिया का एक आधारभूत तथ्य मानते हैं। शिक्षण की सफलता मानव-मन—बाल मन, किशोर मन, और प्रौढ़ मन—की विशिष्टताओं से परिचित होने पर निर्भर है। उनके विचार में, कोई भी शिक्षा-पद्धति चाहे वह कितने भी गंभीर शिक्षा-सिद्धांतों पर आधारित क्यों न हो, यदि वह ज्ञानार्जन के साधन—मन—की उपेक्षा करती है तो उसके द्वारा पूर्ण एवं सुसंस्कृत मस्तिष्क बनने के स्थान पर बौद्धिक प्रगति में बाधा और हानि पहुँचने की अधिक संभावना है। कारण, शिक्षक को एक कलाकार या मूर्ति निर्माता की भाँति निर्जीव पदार्थ से संपर्क की स्थापना नहीं करना है वरन् एक अत्यंत सूक्ष्म और संवेदनशील प्राणी से। शिक्षक को एक अदृश्य वस्तु—मन—से संबंध स्थापन करना है और उसे व्यक्ति के प्रकृतिदत्त बंधनों का भी ध्यान रखना है।

श्री अरविंद स्वीकार करते हैं कि वर्त्तमान योरोपीय शिक्षण-पद्धति में शिक्षण-विधियों में प्रगति एवं उन्नति हुई है परंतु अब भी इनमें दोष हैं जो स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। पाश्चात्य शिक्षण-पद्धति मनोविज्ञान के अपर्याप्त ज्ञान पर आधारित है। सौभाग्यवश, वहाँ सामान्य विद्यार्थी इस मनोविज्ञान की प्रक्रियायों का अधिक प्रश्रय नहीं लेते, इसके अतिरिक्त वह सक्रिय रहते हैं और घोर शारीरिक व्यायाम के अभ्यस्त हैं, अतः इन्हीं कारणों से योरोपीय अपूर्ण मनोविज्ञान पर आधारित शिक्षण-पद्धति का भयंकर परिणाम दृष्टिगोचर नहीं होता। परंतु भारत में इस पद्धति का जो प्रभाव विद्यार्थियों के शरीर, मन और चरित्र पर पड़ा है वह स्पष्ट दृष्टिगोचर है। अतः भारतीय शिक्षण-पद्धति में सुधार की आवश्यकता है। श्री अरविंद का कहना है कि वर्तमान काल में, इस प्रगतिशील संसार

में मन को अत्यधिक कार्यों को संभालना है, अत: दो बातों की आवश्यकता है: प्रथम, ज्ञान के साधनों का अध्ययन और ऐसी शिक्षण-पद्धति का विकास जो स्वाभाविक, सरल तथा प्रभावकारी हो; द्वितीय, ज्ञान के इन साधनों को उनकी शक्ति भर बलशाली तथा तीव्र बनाया जाय ताकि वे संसार के बढ़ते हुए कार्यों को संभालने में समर्थ हों। ये सब शिक्षक के कार्य से संबंधित हैं।

शिक्षक का दायित्व तथा शिक्षा-सिद्धांत

आदर्शवादी परंपरा तथा प्राचीन आदर्शवादी दार्शनिकों की भाँति श्री अरविंद ने भी शिक्षक के कर्तव्यों का निर्देश किया है। उनका कहना है कि अध्यापक केवल उपदेष्टा या 'टास्कमास्टर' नहीं है, वरन् सहायक और निर्देशक है। उनके अनुसार शिक्षा का प्रथम सिद्धांत जो शिक्षक को ध्यान में रखना चाहिए वह है, कि बालक को कुछ सिखाया पढ़ाया नहीं जा सकता। सब ज्ञान उसके अंदर निहित है। अत: शिक्षक का कार्य सुझाव देना है, विचारों को लादना नहीं। शिक्षक वास्तव में शिष्य के मन को प्रशिक्षित नहीं करता, वरन् केवल यह बताता है कि वह अपने ज्ञान के साधनों को किस प्रकार सुव्यवस्थित करे; और इस दिशा में वह शिष्य की सहायता करता है और प्रोत्साहन देता है। वह शिष्य को ज्ञान नहीं प्रदान करता, केवल यह बताता है कि शिष्य स्वयं किस प्रकार ज्ञान प्राप्त करे; वह उसके अंतस्थ ज्ञान को बहिर्मुख भी नहीं करता, केवल यह बतलाता है कि ज्ञान कहाँ स्थित है और उसे किस प्रकार व्यक्त करना चाहिए। यह सिद्धांत बालक, किशोर तथा प्रौढ़ सब पर समान रूप से लागू होता है। जो लोग इस सिद्धांत को केवल किशोरों और प्रौढ़ों के लिए ही व्यवहार्य समझते हैं तथा बालकों को शिक्षित करने में इसकी उपयोगिता को अस्वीकार करते हैं, वे भूल जाते हैं कि उनके विचार रूढ़िवादी तथा अबौद्धिक हैं। बालक अथवा वयस्क, लड़का अथवा लड़की, सबके प्रशिक्षण का केवल एक यही ठोस सिद्धांत है। आयु का भेद केवल आवश्यक निर्देश और सहायता को कम या अधिक करने के लिए है।

शिक्षक को विद्यार्थी के मनोविज्ञान का ध्यान रखते हुए भी शिक्षा के द्वितीय आधारभूत सिद्धांत को नहीं भूलना चाहिए जिसमें हमारे आदर्शवादी दर्शन का विश्वास है—'प्रत्येक व्यक्ति में कुछ दैवी अंश है और कुछ उसका अपना निजत्व है। प्रत्येक में पूर्णता और शक्ति प्राप्त करने की क्षमता है चाहे इसका क्षेत्र छोटा ही हो, और फिर चाहे वह उसका उपयोग करे या न करे।'† अत: शिक्षक का कर्त्तव्य है कि वह शिष्य के भीतर निहित सर्वोत्तम को ढूंढ निकाले तथा शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है कि वह बालक के भीतर निहित सर्वोत्तम को व्यक्त करे और उसे इस प्रकार पूर्णता प्रदान करे कि सद्उद्देश्य की पूर्ति हो।

† Sri Aurobindo : 'A System of National Education,' p. 5

"प्रकृति को उसके धर्म का पालन न करने के लिए बाध्य करने का अर्थ है, स्थायी रूप से उसकी हानि करना, उसके विकास को क्षति पहुँचाना और उसकी पूर्णता को कुरूप बनाना। मनुष्य की आत्मा के प्रति यह एक स्वार्थ-प्रेरित अत्याचार है। यह राष्ट्र के लिए घातक है क्योंकि एक व्यक्ति जो सर्वोत्तम देन दे सकता है, उससे उसे वंचित होना पड़ता है और उसके बदले अपूर्ण, कृत्रिम, निम्न श्रेणी की सामान्य देन प्राप्त होती है।"† श्री अरविंद के विचार में माता-पिता या शिक्षक की इच्छा के अनुकूल बालक को ढालने का प्रयत्न करना बर्बरता तथा अज्ञानजन्य अंधविश्वास है। बालक को स्वयं अपनी प्रकृति के अनुकूल विकास करने देना चाहिए। इससे बढ़कर और कोई भूल नहीं हो सकती कि माता पिता पहले-से ही यह निश्चय कर लें कि उनके बालकों में अमुक विशेष गुणों, क्षमताओं और विचारों का विकास हो और वे उनके द्वारा निर्धारित जीविका को अपनायें।

शिक्षक को शिक्षा का एक और तीसरा मुख्य सिद्धांत भी ध्यान में रखना है। यह सिद्धांत है: निकट से दूर के लिए और 'जो है' उससे 'जो होना है' उसके लिए कार्य करना।‡ शिक्षक को चाहिए कि शिक्षा देते समय बालक की वर्त्तमान प्रकृति को ध्यान में रखे अर्थात् बालक की उस प्रकृति को ध्यान में रखे जो उसे उसके पूर्व जन्म के संस्कार, उसकी वंशपरंपरा, पास-पड़ोस, राष्ट्र और जाति के फलस्वरूप प्राप्त हुई है। इन सबका बड़ा ही शक्तिशाली किंतु अप्रत्यक्ष प्रभाव बालक के मन पर पड़ता है। इसलिए बालक की स्वाभाविक रुचियों के विकास के लिए वातावरण और अवसर प्रदान करना चाहिए और उसके भीतर कभी भी बाह्य या विदेशी आदर्शों का स्थान नहीं होने देना चाहिए। "यह ईश्वरीय व्यवस्था है कि वे एक राष्ट्र, युग और समाज से संबद्ध रहें। वे अतीत के बालक, वर्त्तमान के स्वामी तथा भविष्य के निर्माता रहें। अतीत हमारा आधार है, वर्त्तमान हमारी साधन-सामग्री है और भविष्य हमारा लक्ष्य एवं शिखर है। राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति में इनमें से प्रत्येक को उनका प्राप्य और स्वाभाविक स्थान मिलना चाहिए।"*

शिक्षण-पद्धति

समकालिक एवं क्रमिक शिक्षण—श्री अरविंद के अनुसार शिक्षण की दो प्रणालियाँ हैं: (१) समकालिक (Simultaneous) तथा (२) क्रमिक (Successive)। शिक्षा की आधुनिक प्रवृत्ति समकालिक प्रणाली की ओर है जिसमें बहुत से विषयों की

---

† Ibid. pp. 4, 5

‡ 'To work from the near to the far, from that which is o that which shall be.'

* Sri Aurobindo: 'A System of National Education,' p 6

थोड़ी-थोड़ी शिक्षा एक समय में दी जाती है। इसका फल यह होता है कि जिस विषय का पूर्ण ज्ञान एक वर्ष में हो सकता है वैसा ज्ञान सात वर्ष में भी नहीं प्राप्त होता है। इस आधुनिक प्रणाली में शिक्षा के अंतिम सोपान में 'विशेष योग्यता, (Grandiose-specialism) प्राप्त करने का जो विधान है, श्री अरविंद कहते हैं, वह अवश्य ही सफल रहेगा।

शिक्षण की दूसरी प्रणाली प्राचीन समय में प्रचलित थी जिसमें एक या दो विषयों की पूर्ण शिक्षा देने का नियम था। फिर बाद में इसी प्रकार अन्य विषयों की भी शिक्षा दी जाती थी। श्री अरविंद के विचार में यह प्रणाली सर्वथा युक्तियुक्त थी। विभिन्न विषयों का ज्ञान तो इसमें नहीं मिलता था, किंतु एक विशेष विषय का ज्ञान पूर्णरूप से हो जाता था। फलतः विद्यार्थी का ज्ञान हलका और उथला नहीं होता था। इस प्रणाली में स्मरणशक्ति को इस प्रकार प्रशिक्षित किया जाता था कि विद्यार्थी अपने पुराने विषय के ज्ञान को, अनुवर्त्ती विषयों पर ध्यान केन्द्रित करते समय भूलता नहीं था।

श्री अरविंद का कहना है कि आधुनिक शिक्षाविद् अपनी शिक्षाप्रणाली के समर्थन में यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि बालक के लिए यह अत्यंत कठिन है कि वह एक या दो विषयों पर अपना ध्यान केन्द्रित करे और इसीलिए उसे एक साथ बहुत से विषयों को पढ़ना चाहिए। किंतु श्री अरविंद के विचार में इस तर्क में कोई गंभीरता नहीं है। उनका कथन है कि विभिन्नता से मन को शांति नहीं मिलती। सात या आठ साल के बालक को यदि अपने विषय में रुचि है तो वह पर्याप्त मात्रा में ध्यान केन्द्रित करने की क्षमता रखता है। अतः विषय के प्रति बालक में रुचि जाग्रत करनी चाहिए और वर्त्तमान शिक्षा को यही करना है।

बालक का आरंभिक प्रशिक्षण—सर्वप्रथम बालक का ध्यान उसके अपने ज्ञान के साधनों (Mental Instruments) तथा शिक्षा के माध्यम पर अधिकार प्राप्त करने की ओर आकर्षित किया जाना चाहिए। उसे उसकी भाषा का पूर्ण ज्ञान करा देना चाहिए क्योंकि जब तक उसे अपनी भाषा पर अधिकार नहीं होगा तब तक वह अन्य भाषाओं पर अधिकार नहीं प्राप्त कर सकता है। अपनी भाषा पर अधिकार प्राप्त करने से वह ज्ञान के अपने सभी साधनों, और तर्क, निरीक्षण तथा निर्णय-शक्तियों पर अधिकार प्राप्त करेगा जो उसके अन्य विषयों पर अधिकार प्राप्त कर लेने के लिए आवश्यक हैं।

प्रायः सभी बालकों में कल्पना-शक्ति, शब्दों को सीखने की प्रवृत्ति और नाटकीय शक्ति होती है। इन शक्तियों का विकास केवल वर्तनी (Spelling) रटा कर और पुस्तकें पढ़ाकर नहीं किया जाना चाहिए जैसा कि वर्तमान शिक्षण-पद्धति में किया जाता है वरन् इनका विकास साहित्य, और आसपास की अन्य नवीन वस्तुओं का निरीक्षण कराकर किया जाना चाहिए। प्रत्येक बालक मनोरंजक कहानियों में रुचि रखता है।

वह वीरों का पुजारी और देशभक्त होता है। वह खोजी, जिज्ञासु, विश्लेषणकर्ता तथा छानबीन करने वाला होता हैं। उसमें प्रबल जिज्ञासा की भावना होती है और इस जिज्ञासा में दार्शनिक समस्याओं की ओर ले जाने की क्षमता होती है। उसमें अनुकरण करने की कला भी होती है। बालक के इन सभी गुणों का उपयोग करना चाहिए और उन्हें विकसित करना चाहिए। इसके लिए आवश्यक यह है कि हम उन्हें विज्ञान, साहित्य एवं कला-संबंधी विषयों को उचित पुस्तकों एवं प्रणालियों द्वारा परिचित करायें। पढ़ते समय बालकों को यह अनुभव नहीं होने देना चाहिए कि कोई विषय उन्हें ज़बरदस्ती पढ़ाया जा रहा है।

अतः शिक्षक का सबसे महत्वपूर्ण एवं आरंभिक कार्य है बालकों को उचित प्रकार की पुस्तकों से परिचित कराना और उनके द्वारा जीवन, कार्य और ज्ञान के प्रति रुचि जाग्रत करना। इसी से उसे अपने ज्ञान के साधनों के विकास तथा शिक्षा के माध्यम पर अधिकार प्राप्त करने में भी सहायता मिलेगी और बाद में शीघ्रतापूर्वक यदि क्रमानुसार अध्ययन करने में उसे विलंब भी हो जाय तो वह उस विलंब की पूर्ति भी कर लेगा।

मन के स्तर—हमने आरंभ में देखा कि श्री अरविंद शिक्षण-पद्धति में भारतीय मनोविज्ञान के सिद्धांतों के प्रयोग पर बल देते हैं। अतः हमें यहाँ कुछ मानसिक तथ्यों का भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार अध्ययन करना है।

मन शिक्षक का प्रमुख उपकरण है। अतः शिक्षक को इसके स्वरूप एवं कार्य से पूर्ण रूप से परिचित होना चाहिए। मन या अंतःकरण के चार स्तर होते हैं। पहला स्तर चित्त है जिस पर शेष तीन स्तर स्थित हैं। चित्त स्मृति का भंडार है क्योंकि इसमें पिछले अनुभवों के मानसिक संस्कार एकत्र रहते हैं। चित्त के दो पक्ष हैं : निष्क्रिय चित्त और सक्रिय चित्त। यह निष्क्रिय चित्त ही स्मृति का भंडार है जो सक्रिय चित्त अर्थात् स्मरण करने की क्रिया या सक्रिय स्मृति (Active memory) से भिन्न है। निष्क्रिय चित्त को अपने कार्य के लिए किसी प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह निष्क्रिय स्मृति स्वचालित ढंग से कार्य करती है और बिना किसी भूलचूक के सभी अनुभवों के प्रत्यय प्रभावों (After-effects) को सुरक्षित रखती है। हमारे सभी अनुभव निष्क्रिय स्मृति के रूप में चित्त में पड़े रहते हैं। सक्रिय स्मृति अपनी आवश्यकता के अनुरूप उस स्मृति-भंडार में से प्रत्यय-प्रभावों को चुनती रहती है। हमें इसी सक्रिय स्मृति के प्रशिक्षण की आवश्यकता पड़ती है।

अंतःकरण का दूसरा स्तर मानस है जो भारतीय मनोविज्ञान के विचार से छठी इंद्रिय है। इसका कार्य है ज्ञान का संग्रह या विचार-सामग्रियों का दो स्रोतों से संचयन करनाः प्रथम, वाह्य जगत से—मन पंच ज्ञानेंद्रियों (नेत्र, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा) द्वारा दृष्टि, ध्वनि, घ्राण, रस और स्पर्श की संवेदनाओं को प्राप्त करता है और स्वयं उन्हें विचार संवेदनाओं (Thought-sensations) में परिणत करता है; और द्वितीय

मन स्वयं अपने भीतर से मानसिक प्रतिमाओं को निर्माण करके ग्रहण करता है और उनसे मानसिक संस्कार (Mental Impressions) बनाता है। 'ये संवेदनाएँ और संस्कार ही चिंतन की सामग्री हैं, स्वयं विचार नहीं।' † इंद्रियाँ विचारों को जननी हैं, अतः बालक को स्पष्ट एवं यथेष्ट रूप से सोचने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी ज्ञानेंद्रियों को प्रशिक्षित किया जाय और उसकी ज्ञानेंद्रियों की सूक्ष्म संवेदनशीलता उस सीमा तक विकसित की जाय जितनी कि उसमें सामर्थ्य है। अतः शिक्षक का प्रथम कर्त्तव्य यह है कि वह देखे कि बालक अपनी इंद्रियों का उचित उपयोग करे। उसे उनके उपयोग का पर्याप्त अवसर प्राप्त हो ताकि अवसर प्राप्ति के अभाव में, अनुपयोग के कारण वे कहीं आहत न हों या अविकसित न रह जायँ। इसके अतिरिक्त ज्ञानेंद्रियों की शिक्षा और भी अधिक उपयोगी एवं प्रभावशाली हो सकती है यदि ज्ञानेंद्रियों के प्रशिक्षण के साथ-साथ कर्मेंद्रियों का भी प्रशिक्षण होता चले। उदाहरण के लिए, हाथ को इस प्रकार प्रशिक्षित होना चाहिए कि आँख जो कुछ देखे, मन अनुभव करे, उसे वह चित्र या लेख के रूप में पुनरुत्पादित कर सके। वाणी को इस प्रकार प्रशिक्षित होना चाहिए कि वह अंतःकरण के पूर्ण ज्ञान को भलीभाँति व्यक्त कर सके।

तीसरा स्तर बुद्धि का है। शिक्षाविदों के लिए यह विशेष महत्वपूर्ण और रुचिकर है क्योंकि यही चिंतन का वास्तविक साधन (Real instrument of thought) है। बुद्धि ही अंतःकरण के अन्य अंगों द्वारा एकत्र किये गये ज्ञान को व्यवस्थित करती है। इस स्तर के दो अंग हैं : दक्षिण अंग तथा वाम अंग। इन दोनों की अपनी-अपनी क्षमताएँ तथा कार्य हैं। दक्षिण अंग का कार्य है : समझने की योग्यता, सृजनशीलता, समन्वयिता। वाम अंग का कार्य है : आलोचनात्मक दृष्टि से देखना तथा विश्लेषण करना। दक्षिण अंग का कार्य है : समझना, निर्देश करना, निर्णय करना तथा अनिश्चित बातों का प्रहस्तन करना और समझना। वाम अंग का कार्य है : तुलना करना, तर्क करना, तर्कपूर्ण निष्कर्ष निकालना। इसका क्षेत्र निर्धारित सत्य तक ही सीमित है। दक्षिण अंग ज्ञान का स्वामी है और वाम अंग उसका सेवक है। मनुष्य के तर्क की क्रिया की पूर्णता के लिए बुद्धि के ये दोनों अंग अनिवार्य हैं। यदि बालक की शिक्षा को पूर्ण बनाना है तो बुद्धि की क्षमता को अधिक से अधिक बढ़ाना चाहिए। उसकी बुद्धि के दोनों अंगों को संभव सीमा तक पूर्णरूप के प्रशिक्षित करना चाहिए।

चौथा स्तर है अतिमानस का जिसका मनुष्य में अभी अधिक विकास नहीं हुआ है किंतु धीरे-धीरे इसका विकास होगा। अतिमानस की शक्तियों को उन प्रतिभाशाली व्यक्तियों में देखा जा सकता है जो ज्ञान की अंतर्दृष्टि के कारण सत्य के दूत बन कर मनुष्य को सत्य-मार्ग का अनुसरण करने में सहायता देते हैं। इन प्रतिभाशाली व्यक्तियों

---

† Sri Aurobindo : 'A System of National Education,' pp. 8, 9

में सत्य के अंतर्प्रेरणात्मक प्रत्यक्षीकरण (Intuitive Perception) की जो क्षमता होती है उसको कुछ आलोचक कम करके आँकते हैं। इसका कारण है, उनमें 'भ्रम, मन की चंचलता एवं पक्षपात की वृत्ति का मिश्रण।' ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्तियों के अभाव में संसार ने प्रगति न की होती। यह सत्य है कि सहजज्ञानी, अपूर्व बुद्धि वाले व्यक्ति कम होते हैं। फिर भी बहुत से व्यक्तियों में यह अपूर्ण रूप में होती है और दूसरों को यह कभी-कभी बिजली की चमक की भाँति अनुभव होती है। यद्यपि इस अपूर्व शक्ति का विकास अब तक उपेक्षित रहा है, फिर भी अब शिक्षाविदों को इस पर ध्यान देना चाहिए। 'भ्रम, मानसिक चंचलता एवं पक्षपात की वृत्ति के मिश्रण' को क्रमशः कम करके इस शक्ति के विकास में बालक को प्रोत्साहित करना चाहिए। इस दिशा में शिक्षक प्रत्यक्ष रूप से बालक की सहायता नहीं कर सकता पर उसे बालक में सहजज्ञान की प्रवृत्ति को विकसित करने के लिए उसकी रुचि के अनुकूल अवसर प्रदान करने चाहिए।

ज्ञानेंद्रियों का प्रशिक्षण—नेत्र, कान, नासिका, त्वचा, जिह्वा तथा अंतःकरण—ये छः इंद्रियाँ ज्ञान के साधन हैं। अंतःकरण को छोड़कर, शेष पाँच बहिर्मुखी हैं और इनका काम है वहिर्जगत् से तथ्यों का संकलन करना। यह कार्य वे शरीर को नाड़ियों द्वारा करती हैं क्योंकि इन नाड़ियों का संबंध पंचेंद्रियों से होता है। शिक्षक का प्रमुख कार्य है, इन इंद्रियों को यथार्थता एवं शीघ्रबोधता के दृष्टिकोण से पूर्ण वनाना। इसके लिए पहली आवश्यकता यह है कि वह उन दोषों को जान ले जो यथार्थता एवं शीघ्रबोध में बाधक हैं।

इंद्रियों की यथार्थता एवं शीघ्रबोधता ज्ञान-तंतुओं (Nerves) के स्वस्थ, स्वतंत्र एवं निर्बाध क्रियाशीलता पर निर्भर है। यही ज्ञान-तन्तु तथ्यों के संग्रह का स्रोत और माध्यम भी हैं। इन्हीं पर मन की स्वस्थ, निष्क्रिय ग्रहणशीलता (Mind's healthy passive receptibility) भी निर्भर है। सामान्यरूप से इंद्रियाँ स्वाभाविकता पूर्ण होती हैं तथा स्वचालित ढंग से अपना कार्य करती हैं। यदि उनमें कोई त्रुटि आ जाती है तो उस त्रुटि का दोष कहीं अन्यत्र होता है। यह दोष शिराओं के परिवहन में हो सकता है। ये शिराएँ मस्तिष्क को सूचना भेजने के साधन हैं। साधारणतया इन शिराओं द्वारा सूचना स्वयं आवश्यक रूप से इंद्रियों तक पहुँचती है। हाँ, उस दशा में ऐसा नहीं होता जब कोई शारीरिक त्रुटि होती है। ऐसी दशा में शिक्षक के स्थान पर चिकित्सक की आवश्यकता होती है। ये शिराएँ केवल सूचना वाहक होती हैं और ज्ञानेंद्रियों द्वारा प्रेषित सूचना में किसी प्रकार की बाधा नहीं डालती हैं। परंतु यदि शिराओं के प्रवाह में दोष है तो इंद्रियों द्वारा प्रेषित सूचना की यथार्थता, एवं पूर्णता में बाधा पड़ती है। शीघ्रबोधता की कमी तब आती है जब बाधाओं के कारण अंतःकरण सूचनाओं से विच्छिन्न हो जाता है। शारीरिक आघातों, या अवयव संबंधी दोषों की दशा को छोड़कर इंद्रियों की सामान्य संवेदनशीलता को योगानुशासन की नाड़ी-शुद्धि-क्रिया या प्राण-

याम द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

कभी-कभी यदि नाड़ी-शिराओं की बाधा सूचना को पूर्णतया रोकती नहीं है तो उसे विक्षिप्त कर देती है। उदाहरण के लिए, भय और चेतावनी-सूचक विक्षेपकारी संवेग इंद्रियों की कार्य-प्रणाली को प्रभावित करते हैं। सूचनाओं को विक्षिप्त होने से बचाने के लिए एक मात्र साधन है नाड़ी-शिराओं को स्थिर एवं शांत रखने की आदत। नाड़ी-शिराओं को स्थिर एवं शांत रखने में नाड़ी-शुद्धि भी सहायता पहुँचाती है। नाड़ी-शुद्धि शारीरिक कुव्यवस्था को शांत करती है, आंतरिक प्रक्रियाओं को जानबूझ कर स्थिर करती है और अंतःकरण को पवित्र करती है।

जब नाड़ी-शिराएँ शांत, स्थिर और स्वतंत्र हो जाती हैं और तब यदि उनमें सूचना-संबंधी कोई बाधा पड़ती है तो वह मन के द्वारा ही पड़ती है क्योंकि मन स्वयं बुद्धि से संपर्क स्थापित करने का एक माध्यम है। मानस ज्ञानेंद्रिय भी है और नाड़ियों की भाँति संप्रेषण-शिरा भी है। ज्ञानेंद्रिय के रूप में, अन्य ज्ञानेंद्रियों की भांति वह स्वंयपूर्ण है; शिरा के रूप में इसमें दो प्रकार की कुव्यवस्थाएँ उत्पन्न हो सकती हैं—बाधा या विकार। ये कुव्यवस्थाएँ दोनों छोरों पर आ सकती हैं : सूचना-संप्रेषण में, इंद्रियों से अंतःकरण की ओर और अंतःकरण से बुद्धि की ओर।

अंतःकरण, ज्ञानेंद्रिय के रूप में बाहर और भीतर के विचार-प्रभावों (Thought-impressions) का प्रत्यक्ष ग्राहक है। ये प्रभाव अपने आपमें पूर्णतया सही होते हुए भी कभी-कभी या तो बुद्धि तक बिल्कुल ही प्रेषित नहीं हो पाते या इतने विकृत हो जाते हैं कि उनसे पूर्णतया या आंशिक रूप में मिथ्या प्रभाव उत्पन्न होता है। इंद्रियों के छोर से आती हुई सूचनाओं के अप्रत्यक्ष प्रभाव में भी बाधा पड़ सकती है किंतु इस बाधा के प्रभाव की मात्रा कम होती है। परंतु जब मन पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है तब उस पर इस बाधा का प्रभाव प्रबल रूप में होता है जिससे भूलें होती हैं। अंतःकरण मुख्यतः विचारों के प्रत्यक्ष प्रभाव को ग्रहण करता है, किंतु यह आकार और ध्वनि के प्रत्यक्ष प्रभावों को भी ग्रहण कर सकता है। वास्तव में यह उन सभी वस्तुओं के प्रत्यक्ष प्रभावों को ग्रहण कर सकता है जिसके लिए यह अधिकतर ज्ञानेंद्रियों पर आश्रित रहता है। योग में इस अनुशासित एवं विकसित मानसिक ग्रहणशीलता को सूक्ष्मदृष्टि भी कहते हैं। श्री अरविंद कहते हैं कि सूक्ष्म विचारों का प्रेषण (Telepathy), अदृश्य वस्तुओं का देखना (Clairvoyance) दूसरों के विचारों को जानना (Thought reading) और चरित्र को समझना, (Character-reading) ये पाश्चात्य जगत् द्वारा दिये हुए अंतःकरण की शक्तियों के आधुनिक रूप हैं जिनको कि भारत ने बहुत पूर्व ही जान लिया था। इनका संबंध मानस से है। इस छठी ज्ञानेंद्रिय का विकास मानव-प्रशिक्षण का अंग कभी नहीं रहा है। अतः मन के प्रशिक्षण

की भी आवश्यकता है जिससे वह बुद्धि को ठीक-ठीक सूचनाएँ प्रदान कर सके और उनके आधार पर व्यक्ति पूर्ण विचार ग्रहण कर सके और ठीक-ठीक सोच सके।

नाड़ी-शुद्धि से सर्वप्रथम नाड़ी संबंधी संवेगात्मक बाधायें दूर होती हैं। नैतिक आचरण तथा संवेग-संयम बाहर से प्राप्त होने वाली सूचनाओं की, घृणा, प्रेम या अन्य प्रबल संवेगों के विकृत प्रभावों से रक्षा करता है। प्राचीन काल में आरंभिक साधनों द्वारा चित्त-शुद्धि की जो व्यवस्था प्रचलित थी वह आधुनिक शिक्षा-प्रणाली में उपयुक्त नहीं समझी जाती। चित्त-शुद्धि से तात्पर्य है, चित्त में नैतिक एवं मानसिक पवित्रता के स्वभाव का स्थिर होना। चित्त-शुद्धि होने पर व्यक्ति नवीन अनुभव के प्रथम संस्कारों को पक्षपातरहित रूप में ग्रहण करता है। चित्त-शुद्धि होने पर नवीन अनुभव के प्रथम संस्कारों पर अचेतन द्वारा भी पक्षपात का प्रभाव नहीं पड़ता है क्योंकि चित्त-शुद्धि चित्त में स्थित पूर्व विचार साहचर्यों द्वारा डाली बाधाओं को भी दूर करता है। हम देखते हैं कि वस्तुओं को देखने का हमारा एक दृष्टिकोण बन जाता है और हमारे स्वभाव में एक संकीर्णता आ जाती है, अतः हम नये अनुभवों को भी पुराने अनुभवों के रूप में देखते हैं। चित्त-शुद्धि से हमारी यह प्रवृत्ति दूर हो जाती है। श्री अरविंद स्पष्टरूप से यह घोषणा करते हैं कि इस प्रकार की बाधाएँ तब तक बनी रहेंगी जब तक हम अपनी प्राचीन पद्धति के कुछ मुख्य सिद्धांतों को कार्यान्वित नहीं करेंगे। वस्तुतः उनके विचार में राष्ट्रीय शिक्षा की योजना को सभी महत्वपूर्ण बातों में योरोपीय विचारों द्वारा शासित नहीं होना चाहिए। चित्त-शुद्धि और नाड़ी-शुद्धि एक ऐसी सीधी और सरल प्रक्रिया है जो हमारी शिक्षा-प्रणाली का अंग बन सकती है।

इस प्रक्रिया का कार्य है कि हमारी निष्क्रिय स्मृति से जो असंख्य विचार-संवेदनाएँ हमारी इच्छा के बिना उठती हैं और जिनपर हमारा कोई नियंत्रण नहीं है, उनको निष्क्रिय बनाना। यही निष्क्रियता हमारी बुद्धि को पुराने साहचर्यों तथा मिथ्या संस्कारों से मुक्त करती है और बुद्धि को इस योग्य बनाती है कि वह चित्त को यह निर्देश करे कि वह कौन से संस्कारों को ग्रहण करे और कौन से संस्कारों को अस्वीकार करे। यह हमें वह शक्ति देती है जिससे हम निष्क्रिय स्मृति के भंडार से आवश्यक बातों को चुनते हैं। इसी के कारण हम उचित संस्कारों को ग्रहण करने के अभ्यस्त हो जाते हैं। बुद्धि का वास्तविक कार्य है : भेद करना, संचयन करना तथा श्रृंखलाबद्ध करना। किंतु जब तक चित्त-शुद्धि नहीं होती, बुद्धि अपना यह कार्य सुचारु रूप से करने के स्थान पर स्वयं अपूर्ण और दूषित रहती है तथा मिथ्या निरीक्षण, मिथ्या कल्पना, मिथ्या निर्णय, मिथ्या निगमन, आगमन तथा अनुमान के द्वारा मन में विकल्प उत्पन्न करती है। बुद्धि की स्वतंत्रता, शुद्धि तथा सुचारु ढंग से कार्य करने के लिए चित्त की शुद्धि आवश्यक है।

अभ्यास द्वारा ज्ञानेंद्रियों के कार्य में उन्नति—श्री अरविंद के विचार में बालक ज्ञानेंद्रियों द्वारा इस कारण भी ज्ञान अर्जित नहीं कर पाता क्योंकि वह अपनी ज्ञानेंद्रियों को ठीक-ठीक

उपयोग करने का अभ्यस्त नहीं होता। वह विभिन्न ज्ञानेंद्रियों द्वारा विभिन्न संवेदनाओं को जो मस्तिष्क तक पहुँचना चाहती हैं, पर्याप्त ध्यान न देने के कारण ग्रहण नहीं कर पाता। ज्ञानेंद्रियों की यह तामसिक वृत्ति बुद्धि के ध्यान न देने के कारण होती है। अतः बालक को दृश्यों, आवाज़ों आदि को पकड़ने, पहिचानने, उनकी प्रकृति एवं तत्व तथा उद्गम की पहिचान करने और उन्हें चित्त में स्थिर करने का अभ्यस्त होना चाहिए ताकि आवश्यकता पड़ने पर वह स्मृति द्वारा उनका ठीक-ठीक पुनरावर्तन कर सके।

श्री अरविंद कहते हैं कि विभिन्न प्रयोगों के आधार पर यह प्रमाणित हो चुका है कि ज्ञानेंद्रियों और स्मृति के ठीक-ठीक उपयोग के अभाव के कारण बालक की प्रत्यक्षीकरण (Observation) की शक्ति पूर्णरूप से विकसित नहीं हो पाती। यदि बारह व्यक्तियों से यह कहा जाय कि दो घंटे पहले जो घटना घटी थी उसका विवरण लिखो तो बारहों का वर्णन एक दूसरे से भिन्न होगा और साथ ही वास्तविक घटना से भी भिन्न होगा। अतः बालक के प्रत्यक्षीकरण की इस अपूर्णता को दूर करना चाहिए। इस सुधार का प्रथम उपाय है ज्ञानेंद्रियों के इस प्रकार का प्रशिक्षण जिससे वे अपना कार्य ठीक-ठीक कर सकें; और ज्ञानेंद्रियाँ यह काम भली भाँति कर सकती हैं यदि उन्हें यह ज्ञात हो कि बुद्धि अपना कार्य सुचारु रूप से करने के लिए उनपर निर्भर है। द्वितीय, बालक को चाहिए कि वह ध्यान देकर तथ्यों को क्रमबद्ध करके अपनी स्मृति में संचित करे।

ज्ञानार्जन की क्रिया में ध्यान या अवधान (Attention) का, जैसा हमने अभी देखा, बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। ठीक-ठीक स्मरण करने और तथ्यों का ठीक-ठीक निरूपण करने से लिए अवधान की सर्वप्रथम आवश्यकता पड़ती है। बालक को अनुशासन में रखने के लिए पहली आवश्यक चीज़ यह है कि बालक जो कार्य कर रहा है उस पर ध्यान दे। ऐसा तभी संभव है जब उसके ध्यान केन्द्रित करने का विषय रुचिकर हो। एक वस्तु पर ध्यान केन्द्रित करना ही एकाग्रता (Concentration) कहलाता है। इस संबंध में भी एक तथ्य की सदा उपेक्षा की जाती है और वह यह है कि कभी-कभी कई चीज़ों पर ध्यान केन्द्रित करना अनिवार्य हो जाता है। अतः साधारणतया जब लोग ध्यान केन्द्रित करने की बात करते हैं तो उससे उनका तात्पर्य एक समय में एक वस्तु पर ही ध्यान केन्द्रित करना ही होता है, परंतु दो चीज़ों, तीन चीज़ों तथा कई चीज़ों पर भी ध्यान एक साथ केन्द्रित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, जब कोई घटना होती है तब उसमें एक साथ ही कई कार्य हो रहे होते हैं; वह कई समकालिक व्यापारों का समुदाय होता है जो एक क्षण में एक ही साथ घटित होते हैं, जैसे—एक दृश्य, एक आवाज़ और एक स्पर्श; या कई दृश्य, कई आवाज़ें और कई स्पर्श। अधिकतर एक व्यक्ति का मन एक चीज़ पर ज़्यादा ध्यान देता है और बाक़ी पर धुंधला ध्यान, अतः वह घटना

का पूरा विवरण ठीक-ठीक नहीं दे पाता। श्री अरविंद कहते हैं कि यदि बालक को निरंतर अभ्यास कराया जाय तो वह अपने ध्यान को एक समय में घटित होने वाली घटना के विभिन्न पक्षों पर बराबर बांट सकता है।

इस संबंध में यह भी वांछनीय होगा कि हाथ बालक की आँख की सहायता करे, अर्थात् बालक जो आँख से देखता है उसकी हाथ से नक़ल करने से उसको सम्यक् प्रत्यक्षीकरण में सहायता मिलती है क्योंकि ऐसा करने से उसे अपने अपूर्ण प्रत्यक्षीकरण का पता चल जाता है और वह तथ्यों को ठीक-ठीक देखने तथा देखे हुए को ठीक-ठीक निरूपण करने का अभ्यस्त हो जाता है। अतः चित्रण-कला का यही प्रथम सदुपयोग है और इसी कारण चित्रण-कला का विषय ज्ञानेंद्रियों के प्रशिक्षण का अभिन्न अंग होना चाहिए।

मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण—श्री अरविंद विद्यार्थी की मानसिक शक्तियों के प्रशिक्षण पर बल देते हैं। सर्वप्रथम विद्यार्थी की निरीक्षणशक्ति का प्रशिक्षण होना चाहिए। प्रायः बालक अपने वातावरण में बहुत सी चीज़ों को देखते ही नहीं हैं। यहाँ तक कि जो चीज़ें उन्हें दिखाई पड़ती हैं उन्हें भी पूरी तरह से नहीं देखते। इसका कारण है कि वे वस्तुओं को सामान्य दृष्टि से देखते हैं अर्थात् कम ध्यान से देखते हैं और परिणाम यह होता है कि वह उन वस्तुओं को उनके पूर्णरूप में न देखकर अधूरे रूप में देखते हैं। किसी स्थान, रूप या गुण के विषय में, ध्यान पूर्वक देखने से ही उसकी जानकारी प्राप्त की जा सकती है। मुख्य तीन ज्ञानेंद्रियों—आँख, कान, नाक द्वारा प्राप्त ज्ञान के अतिरिक्त स्पर्श और स्वाद के द्वारा भी वस्तुओं के विषय में उनकी प्रवृत्ति तथा गुण के बारे में बहुत कुछ ज्ञात हो जाता है। जो छठी ज्ञानेंद्रिय—मन—का प्रयोग करते हैं, जैसे कवि, कलाकार और योगी वह वस्तुओं के बारे में और भी सूक्ष्म तथ्य ग्रहण करते हैं जो साधारण निरीक्षक के लिए संभव नहीं। वैज्ञानिक, अपनी छानबीन के आधार पर ऐसे तथ्यों को खोजता और निश्चित करता है जो सूक्ष्मतर निरीक्षण पर आधारित हैं। ये सब क्रियाएँ निरीक्षण के ही अंतर्गत आती हैं और इनका आधार अवधान अथवा ध्यान है। यह व्यक्ति पर निर्भर है कि वह केवल निकटस्थ ध्यान से वस्तुओं का निरीक्षण करता है और तथ्यों को ग्रहण करता है या निकटस्थ एवं सूक्ष्म ध्यान से। जिस व्यक्ति की ग्रहणशीलता सात्विक है और जिसका ध्यान एकाग्र होता है वह सामान्य निरीक्षण से भी वस्तु के विषय में पर्याप्त जानकारी प्राप्त कर लेता है। अतः आधारभूत आवश्यकता इस बात की है कि बालक को अपना ध्यान एकाग्र करने की प्रशिक्षा दी जाय। यह प्रशिक्षा किसी बोझिल कार्य के रूप में न होकर रुचिकर ढंग से होनी चाहिए। यहाँ एक फूल का उदाहरण लें। बालक को एक फूल की ओर केवल सामान्य दृष्टि से देखने की अपेक्षा, यह अच्छा होगा कि उसे फूल को जानने, उसका ठीक ठीक रंग, रूप, गंध, आदि मन में स्थिर करने के लिए प्रेरित किया जाय। इसके उपरांत फूल को तोड़

कर उसके ढाँचे का ठीक ठीक निरीक्षण करने की ओर उसका ध्यान आकर्षित किया जाय। शिक्षक को चाहिए कि वह बालक से विचारोत्तेजक प्रश्नों के आधार पर, जो बालक की योग्यता के अनुकूल हों, उसे चीज़ों को जानने, उनकी छानबीन करने की ओर इस प्रकार प्रेरित करे जिससे बालक अनजाने ही उन्हें पूर्णरूप से जान ले।

इसी प्रकार स्मरण और निर्णय करने की शक्तियों का विकास भी अचेतन रूप में होना चाहिए। एक बात की बार-बार आवृत्ति करना, स्मृति के प्रशिक्षण का यांत्रिक और अबौद्धिक ढंग है। उससे अच्छी विधि यह है कि बालक सादृश्यता और विभेद के पहचानने का अभ्यास करे। उदाहरण के लिए, बालक को विभिन्न फूलों में समानता और विभेद को पहचानने के लिए अग्रसर करना चाहिए। ऐसा अभ्यास करने से न केवल स्मृति का प्रशिक्षण होता है, वरन् समानता और विषमता को जाँचने वाली बौद्धिक शक्ति का भी विकास होता है। इस प्रकार बालक निरीक्षण करने का उपयुक्त ढंग ग्रहण करता है। श्री अरविंद बालक को तथ्यों के रटाने के पक्ष में नहीं हैं। वह मस्तिष्क को नाम, शुष्क विषय तथा सूचना-संग्रहों से संकुल नहीं बनाना चाहते। रटने की क्रिया स्वाभाविक नहीं है और एक स्वस्थ मस्तिष्क वाले बालक के लिए रटना रुचिकर भी नहीं है। रुचिकर निरीक्षण, तुलना, तथा भेद स्थापन द्वारा, बालक के विकासशील मस्तिष्क को यदि कुशलता पूर्वक ठीक दिशा में निर्देशित किया जाय तो बालक में वैज्ञानिक वृत्ति एवं स्वभाव का निर्माण हो सकेगा और शीघ्र ही वह वैज्ञानिक ज्ञान-संबंधी आधार तथ्यों को स्थायी रूप से ग्रहण कर लेगा। फूलों, पत्तियों, पेड़ों का रुचिकर ढंग से निरीक्षण करके, तुलनात्मक दृष्टि से देखकर बालक में वनस्पति-शास्त्र के ज्ञान की नींव डाली जा सकती है, इसी प्रकार नक्षत्रों को देखकर ज्योतिषशास्त्र, पृथ्वी, पत्थरों आदि के निरीक्षण द्वारा भूगर्भ-शास्त्र, कीड़े, मकोड़े और जन्तुओं के निरीक्षण के आधार पर जन्तु-विज्ञान की नींव डाली जा सकती है। कुछ समय बाद रुचिकर प्रयोगों के रुचिकर निरीक्षण द्वारा बिना किसी सविधिक शिक्षा के, बिना सूत्रों और पुस्तकों को ध्यान में रखे रसायन-शास्त्र का ज्ञान देना प्रारंभ किया जा सकता है। बचपन में ही विभिन्न वस्तुओं के निरीक्षण, तुलना, स्मरण तथा निर्णय की शक्तियों के प्रशिक्षण से किसी भी वैज्ञानिक विषय पर स्वाभाविक एवं पूर्ण ढंग से अधिकार हो सकता है। बालक अपनी कुमारावस्था में अवकाश के समय, इस दिशा में प्राप्त अभिरुचि को बड़ी गति के साथ बढ़ा सकता है।

बालक की निर्णय-शक्ति का प्रशिक्षण अन्य शक्तियों के प्रशिक्षण के साथ साथ स्वभावतः होता चलेगा। उदाहरण के लिए, फूलों के निरीक्षण और तुलना करते समय, बालक को समय समय पर उनके रंग, रूप, ध्वनि, सुगंध आदि के बारे में यह निर्णय करना पड़ेगा कि उनके गुण संबंधी अनेक विचार ठीक हैं या ग़लत हैं। किसी किसी अवसर पर बालक को सूक्ष्म निर्णय करने की आवश्यकता भी पड़ेगी। अतः स्वभावतः

बालक की निर्णय-शक्ति का प्रशिक्षण होता चलेगा। आरंभ में बालक के निर्णय में भूल हो सकती है, परंतु जैसे जैसे उसे बारीकियाँ निकालने का अवसर प्राप्त होगा, वह आवश्यकतानुसार उनके प्रति प्रयत्नशील होगा, अपनी भूलों को समझेगा और ठीक-ठीक निर्णय या सूक्ष्मता के साथ निर्णय कर सकेगा। सर्वोत्तम तो यह होगा कि बालक को पर्याप्त मात्रा में ऐसे अवसर प्रदान किये जायँ जब कि वह अपने निर्णय की तुलना दूसरों के निर्णय से कर सके। उसे अपनी भूलों का कारण भी मालूम होना चाहिए और यह भी ज्ञात होना चाहिए कि वह किस मात्रा में भूल करता है। जब बालक अपने निर्णय के प्रयास में सफल हो तब प्रोत्साहित करके उसके आत्मविश्वास को सुदृढ़ बनाना चाहिए।

तुलना और भेद करने से, किसी वस्तु की समताओं और विषमताओं को पहचानने से बालक में उपमान (Analogy) करने की शक्ति की वृद्धि होती है। बालक को इस शक्ति की सीमाओं और भूलों से भी परिचित करा देना चाहिए और उसकी इस शक्ति को उत्साहित करना चाहिए। इस प्रकार उसमें सही उपमान करने की आदत, जो कि ज्ञान प्राप्त करने में सहायक है, पड़ जायेगी।

तर्कशक्ति के अतिरिक्त, जिसका वर्णन आगे किया जायगा, कल्पना भी एक महत्वपूर्ण शक्ति है। इस शक्ति के कार्य मानसिक हैं—प्रतिमाओं का निर्माण, प्रत्ययों का सृजन, उपस्थित प्रत्ययों एवं प्रतिमाओं की प्रतिमाएँ बनाना, अनुकरण करना या नए रूप में ढालना, वस्तुओं की आत्मा की सराहना करना, विश्व में व्याप्त सौन्दर्य, विशालता, भावना, गुप्त संकेतशीलता (Hidden Suggestiveness) तथा आध्यात्मिक जीवन को समझना।

विभिन्न मानसिक शक्तियों के प्रशिक्षण के लिए अभ्यास पहले वस्तुओं पर तत्पश्चात् शब्दों और विचारों पर होना चाहिए। श्री अरविंद के विचार में बालक को भाषा-ज्ञान देने के संबंध में अधिकतर असावधानी से काम लिया जाता है। शब्दों के अच्छे ज्ञान के अभाव में बुद्धि की सूक्ष्म क्रियाशीलता और सत्यता में क्षीणता आ जाती है। सबसे पहले बालक को शब्दों को, उनके रूप, ध्वनि तथा अर्थ के साथ जानना चाहिए; तत्पश्चात् शब्दों के रूप की अन्य शब्दों के रूप से तुलना तथा विभेद करना सीखना चाहिए और इसी के आधार पर उसमें व्याकरण संबंधी ज्ञान की नींव रखी जा सकती है। इसी प्रकार समानार्थी शब्दों के अर्थों में सूक्ष्म भेद जानने और विभिन्न प्रकार के वाक्यों की रचना और लय (Rhythm) में भेद जानने के आधार पर बालकों में साहित्यिक एवं समन्वयात्मक शक्तियों को विकसित किया जा सकता है। यह सब अविधिक रूप से बालक की जिज्ञासा और रुचि को जाग्रत करके, और प्रचलित शिक्षण-पद्धति—जिसमें नियमों और सिद्धांतों को रटने पर बल दिया जाता है—की उपेक्षा करके, प्राप्त किया जाना चाहिए।

तर्क-शक्ति का प्रशिक्षण
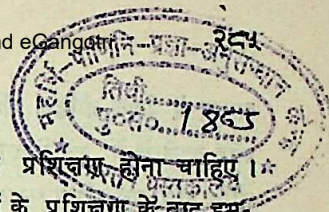
मानसिक शक्तियों के प्रशिक्षण के उपरांत तर्क-शक्ति का प्रशिक्षण होना चाहिए। तर्क-शक्ति का प्रशिक्षण आवश्यक रूप से मानसिक शक्तियों के प्रशिक्षण के बाद इसलिए होना चाहिए क्योंकि तर्क के लिए सामग्री, विचारों या तथ्यों का संग्रह यही मानसिक शक्तियाँ करती हैं। तर्क में विचारों को उलट-पुलट किया जाता है, अतः यदि हम चाहते हैं कि बालक विचारों को सफलतापूर्वक तर्कना में प्रयोग करे तो तर्कना से पूर्व शब्दों पर आधिपत्य स्थापित करने वाली शक्ति को विकसित करना चाहिए। यथार्थ विचारणा-शक्ति के विकास के बिना तर्क-शक्ति आगे नहीं बढ़ सकती है। समस्या यह है कि आरंभिक कार्यों के हो जाने के बाद बालक को ठीक-ठीक सोचने के लिए किस प्रकार शिक्षा दी जाय क्योंकि बिना पूर्व-पक्ष के युक्तियुक्त तर्क करना कठिन है। तर्क या तो तथ्यों से अनुमान करके निष्कर्ष निकालता है या पहले से निकाले हुए निष्कर्षों से नये अनुमान करता है या एक तथ्य से दूसरे तथ्य के संबंध में अनुमान करता है अथवा केवल अनुमान करता है।

उचित तर्क के लिए तीन तत्त्व अनिवार्य हैं :—(१) तथ्य या निष्कर्ष जिससे तर्क का आरंभ होता है, सही होने चाहिए, (२) संग्रहित सामग्री (Data) पूर्ण और निश्चित होनी चाहिए तथा (३) उसी तथ्य से निकलने वाले अन्य संभव या असंभव निष्कर्षों को पृथक् करना चाहिए। सावधानी तथा तीक्ष्ण बुद्धि से काम लेने पर तर्क की त्रुटियों को दूर किया जा सकता है।

तर्क-शक्ति को सामान्यतः पुस्तकीय ज्ञान तथा तर्क-विज्ञान की शिक्षा द्वारा प्रशिक्षित किया जाता है। पहले सिद्धांतों तथा सविधिक ज्ञान के द्वारा शिक्षा देकर बाद में उदाहरण दिये जाते हैं। किंतु पाठनपद्धति इसके विपरीत होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त बालकों को स्वयं तर्क-क्रिया तथा उसके दोषों का निरीक्षण अपने अनुभव द्वारा प्राप्त करने देना चाहिए।

बालक के मन को कारणों तथा प्रभावों की खोज करना तथा तथ्यों से अनुमान करने की ओर प्रवृत्त करना चाहिए। सही निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए, उसके मार्ग में आने वाली सभी बाधाओं का अनुभव उसे होने देना चाहिए। तभी बालक सही ढंग से तर्क करने का अभ्यासी होगा और उसकी तर्कना में दोष आने की संभावना नहीं रहेगी। जब बालक इस कला से पूर्णतया परिचित हो जायेगा तभी वह सविधिक तर्क का व्यवस्थित अध्ययन शीघ्रता से कर सकेगा।

नैतिक तथा धार्मिक शिक्षा

श्री अरविंद आधुनिक स्कूलों और कालेजों की शिक्षा में नैतिक और धार्मिक शिक्षा के अभाव से दुखी थे। उनके विचार में नैतिक एवं संवेगात्मक प्रकृति की पूर्णता के

अभाव में केवल बौद्धिक प्रशिक्षण, मानव-प्रगति के लिए अहितकर है। यदि कुछ स्कूलों और कालेजों में यह शिक्षा दी भी जाती है तो वह ग़लत ढंग से दी जाती है। कारण, नीति और धर्म-संबंधी पुस्तकें पढ़ाकर बालकों को नीतिवान और धार्मिक बनाने का विचार भ्रमपूर्ण है क्योंकि मस्तिष्क हृदय का स्थान कभी नहीं ले सकता है, और यह आवश्यक भी नहीं है कि मस्तिष्क को शिक्षित करने से हृदय का भी सुधार हो। श्री अरविंद स्वीकार करते हैं कि यह कहना भूल होगा कि पुस्तकीय शिक्षा का हृदय पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। वस्तुतः पुस्तकों द्वारा दी जाने वाली धार्मिक और मानसिक शिक्षा अंतःकरण में कुछ विचारों को बीजरूप में डाल देती है और यदि ये विचार स्वभाव के अंग बन जाते हैं तो चरित्र को भी प्रभावित करते हैं। नीति-संबंधी पाठ्य-पुस्तकों के पढ़ने में डर यह रहता है कि वे उच्च वस्तुओं के विषय में विचार करने की क्रिया को यांत्रिक और कृत्रिम बना देती हैं और जो भी क्रिया यांत्रिक और कृत्रिम होती है वह 'शिवं' की ओर क्रियाशील नहीं होती।

श्री अरविंद योरोपीय नैतिक अनुशासन की भर्त्सना करते हैं क्योंकि वह दिखावटी और प्रवंचनापूर्ण है। इसके द्वारा बालक घर और विद्यालय के नैतिक शिष्टाचार के अनुसार अपने को बना तो लेता है और आगे चलकर समाज के अन्य अनुशासनों का भी पालन करता है, परंतु वह अपने आंतरिक एवं निजी जीवन को अपनी रुचि के अनुसार स्वतंत्र रूप में निर्देशित करने के लिए अपने को पूर्ण स्वच्छंद समझता है। जाति के हितार्थ और उसे नैतिक भ्रष्टाचार के दोषों से बचाने के लिए, नैतिक एवं धार्मिक शिक्षा को हमारी राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति का अभिन्न अंग होना चाहिए। युगों प्राचीन वर्णाश्रम-धर्म पर आधारित श्रेष्ठ नैतिक चरित्र का उच्चादर्श हमारे नवयुवकों के जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। इस वर्णाश्रम-धर्म के अनुसार प्रत्येक वर्ण के अपने-अपने कर्त्तव्य थे : ज्ञान पिपासा, आत्मभक्ति, पवित्रता तथा त्याग ब्राह्मणों का; साहस, सम्मान, सज्जनता वीरता और देशभक्ति क्षत्रियों का; परोपकारिता, कौशल, हस्तकला, अपने व्यवसाय में में उदारता वैश्यों का; आत्मत्याग तथा प्रेमपूर्वक सेवा शूद्रों का—यही आर्यों के गुण थे।

पाश्चात्य सभ्यता की प्रवंचना से बचने के लिए इस प्रकार के नैतिक गुणों को आंतरिक अनुशासन (Inner discipline) द्वारा ग्रहण करना चाहिए। आंतरिक अनुशासन के लिए सम्यक् संवेगों, सत्संग, उत्तम मानसिक, संवेगात्मक एवं शारीरिक आदतों का अभ्यस्त होना होगा; अपनी मूलप्रवृत्ति के स्वाभाविक आवेगों को उचित कार्यों में प्रयुक्त करना होगा।

नैतिक अनुशासन के संबंध में श्री अरविंद ने पाश्चात्य जगत में छात्रावास-युक्त इंगलिश स्कूलों में व्यवहृत आदर्शवाद की प्रभावपेक्षण की प्रणाली† का ज़िक्र

† The Idealist Method of Impression

किया है जिसमें शिक्षक ही बालकों का नैतिक निर्देशक और आदर्श होता है। श्री अरविंद ने इस प्रणाली को प्रशंसा की है, यद्यपि इस प्रणाली में गुण के साथ कुछ दोष भी हैं। इस प्रणाली में बाहरी अनुशासन पर ही अधिक ज़ोर दिया जाता है। बालक की भय की प्रवृत्ति का सहारा लिया जाता है और भय द्वारा वह अनुशासित रहता है, अतः लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है। उनके विचार में, वास्तव में प्रभाव डालने की इस प्रणाली का सर्वोत्तम प्रयोग हमारे प्राचीन गुरुओं द्वारा हुआ है क्योंकि वे अपने पूर्णज्ञान तथा पवित्रता के कारण शिष्यों के सम्मान-पात्र होते थे और शिष्य उनके आज्ञापालक होते थे। श्री अरविंद परामर्श देते हैं कि "क्योंकि इस प्राचीन पद्धति को पुनरुज्जीवित करना कठिन है, अतः योरोपीय पद्धति की किराये की पुलिस की भाँति व्यवहार करने वाले अध्यापकों के स्थान पर मित्र, सहायक, और निर्देशक अध्यापकों को प्रतिष्ठित करना चाहिए।"‡

नैतिक शिक्षा देने में भी, शिक्षक को वही विधि अपनानी चाहिए जो मानसिक शिक्षा देने में अपनायी जाती है अर्थात् बालक को ऐसा मार्ग दिखाना चाहिए जिससे वह पूर्णता को ओर अग्रसर हो। यह कार्य सुझाव द्वारा किया जा सकता है। सुझाव का सबसे सुंदर ढंग है, बालकों के सम्मुख व्यक्तिगत आदर्श उपस्थित करना। प्रतिदिन के वार्त्तालाप तथा नित्य पढ़ी जाने वाली पुस्तकों द्वारा भी बालक को निर्देश दिया जा सकता है। ये पुस्तकें बालकों के मानसिक स्तर के अनुकूल होनी चाहिए। इनमें प्राचीन वीरों की कहानियाँ रुचिकर ढंग से लिखी होनी चाहिए। हाँ, यह कहनियाँ उपदेश के रूप में नहीं होनी चाहिए क्योंकि बालकों के हृदय पर उपदेशों का प्रभाव नहीं पड़ता है। इसका कारण यह है कि इस समय वे अपने जीवन के रोमांटिक (स्वच्छंद) काल से गुज़र रहे होते हैं। बड़े बालकों या किशोरों की पुस्तकों में. महान् पुरुषों के महान् विचार होने चाहिए, साहित्य के वे अंश होने चाहिए जो उनकी उच्च भावनाओं को उद्दीप्त कर सकें, उच्च आदर्श और आकांक्षाओं को प्रेरित कर सकें; इतिहास की घटनाएँ तथा ऐसी जीवनियाँ होनी चाहिए जो इन उच्च विचारों और श्रेष्ठ भावनाओं और प्रेरणात्मक आदर्शों के सजीव उदाहरण हों। जब अध्यापक और विद्यार्थी अध्ययन में इस प्रकार साथ-साथ भाग लेते हैं तो इस सत्संग का गंभीर प्रभाव बालक पर पड़ सकता है। शिक्षक इस बात का ध्यान रखे कि वह वाक्-उपदेश की प्रणाली न अपनाये बल्कि स्वयं आदर्शों का प्रतिरूप हो। इस प्रकार विद्यार्थी जिन उच्च विचारों को ग्रहण करता है उनसे उसमें शक्तिशाली संवेग अथवा भाव उत्पन्न होते हैं। इन भावों को, यदि बालक को एक सीमित क्षेत्र में ही कार्यरूप में परिणत करने का अवसर प्राप्त हो, तो उन्हें सफल व्यावहारिक रूप दिया जा सकता है। अतः प्रत्येक विद्यार्थी को व्यावहारिक अवसर तथा बौद्धिक प्रोत्साहन मिलना चाहिए

‡ Sri Aurobindo : A System of National Education, p. 17

ज़िससे वह अपने भीतर निहित गुणों को आर्य परंपरा के अनुसार विकसित कर सके। यह शिक्षक के कार्यों का सकारात्मक पक्ष है।

किंतु यदि बालक में शारीरिक या मानसिक दुर्गुण दुःस्वभाव या कुसंस्कार हैं तो उसके साथ कठोर व्यवहार करना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ग़लत है। उसे पापी भी घोषित नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से, सुधरने के स्थान पर उत्तरोत्तर उसके बिगड़ते जाने की संभावना है। ऐसे लड़कों को यह सुझाव देना अच्छा है कि वे रोगी हैं, उनके दोष बीमारी के लक्षणमात्र हैं और उनका रोग राजयोग की पद्धति जिसमें सयंम, अस्वीकार स्थानापन्न आदि, को क्रियाएँ सम्मिलित हैं, से दूर हो सकता है। उन्हें यह समझाना चाहिए कि जब उनके मन में असत्य या बुरे भाव उठते हों तब उन्हें अपनी इच्छाशक्ति को बलवती बनाना चाहिए तथा असत्य के स्थान पर मन में सत्य, भय के स्थान पर साहस, स्वार्थ के स्थान पर त्याग एवं बलिदान तथा घृणा के स्थान पर प्रेम को जाग्रत करना चाहिए। ऐसे बालकों के संबंध में "विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है कि कहीं उनके अविकसित गुण दोष मान कर अस्वीकृत न कर दिये जायँ। बहुत से बालकों में शक्ति, महानता, और सज्जनता के अतिरेक के कारण वन्यता और असावधानी आ जाती है। है। उनका संस्कार करना चाहिए, न कि उन्हें निरुत्साहित करना चाहिए।"‡

धार्मिक शिक्षा के संबंध में भी श्री अरविंद योरोपीय पद्धति का अनुसरण करने के पक्षपाती नहीं हैं। योरोपीय पद्धति के अनुसार बालकों को केवल धार्मिक सिद्धांतों की शिक्षा देकर उन्हें पवित्र और नैतिक बनाया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि या तो बालक उन्हें यांत्रिक रूप में स्वीकार कर लेता है जिसका प्रभाव उसके आंतरिक जीवन पर नहीं पड़ता है और यदि बाह्य जीवन पर पड़ता भी है तो बहुत कम, अथवा बालक रुढ़िवादी, हठधर्मी, अतिधर्मवादी तथा पाखंडी बन जाता है। 'धर्म जीवन में, व्यवहार में व्यवहृत करने की वस्तु है, मत के रूप में सीखने की वस्तु नहीं है।'

कोई भी धार्मिक शिक्षा तब तक लाभदायक नहीं होती जब तक कि उसे जीवन में व्यवहृत न किया जाय। विभिन्न प्रकार की साधनाएँ, आध्यात्मिक आत्म-प्रशिक्षण तथा प्रयोग धार्मिक जीवन के लिए तैयार करने के शक्तिशाली साधन हैं। प्रार्थना, उपासना और उत्सव आदि की व्यवस्था बहुत से व्यक्तियों को धार्मिक जीवन के लिये तैयार करने के लिए आवश्यक हैं, पर यदि वे इन्हें साधन मानें, साध्य नहीं तो साधन के रूप में ये आध्यात्मिक उन्नति में सहायता करती हैं। यदि इस प्रकार के धार्मिक कृत्यों को रोक भी दिया जाय तो इनके स्थान पर, किसी दूसरे प्रकार का ध्यान, भक्ति या धार्मिक कर्त्तव्य आदि की व्यवस्था की जानी चाहिए। यदि ऐसा संभव न हो तो अच्छा यह होगा कि धार्मिक शिक्षा न दी जाय।

‡ Ibid, p 20

धर्म-विशेष की शिक्षा विद्यालय में दी जाती हो या नहीं, परंतु प्रत्येक राष्ट्रीय कहे जाने वाले विद्यालय में धर्म के वास्तविक सार की शिक्षा अवश्य दी जानी चाहिए। यह वास्तविक सार प्रत्येक बालक के समक्ष यह आदर्श उपस्थित करता है कि वह ईश्वर के लिए जीवन व्यतीत करे, मानवता, देश तथा अन्य प्राणियों के लिए जीवित रहे तथा दूसरों में अपनी आत्मा की प्राप्ति के लिए जीवित रहे।

यही हिन्दुत्व की वह भावना है जिसे भारतीय विषयों, भारतीय शिक्षण-पद्धति एवं भारतीय विचारधारा और धार्मिक ग्रंथों की प्रत्यक्ष शिक्षा की अपेक्षा, पूर्णरूप से राष्ट्रीय स्कूलों में व्याप्त होनी चाहिए। इसी भावना के आधार पर राष्ट्रीय स्कूल अन्य स्कूलों की तुलना में अपनी विशिष्टता सिद्ध कर सकते हैं।

शिक्षा-दर्शन पर आधारित शिक्षा-संस्थाएँ

श्री अरविंद-आश्रम, पांडीचेरी

श्री अरविंद-आश्रम आज जिस विकसित रूप में है, उसका विकास धीरे-धीरे हुआ है। सबसे पहले जब श्री अरविंद ४ अप्रैल, सन् १९१० ई० में पांडीचेरी आये तभी अपने विचारों को क्रियान्वित करने के लिए उन्होंने आश्रम की स्थापना की। आरंभ में इसके सदस्यों की संख्या कम थी। इनके योग से प्रभावित होकर, साधना के लिए क्रमशः अधिकाधिक साधक बाहर से आने लगे। सन् १९२० ई० में फ्रांसीसी महिला मीरा रिचर्ड ने अरविंद-दर्शन से प्रभावित होकर आश्रम की सदस्यता स्वीकार की। मीरा रिचर्ड (जो अब माताजी के नाम से सर्वविदित हैं) के आने पर आश्रम के सदस्यों की संख्या धीरे धीरे इतनी बढ़ गई कि कई मकान किराये पर लिए गये और साधकों के स्वास्थ्य एवं निवासादि की सुविधा के लिए पूर्ण रूप से व्यवस्था की गयी। सन् १९२६ ई० में, श्री अरविंद ने आश्रम की सारी व्यवस्था माताजी के हाथों में सौंप दी और स्वयं योगाभ्यास में पूर्णतया निमग्न हो गए।

माताजी ने बड़ी पटुता और त्याग के साथ आश्रम की व्यवस्था की। फलः स्वरूप साधकों की संख्या बढ़ती गयी और आज लगभग ८०० साधक आश्रम में निवास करते हैं। आश्रम की यह विशेषता है कि इसकी व्यवस्था प्राचीन वेद, उपनिषद् तथा महाभारत के काल के आश्रमों के अनुरूप हुई है। आजकल आश्रम का अर्थ उस स्थान से लिया जाता है जहाँ तपस्या की जाती है। परंतु प्राचीन काल में आश्रम की यह रूपरेखा नहीं मानी जाती थी। आश्रम गुरु का घर था, जहाँ भिन्न अवस्था के विद्यार्थी, भिन्न-भिन्न प्रकार के ज्ञानार्जन के निमित्त आकर रहते थे। गुरु पिता का स्थान ग्रहण करता था, उन्हें ज्ञान प्रदान करता और अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार उन्हें जीविका चयन में सहायता देता था। गुरु गृह-क्रियाओं और जीवन से पूर्ण था। अरविंद-आश्रम प्राचीन काल के वशिष्ठ और कण्व के आश्रम की भाँति ही है परंतु आधुनिक युग की परिस्थितियों से

समायोजित है। आश्रम में सब व्यक्ति बिना किसी प्रकार के भेद भाव के प्रवेश पा सकते हैं किंतु एक नियंत्रण अवश्य है कि प्रवेश-प्रार्थी में योग साधना की बलवती इच्छा अवश्य होनी चाहिए। आश्रम में आध्यात्मिक चिंतन पर विशेष बल दिया जाता है। वहाँ साधक मनसा, वाचा और कर्मणा अपने को पवित्र बनाने का प्रयत्न करते हैं। परंतु इसके साथ ही जीवन की यथार्थता की भी उपेक्षा नहीं करते। ध्यान, एकाग्रता, कार्य और सेवा यह चार साधन हैं जिनके आधार पर साधक उच्च उद्देश्य की प्राप्ति के निमित्त साधना मार्ग पर अग्रसर होता है। माताजी प्रत्येक साधक का व्यक्तिगत रूप से मार्गनिर्देशन करती हैं। कार्य और सेवा साधना के ही अंग हैं।

आश्रम में साधकों का बड़ा ही संगठित एवं सुव्यवस्थित जीवन है। आश्रम अपने साधकों की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त स्वयं-पूर्ण है। आश्रम में अपनी दुग्धशाला, भोजनालय, चिकित्सालय, सिलाई-गृह, इंजीनियरिंग कारखाना, प्रेस, वाचनालय, प्रकाशन आदि विभागों की व्यवस्था है। सभी विभागों में, सब कार्यों में साधक भाग लेते हैं। सभी कार्य सम्मानित माने जाते हैं, उनमें बड़े छोटे का भेद नहीं है। 'कार्य चाहे, कोई भी हो, परंतु वह किया किस भावना से जाता है,' यही आश्रम में क्रिया का मानदण्ड है क्योंकि व्यक्ति की भावना ही उसके कार्य को साधना का सफल या असफल अंग बनाती है। साधकों के साथ ही आश्रम में वेतन प्राप्त सेवकों की संख्या कई सौ है जो आश्रम का काम करते हैं। किंतु इनके साथ भी सेवकों जैसा व्यवहार नहीं होता है और उनकी आवश्यकताओं एवं सुविधाओं की भी पूरी चिंता की जाती है।

अरविंद-आश्रम का मुख्य उद्देश्य है मानवीय प्रेम का विकास करना। अतः आश्रम के सभी सदस्य देश-जाति-धर्म आदि की संकीर्ण भावनाओं से मुक्त होकर जीवनयापन कर हैं। आश्रम एक ऐसी संगम भूमि है जिसमें विभिन्न देशों, जातियों, धर्मों और संस्कृतियों के साधकों का मिलन हुआ है और जो अपनी सांस्कृतिक विशिष्टताओं तथा भावी मानव की नव-संस्कृति के विकास के लिए प्रयत्नशील है जिसका आधार मानवीय संवेदना और प्रेम है। यहाँ के पवित्र वातावरण में विभिन्न संस्कृतियों के तात्विक एवं सूक्ष्म समन्वय की ऐसी प्रक्रिया चल रही है जिसका मनुष्य की नव-संस्कृति के निर्माण में निर्णायक भाग होगा। आश्रम में सबको, सब प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त है, परन्तु यह स्वतंत्रता आध्यात्मिक अनुशासन द्वारा नियंत्रित रहती है।

श्री अरविंद अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय

आश्रम की महत्वपूर्ण संस्था श्री अरविंद अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय है। श्री अरविंद ने सन् १९४३ ई० में आश्रम के बालकों की शिक्षा की व्यवस्था के लिए एक स्कूल की स्थापना की थी। आरंभ में इस स्कूल में २२ छात्र थे परंतु अब लगभग ३०० छात्र हैं। यही स्कूल आज एक अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हो गया है।

यह स्कूल जूनियर तथा माध्यमिक भागों में विभाजित है। माध्यमिक शिक्षा का स्तर देश में प्रचलित मैट्रिक तथा फ्रांस के वैकालौरियट के समकक्ष है। इसके पाठ्यक्रम में भाषा, भूगोल, इतिहास, विज्ञान आदि सभी आधुनिक विषय रखे गये हैं। प्रयोग करने के लिए वहाँ आधुनिक सुविधाओं से संपन्न प्रयोगशाला है। प्रत्येक विद्यार्थी को अपनी रुचि के अनुसार विशेष विषय के अध्ययन की स्वतंत्रता है। उदाहरण के लिए, एक ही बालक इतिहास के लिए चौथी कक्षा में बैठ सकता है और गणित के लिए दूसरी कक्षा में। कहने का तात्पर्य है कि एक विषय में बालक की कमज़ोरी उसे अन्य विषयों में प्रगति करने से नहीं रोकती है। बालकों को, आज के शिक्षाविदों की विचारधारा के विपरीत, आश्रम में अनेक भाषाएँ सीखने की सुविधा है और यह देखा गया है कि बालकों में एक ही समय में आरंभ में कई भाषाएँ सीखने की क्षमता है। उदाहरण के लिए, एक बालक अंग्रेज़ी, फ्रेंच, हिन्दी, अपनी मातृभाषा बंगाली तथा स्थानीय भाषा तामिल का ज्ञान बिना कठिनाई के प्राप्त कर लेता है। बालकों को पाठ्यक्रमेतर विषय—फ़ोटोग्राफ़ी, चित्रकारी, आश्रम के विभिन्न विभागों में हस्तकलाएँ आदि सीखने के लिए प्रोत्साहना प्रदान की जाती है। वार्षिक परीक्षा-पद्धति के स्थान पर यहाँ छात्रों की परीक्षा मासिक होती है और अध्यापक भी छात्रों के विषय में रिपोर्ट देते हैं। इसी मासिक परीक्षा तथा अध्यापकों की रिपोर्ट के आधार पर छात्रों को उत्तीर्ण किया जाता है।

मानसिक शिक्षा के साथ ही बालकों को शारीरिक शिक्षा भी दी जाती है। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए यहाँ खेल कूद, व्यायाम, जिमनास्टिक आदि की व्यवस्था है। मानसिक और शारीरिक, दोनों प्रकार की शिक्षा आध्यात्मिक लक्ष्य की पूर्ति के निमित्त एवं उसी के द्वारा प्रेरित हैं। मुख्य बात यह है कि बालकों को न तो आध्यात्मिक जीवन के सत्य सिखाने की कोशिश की जाती है, न योग, न नैतिक सिद्धांत। वे इन चीज़ों को वातावरण से ग्रहण कर लेते हैं और बिना किसी बाहरी भय के या परमात्मा के भय से वे स्वभावतः अकृत्रिम रूप में आध्यात्मिकता के प्रति प्रतिक्रिया करते हैं। यहाँ अध्यापक पर्याप्त मात्रा में हैं और उन्हें वेतन नहीं दिया जाता है वरन् उनके दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति आश्रम करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय में भी, आश्रम की भाँति किसी प्रकार का भेदभाव नहीं है और किसी भी देश, जाति, राष्ट्र, धर्म, भाषा, और संस्कृति का छात्र यहाँ प्रविष्ट हो सकता है। यहाँ शिक्षा निःशुल्क दी जाती है। अभिभावकों और छात्रों को केवल अपने रहन-सहन तथा व्यक्तिगत व्यय का भार उठाना पड़ता है।

विश्वविद्यालय केन्द्र का उद्देश्य अरविंद-दर्शन के आधार पर छात्रों को पूर्ण शिक्षा (Integral Education) के सिद्धांतों से परिचित कराना तथा उसी आधार पर उन्हें शिक्षित करना है। यहाँ सभी प्रकार की शिक्षा—मानवतावादी विषयों और वैज्ञानिक विषयों की—सैद्धांतिक और व्यावहारिक रूप में दी जाती है। यहाँ मनोविज्ञान,

भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन, विश्व-सामंजस्य (World-Integration) आदि विषयों की शिक्षा मुख्यरूप से दी जाती है। इनके साथ ही सामाजिक विषय एवं गणित को भी पाठ्यक्रम में स्थान दिया गया है। अपनी रुचि के अनुसार विद्यार्थी किसी भी क्षेत्र का अध्ययन कर सकता है। जिन विद्यार्थियों को आध्यात्मिक अनुशासन की व्यावहारिक प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है उन्हें उसकी भी सुविधा प्रदान की जाती है। शिक्षा का माध्यम विद्यार्थी की मातृभाषा रहती है। परंतु सब शिक्षा का आधार आध्यात्मिक है। इसी आध्यात्मिकता के आधार पर श्री अरविंद इस संसार में मानव एकता स्थापित करना चाहते हैं। अतः यह स्मरण रखने की बात है कि आश्रम की शिक्षा का आधार किसी भी रूप में व्यावसायिक नहीं है क्योंकि माताजी का कहना है कि 'मैं शिक्षा को बेचूंगी नहीं।'

श्री अरविंद अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय अपने ढंग की सर्वथा नवीन शिक्षा-संस्था है जहाँ शिक्षा के क्षेत्र में नूतन प्रयोग हो रहे हैं। यह पौरस्त्य और पाश्चात्य विचार-धाराओं का समन्वय-केन्द्र है।

सहायक साहित्य

श्री अरविंद

1. *The Life Divine*
2. *The Ideal of Human Unity*
3. *The Synthesis of Yoga*
4. *The Ideal of the Karmayogin*
5. *The Human Cycle*
6. *The Brain of India*
7. *The Renaissance in India*
8. *The National Value of Art*
9. *A System of National Education*
10. *The Message and Mission of Indian Culture*
11. *On the Veda*
12. *On Education*
13. *Essays on the Gita, First Series*
14. *Essays on the Gita, Second Series*

अन्य लेखक

1. S. K. Maitra : *Studies in Sri Aurobindo's Philasophy*
2. *Sri Aurobindo Mandir, Second Annual, Jayanti Number, 15th Aug 1943*

परिशिष्ट

आठ प्रमाण सविस्तार निम्नरूप में हैं :—

१. प्रत्यक्ष—जो प्रसिद्ध शब्दादि पदार्थों के साथ श्रोत्रादि इन्द्रिय और मन के निकट-संबंध से ज्ञान होता है, उसको 'प्रत्यक्ष' कहते हैं ।

२. अनुमान—किसी पूर्व दृष्ट पदार्थ के एक अंग को प्रत्यक्ष देखकर, पश्चात् उसके अदृष्ट अंगों का जिससे यथावत् ज्ञान होता है, उसको 'अनुमान' कहते हैं ।

३. उपमान—जैसे किसी ने किसी से कहा कि गाय के तुल्य नीलगाय होती है, ऐसे जो उपमा से सादृश्य ज्ञान होता है, उसको 'उपमान' कहते हैं ।

४. शब्द—जो पूर्ण प्राप्त परमेश्वर और प्राप्त मनुष्य का उपदेश है, उसी को 'शब्द प्रमाण' कहते हैं ।

५. ऐतिह्य—जो शब्द प्रमाण के अनुकूल हो, जो कि असंभव और झूठ लेख न हो, 'ऐतिह्य' (इतिहास) कहते हैं ।

६. अर्थापत्ति—जो एक बात के कहने से दूसरी बिना कहे समझी जाय, उसी को 'अर्थापत्ति' कहते हैं ।

७. संभव—जो बात प्रमाण, युक्ति और सृष्टिक्रम से युक्त हो, वह 'संभव' कहाता है ।

८. अभाव—जैसे किसी ने किसी से कहा कि तू जल ले आ । उसने वहाँ देखा कि यहाँ जल नहीं है; परंतु जहाँ जल है, वहाँ से ले आना चाहिए इस अभाव निमित्त से जो ज्ञान होता है, उसे 'अभाव' प्रमाण कहते है ।

अनुक्रमणिका

(दार्शनिकों के नाम संकेत रूप में उनके प्रथम अक्षर से किए गए हैं)